ऋग्वेदमहाभाष्यम्

(संस्कृतार्यभाषाविभूषितम्)

महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वती कृत ऋग्वेदभाष्यस्य व्याख्यानम्

प्रथमो भागः

म. म. आचार्य विश्वश्रवाः व्यासः वेदाचार्यः एम. ए.

ओं तत् सत् परब्रह्मणे नमः

ऋग्वेदमहाभाष्यम्

संस्कृतार्यभाषाविभूषितम्
(अन्वितार्थप्रदीपः)

महर्षि–
स्वामी दयानन्दसरस्वतीकृत ऋग्वेदभाष्यस्य व्याख्यानम्

प्रथमो भागः

व्याख्याता
महामहोपाध्याय–
प० शिवदत्तदाधिमथशिष्यः
महामहिमोपाध्याय
आचार्य विश्वश्रवाः व्यासः एम-ए.
वेदाचार्य साहित्याचार्य इत्यादि
भू० पू० प्रोफ़ेसर तथा रिसर्च स्कालर संस्कृत विभाग, अनुसन्धान विभाग डी० ए० वी०
कालेज लाहौर, विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीटयूट लाहौर । मेम्बर ऐग्ज़ीक्युटिव
कौंसिल बनारस संस्कृत यूनिवर्सिटी वाराणसी

तत्सहधर्मिणी टिप्पणी-सूची-स्वर संचार निर्मात्री
विद्यावारिधि (अनु०)
सुश्री श्रीमतीदेवी शास्त्री एम–ए०
वेदाचार्य (काशीप्राप्तस्वर्णपदक)

अजमेर नगरे
वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

प्रथमावृत्तिः ११०० | विक्रम सम्वत् २०३४ | मूल्यम् २५)

दयानन्दाब्द १५३
सन् १९७७

ओं तत् सत् परब्रह्मणे नमः

ऋग्वेदमहाभाष्यम्

संस्कृतार्यभाषाविभूषितम्
(अन्वितार्थप्रदीपः)

महर्षि–
स्वामी दयानन्दसरस्वतीकृत ऋग्वेदभाष्यस्य व्याख्यानम्

प्रथमो भागः

व्याख्याता
महामहोपाध्याय–
प० शिवदत्तदाधिमथशिष्यः
महामहिमोपाध्याय
आचार्य विश्वश्रवाः व्यासः एम-ए.
वेदाचार्य साहित्याचार्य इत्यादि
भू० पू० प्रोफ़ेसर तथा रिसर्च स्कालर संस्कृत विभाग, अनुसन्धान विभाग डी० ए० वी० कालेज लाहौर, विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीटयूट लाहौर। मेम्बर ऐग्ज़ीक्युटिव कौंसिल बनारस संस्कृत यूनिवर्सिटी वाराणसी

तत्सहधर्मिणी टिप्पणी-सूची-स्वर संचार निर्मात्री
विद्यावारिधि (अनु०)
सुश्री श्रीमतीदेवी शास्त्री एम–ए०
वेदाचार्य (काशीप्राप्तस्वर्णपदक)

अजमेर नगरे
वैदिकयन्त्रालये मुद्रितम्

प्रथमावृत्तिः ११०० विक्रम सम्वत् २०३४ मूल्यम् 40)
दयानन्दाब्द १५३
सन् १६७७

पृष्ठ विवरणम्

१— ५	=	संस्कृत भाग
६— १०	=	आर्यभाषा भाग
११— १२	=	संस्कृत भाग
१३— १६	=	आर्यभाषा भाग
१७— ४१	=	संस्कृत भाग
४२— ४७	=	आर्यभाषा भाग
४८—१०६	=	संस्कृत भाग
१०७—१३६	=	आर्यभाषा भाग
१३७—१६३	=	संस्कृत भाग
१६४—२४६	=	आर्यभाषा भाग
२५०—२६१	=	संस्कृत भाग
२६२—२७३	=	आर्यभाषा भाग
२७४—२६३	=	संस्कृत भाग
२६४—३२२	=	आर्यभाषा भाग और मिश्रित
३२३—		परिशेष
३२४—		स्वर संचार

१—१० = ग्रन्थ नाम, ग्रन्थकार नाम. स्कन्द स्वामी पदार्थ, वेङ्कटमाधव-पदार्थ, सायण पदार्थ, स्वामी दयानन्द पदार्थ, विलसन पदार्थ, ग्रिफिथ पदार्थ, अरविन्द पदार्थ ।

प्रकाशनस्थानम्—

वेदमन्दिर महापरिषत्—सार्वदेशिक परोपकारिणी सभा
६६ बाजार मोतीलाल बरेली (उ० प्र०) भारत (India)

स्व0 रक्खाराम गम्भीर कलकत्ता



श्रीमाता यशवन्त कौर गम्भीर ने अपने स्वर्गीय पति श्री रक्खारामजी गम्भीर कलकत्ता की पुण्य स्मृत्यर्थ ३०००) तीन हजार रुपये प्रकाशनार्थ दिये और कुमुद बहन ध० प० जे० ए० पटेल पूना ने स्वयं तथा स्त्री समाज पूना द्वारा संगृहीत ५००) दिये।

विषय सूची

इत्याध्यात्मिकोऽर्थः

सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखविरुद्ध
मुद्रित में भ्रष्ट पाठ

अशुद्ध पाठ	शुद्धपाठ हस्तलेख मे
सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः	सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः
अकार मात्र उकार मात्र और मकार	अकारमात्रा उकारमात्रा और मकार
तुम्हारा हमारा	तुह्मारा हमारा

अथ भौतिकोऽर्थः

(वेदाचार्य श्रीमती देवी शास्त्री एम-ए०)

(प्रथममन्त्र व्याख्यान में उद्धृत ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों के नाम)

अथर्ववेद ।
अनुवाकानुक्रमणी ।
अमर कोष ।
अरविन्द ।
अलंकार सर्वस्व-
कार ।
आख्यातिक ।
आत्मानन्द ।
आनन्दतीर्थ ।
आरण्य संहिता ।
आर्यमुनि ।
आर्याभिविनय ।
आलंकारिक ।
आश्वलायन ।
उणादिकोष ।
उणादि कोष-
(महर्षि व्याख्या) ।
उपसर्गवृत्ति ।
उज्वलदत्त ।
उदयन ।
उपलेखसूत्र ।
उवट ।
ऋग्वेद ।
ऋग्वेद पदपाठ ।
ऋक्संहिता-
हस्तलेख ।
ऋग्वेद प्रातिशाख्य ।
ऋग्वेद भाष्य ।
ऋग्भाष्य टीका
(मध्वरचित) ।
ऋग्वेदादि भाष्य-
भूमिका ।
ऋग्विधान ।
ऋक्सर्वानुक्रमणी ।
ऐतरेयालोचन ।
ऐतरेय ब्राह्मण ।
औणादिक-
पदार्णव ।
कठोपनिषत् ।
कपालि ।
कल्प ।
कविकल्पद्रुम ।
काण्व ।

काव्यप्रकाश ।
किरातार्जुनीयम् ।
कुमारिल भट्ट ।
कैयट ।
कैवल्योपनिषत् ।
कोषकाराः ।
कौशीतकि ब्राह्मण ।
क्षेमकरणदास-
त्रिवेदी ।
खेटयानप्रदीपिका ।
गालव ।
गीता ।
गेल्डनर
(जर्मन स्कालर) ।
गोपथब्राह्मण ।
गोवर्धन ।
गोविन्द स्वामी ।
ग्रिफिथ ।
चतुर्वेदविषय-
सूची ।
चतुर्वेदविषय-
सूची मुखपृष्ठ ।
चरण व्यूह ।
चरण व्यूह टीका ।
छन्दः सूची
(महर्षिकृता) ।
छन्दः संख्या ।
छान्दोग्योपनिषत् ।
जगन्नाथ ।
जैमिनि
न्यायमाला ।
जैमिनीय ब्राह्मण ।
जैमिनीयोप-
निषत् ।
ज्योतिषशास्त्र ।
तत्त्वबोधिनीकार ।
ताण्ड्यब्राह्मण ।
तुलसीराम स्वामी ।
तैत्तिरीय संहिता ।
तैत्तिरीय संहिता-
पदपाठ ।
तैत्तिरीयोप-
निषत् ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ।
तैत्तिरीयारण्यक ।
दशपाद्युणादि-
वृत्ति ।
दुर्ग ।
धातुपाठ ।
नागानन्द नाटक ।
नाट्यशास्त्र ।
नारायण ।
नारद ।
नारदीय शिक्षा ।
निघण्टु ।
निघण्टु भाष्यकार ।
निरुक्त ।
निरुक्त परिशिष्ट ।
निरुक्त हस्तलेख ।
निरुक्त के समझने
में प्राचीनों की
भूल ।
निदान सूत्र ।
निर्भुजसंहिता ।
नृपति कुम्भकर्ण ।
न्यायमञ्जरी ।
न्यास ।
प्रक्रिया सर्वस्व ।
पञ्चमहायज्ञविधि-
भाष्यम् ।
प्रतृण्ण संहिता ।
पदपाठ ।
पदार्थ प्रदीप ।
पिङ्गल ।
प्राणाग्निहोत्रोप-
निषत् ।
पेरू ।
बालखिल्य ।
बृहद्देवता ।
बृहदारण्यकोप-
निषत् ।
बोधायन धर्मसूत्र ।
भट्टभास्कर ।
भरत ।
भारद्वाज ।

भर्तृहरि ।
भावार्थ प्रदीप ।
(विस्तृत) भाष्य
महर्षि का ।
भाष्य (संस्कृत
आर्यभाषा गुज-
राती मराठी
(आदर्शाङ्क) ।
भाष्यवार्तिक ।
भ्रान्तिनिवारण ।
मनुस्मृति ।
मम्मट ।
महाभारत ।
महानारायणोप-
निषत् ।
महेश्वर ।
माधवीया-
धातुवृत्ति ।
महाभाष्य ।
महीदास ।
महीधर ।
माण्डूक्योपनिषत् ।
मीमांसा दर्शन ।
मुकुन्द झा ।
मुण्डकोपनिषत् ।
मुद्गल ।
मेघदूत ।
मैक्समूलर ।
मैक्डानल ।
मैक्डानल पत्र ।
मैत्र्युपनिषत् ।
मोनियर-
विलियम ।
यजुर्वेद ।
यजुर्वेद भाष्य ।
यजुर्वेद पदपाठ ।
यजुः प्रातिशाख्य ।
यजुः सर्वानुक्रमणी ।
यज्ञपद्धतिमीमांसा ।
यन्त्रकल्प ।
यानविन्दु ।
रघुवंश ।
रत्नावली ।

राजवाडे ।
रामायण ।
लक्ष्मणस्वरूप ।
लौगाक्षिस्मृति ।
वर्णनीति ।
वाक्यपदीय ।
वाचस्पति मिश्र
वात्स्य ।
वाष्कल ।
विमानचन्द्रिका ।
विमानशास्त्र ।
विमानशास्त्र-
वृत्ति ।
विलसन ।
विश्वबन्धु ।
विश्वप्रदीप ।
विश्वम्भर ।
वात्स्यायनभाष्य ।
वेङ्कटमाधव ।
वेदभाष्य के अङ्क ।
वेदाङ्ग छन्दोग्रन्थ ।
व्योम यानार्थ-
प्रकाश ।
व्योमयान तन्त्र ।
वेदार्थदीपिका ।
वेङ्कट माधव
छन्दोऽनुक्रमणी ।
वेङ्कट माधव ।
आख्यातानु-
क्रमणी ।
माधव छन्दो
ऽनुक्रमणी ।
वेदान्तदर्शन ।
वैदिक मुनि
(हरप्रसाद) ।
वैदिक संशोधन
मण्डल ।
वैयाकरण
सिद्धान्तकौमुदी ।
शतपथ ब्राह्मण ।
शतपथ भाष्य ।
शब्दानुशासन ।
शबर स्वामी ।

शांकरभाष्य । शाकलचरण । शांखायन । शिवशंकर काव्यतीर्थ । शुक्रनीति । शैशिरि । शौनकानुक्रमणी । श्वेतवनवासी । षड्गुरुशिष्य । षड्विंश ब्राह्मण ।

सन्ध्यापद्धति-मीमांसा । सत्यार्थप्रकाश । संगीतराज । संगीतरत्नाकर । संगीत दामोदर । संगीत सार । संगीत शास्त्र । संज्ञानसूक्त । संस्कारविधि ।

संहितोपनिषद्-ब्राह्मण । सत्यव्रत साम-श्रमी । सामवेद पदपाठ । सिद्धेश्वर वर्मा । सिद्धाञ्जनभाष्य । सूर्यसिद्धान्त । स्वामी दयानन्द-सरस्वती ।

साङ्ख्यदर्शन । सातवलेकर । सायणभाष्य-हस्तलेख । सायणभाष्य-(इन्दौर बागल कोटा पूना हस्तलेख)। सायणभाष्य-(राजाराम शिव-राम सम्पादित) ।

सायणभाष्य-(मैक्समूलर सम्पादित)। सायणभाष्य-(पुण्यपत्तन सम्पादित) । साहित्यदर्पण (तद्वक्त्रं यदि०) पृष्ठ १८ । स्कन्द । हरदत्त ।

१—स्कन्द स्वामी (सम्वत् ६८७) कृत प्रथम मन्त्र के भाष्य का भावार्थ—

(अ॒ग्निम्) अग्नि (की) (ई॒ळे) स्तुति करता हूं (पु॒रोहि॑तम्) शान्तिक पौष्टिक कर्मों से जो राजा को आपत्तियों से बचाता है तत्स्थानी जो है। (य॒ज्ञस्य॑) जो यज्ञ में अधिकृत यजमान का (आपत्तियों से बचाने वाला है। (पु॒रोहि॑तम्) जो पूर्व दिशा में आवहनीय रूप से स्थित है। (य॒ज्ञस्य॑ + दे॒वम्) मनुष्यों के लिये जो यज्ञ का देने वाला है। (य॒ज्ञस्य॑ + होता॑रम् + ऋ॒त्विज॑म्) जो यज्ञ का होता नाम वाला ऋत्विक् है। (ऋ॒त्विज॑म्) ऋतुऋतु में यष्टा = जो जो याग काल है तब तब देवों का यष्टा जो है। (होता॑रम्) जो देवों को बुलाने वाला है। (र॒त्न॒धात॑मम्) जो रत्नों को अत्यन्त देने वाला है।

२—वेङ्कटमाधव (सम्वत् ११००–१२००) कृत प्रथम मन्त्र के भाष्य का भावार्थ—

(अ॒ग्निम्) अग्नि (की) (ई॒ळे) स्तुति करता हूँ। (य॒ज्ञस्य॑ + पु॒रोहि॑तम्) जो यज्ञ की उत्तर वेदि में आगे स्थित है। (दे॒वम्) जो द्युस्थानी है। (ऋ॒त्विज॑म्) जो स्वस्वकाल में देवों का यजनकर्ता है। (होता॑रम्) जो देवों को बुलाने वाला है। (र॒त्न॒धात॑मम्) जो रमणीय धनों को अत्यन्त देने वाला है।

३—सायण (सम्वत् १३७२–१४४४) कृत प्रथम मन्त्र के भाष्य का भावार्थ—

मैं होता (अ॒ग्निम्) अग्नि नामक देव की जो देवों का सेनानी है उस की। (ई॒ळे) स्तुति करता हूं। (य॒ज्ञस्य॑ + पु॒रोहि॑तम्) जो राजा के पुरोहित के समान यज्ञ का पुरोहित है = अपेक्षित होम का सम्पादक है। अथवा जो यज्ञ के पूर्व भाग में आहवनीय रूप से स्थित है। (दे॒वम्) जो दानादिगुणयुक्त है। (य॒ज्ञस्य॑ + दे॒वम्) जो यज्ञ का प्रकाशक है। (होता॑रम् + ऋ॒त्विज॑म्) जो देवों के यज्ञ में होता नाम वाला ऋत्विक् है। (होता॑रम्) जो देवों को बुलाने वाला है। (ऋ॒त्विज॑म्) जो ऋत्विक् के समान यज्ञ का निर्वाहक है। (र॒त्न॒धात॑मम्) जो याग फल रूप रत्नों को अत्यन्त धारण करने वाला, पोषण करने वाला और दाता है।

४—महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् १८८१=१९४०) कृत

प्रथममन्त्र में व्याख्यात पदों के अर्थ

(अग्नि) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१—सब के अग्र रहने वाला सर्वश्रेष्ठ। २—सब शुभ कार्यों में जो सदा प्रथम स्थापित किया जाता है। ३—सर्वज्ञ। ४—जो वेदादि शास्त्रों से जाना जाता है। ५—सर्वव्यापक। ६—जो सब जगह प्राप्त किया जा सकता है। ७—पूर्णकाम। ८—विद्वान् धर्मात्मा मुमुक्षुओं से सर्व सुखप्राप्त्यर्थ जो प्राप्त किया जाता है। ९—धर्मात्माओं का आदर करने वाला। १०—धर्मात्माओं से जो पूजा किया जाता है।

(भौतिक अर्थ में)

११—अपने स्वरूप को प्राप्त कराने वाला। १२—सब को रूक्ष करने वाला। १३—गतिशील। १४—भस्म करने वाला। १५—स्थानान्तर को प्राप्त करने वाला। १६—रूपों को प्रकट करने वाला। १७—अग्नि शब्द सब देवताओं का वाचक है।

(ईळे) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१—स्तुति करता हूं। २—प्रार्थना करता हूं। ३—पूजा करता करता हूं। ४—वारम्बार इच्छा करता हूं। ५- गुणों का अन्वेषण करता हूं।

(भौतिक अर्थ में)

६—गुणों का वर्णन करता हूं। ७—वारम्बार इच्छा करता हूं। ८—यानादि में प्रेरित करता हूं। ९—गुणों का अन्वेषण करता हूं।

(पुरोहितम्) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१—सृष्टि से पूर्व स्थित परमाणु आदि जगत् का धारण करने वाला। २—सब देहधारियों की उत्पत्ति से पूर्व सकल पदार्थ उत्पन्न करके उनका धारण पोषणकर्ता। ३—स्वभक्त धर्मात्माओं की भक्ति के आरम्भ होने से पूर्व ही वेद विज्ञान आदि दान द्वारा धारण पोषण करने वाला। ४—सर्वाधार। ५—सर्वपोषक।

(भौतिक अर्थ में)

६—पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी छेदन धारण आकर्षण आदि गुणों का धारण करने वाला। ७—विमान, कला-गीत वाद नृत्य आदि, कौशल=शीघ्र कार्य करना, क्रिया=चक्रवत् गति, प्रचालन=यानों को चलाना आदि शिल्पविद्यास्वरूप को प्रयोग से पूर्व ही धारण करने वाला। ८—सब विद्याओं के प्रथम हेतु। ९—आदि मूल।

(यज्ञ) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१—विद्वानों का सत्कार। २—सत्संगति। ३—विद्यादिदान। ४—विद्वानों से की हुई पूजा। ५—महिमा। ६—कर्म। ७—अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ। ८—विद्याविज्ञान योगादि। ९—जगत्।

(भौतिक अर्थ में)

१०—शिल्प क्रियाओं से उत्पन्न होने योग्य पदार्थ समूह। ११—संगतिकरण रूप शिल्पविद्यादिमय यज्ञ। १२—शिल्पविद्यादि दान।

(देव) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१—सुखों के दाता। २—सब जगत् का प्रकाशक। ३—भक्तों को आनन्द देने वाला। ४—अधर्म अन्यायकारी और काम क्रोधादि की विजयेच्छा से पूर्ण। ५—सब से प्रार्थना करने योग्य। ६—प्रकाशमान।

(भौतिक अर्थ में)

७–व्यावहारिक विद्या का प्रकाशक। ८–प्रदीप्त होने वाला = प्रज्वलित होने वाला।

(ऋत्विक्) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१–प्रतिसृष्टि की उत्पत्ति के समय संसार को संगत करने वाला = स्थूल सृष्टि का रचयिता। २–सब ऋतुओं में पूजा के योग्य। ३–ऋत्विक् के समान वर्तमान ज्ञानादि यज्ञ का सम्पादन करने वाला। ४–सब जगत् का रचने वाला।

(भौतिक अर्थ में)

५–सर्व ऋतु सुखकर शिल्प साधनों को प्राप्त कराने वाला। ६–यथासमय शिल्पविद्या साधन का हेतु। ७–सर्वशिल्पविद्या व्यवहार का प्रकाशक। ८–ऋत्विक् के समान वर्तमान।

(होता) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१–सब जगत् के लिये सब पदार्थों का देने वाला। २–मोक्ष के समय प्राप्त मोक्ष जनों का ग्रहण करने वाला। ३–वर्तमान और प्रलय में सब जगत् का आधारभूत। ४–संहारकर्ता।

(भौतिक अर्थ में)

५–देने वाला।

(रत्नधातम) (आध्यात्मिक अर्थ में)

१–प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त का तथा ज्ञान हीरक सुवर्णादि का जीवों के देने के लिये अत्यन्त धारण करने वाला। २–उपर्युक्त पदार्थों को जीवों के लिये अत्यन्त देने वाला। ३–सुवर्ण आदि रत्नों को अत्यन्त देने वाला।

(भौतिक अर्थ में)

४–शिल्पियों को रत्नों से अत्यन्त पुष्ट करने वाला। ५–रत्नादि विद्या का आधार।

५–विल्सन (H. H. wilson M. A. F. R. S.)

I (ई॒ळे) glorify (अ॒ग्निम्) the fire (पु॒रोहि॑तम् + य॒ज्ञस्य॑) the high Priest of the Sacrifice (दे॒वम्) the divine (ऋ॒त्विज॑म्) the ministrant (होता॑रम्) who presents the oblation (to the gods) (र॒त्न॒धात॑मम्) and is Possessor of great wealth.

६–ग्रिफिथ (RALPH. T. H. GRIFITH. M. A. C. I. E.

I (ई॒ळे) loud (अ॒ग्निम्) Agni (पु॒रोहि॑तम्) chosen Priest (दे॒वम्) god (य॒ज्ञस्य॑ + ऋ॒त्विज॑म्) minister of Sacrifice (होता॑रम्) the Hotar (र॒त्न॒धात॑मम्) lavishest of wealth.

७–अरविन्द (Shri Aurobsndo).

I (ई॒ळे) adore (अ॒ग्निम्) the flame (पु॒रोहि॑तम्) the vicar (य॒ज्ञस्य॑+दे॒वम्+ऋ॒त्विज॑म्) the divine Ritwik of the Sacrifice (होता॑रम्) the Summoner (र॒त्न॒धात॑मम्) who most founds of the eastasy.

(वेदाचार्य श्रीमती देवी शास्त्री एम० ए०)

ओं तत् सत् परब्रह्मणे नमः

अथ

ऋग्वेदमहाभाष्यम्

अन्वितार्थप्रदीपः

स्वयम्भुवं[1] कविं नत्वा स्मृत्वा गुरुजनानपि ।
ऋषीन् मुनींस्तथाचार्यान् सर्वान् सच्छास्त्रकारकान् ॥ १ ॥

दयानन्दर्षिभाष्येऽयं कृतनक्तन्दिनश्रमः ।
विश्वश्रवास्तदाचार्यो व्यासो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥

पदार्थश्चान्वितार्थश्च भावार्थश्चेति यत् त्रिधा ।
ऋषेर्विभक्तं सद् भाष्यं तत् तथा व्याकरिष्यते ॥ ३ ॥

प्रतिमन्त्रमृषिश्छन्दः स्वरो दैवतमेव च ।
पदपाठश्च ऋषिणा निर्दिष्टानि सभूमिकम् ॥ ४ ॥

प्रदीपैर्विवरिष्येऽहं चतुर्भिरखिलं तु तत् ।
मीमांसां चान्यभाष्याणां करिष्ये तत्त्वदर्शिनीम् ॥ ५ ॥

पदार्थस्यान्वितार्थस्य भावार्थस्य प्रकाशकाः ।
प्रदीपास्त्रय आख्याता अन्वर्थैर्नामभिर्युताः ॥ ६ ॥

१—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" यजु० ४० । ८ ॥

दैवतर्ष्यादिविषया मीमांसा यत्र संतता ।
विश्वप्रदीप इत्युक्तः स तुर्योऽत्र प्रदीपकः ॥ ७ ॥

प्रदीपाः संहता ह्येते प्रमाणपरिबृंहिताः ।
ऋग्वेदस्य महाभाष्यं विज्ञातव्या विवेकिभिः ॥ ८ ॥

ऋषित्र्यग्भाष्यगूढोक्तेः स्ववगाहनसिद्धये ।
नद्या इवावतारास्युः प्रदीपा अखिला इमे ॥ ९ ॥

विषमेषु स्थलेष्वेते सुस्पष्टप्रतिपत्तये ।
अमी प्रदीपा विज्ञेया दीपस्तम्भा इवोदधौ ॥ १० ॥

आलोचयन्तु तान् धीरा विद्यावन्तो विमत्सराः ।
शुद्ध्यशुद्धी सुवर्णार्थे ज्ञानवह्नौ विदेलिमे ॥ ११ ॥

भाष्याब्धिरतिगम्भीरस्तितीर्षुश्चाविशारदः ।
तीर्णोऽस्मि वा निमग्नोऽस्मि कालादस्य विनिर्णयः ॥ १२ ॥

इयं प्रसिद्धा ब्राह्मी वाक् "श्रद्धया सत्यमाप्यते[२]" ।
सा श्रद्धैव महापोतो भाष्याब्धितरणे मम ॥ १३ ॥

या निष्ठा मे दयानन्दे या च पूर्वर्षिष्वपि ।
या वेदे या परेशे च सा च मेऽत्रावलम्बनम् ॥ १४ ॥

त्वोताराममुधीसुतो धनवतीगर्भाच्च जातो बुधो,
धर्मामात्यपदं य आर्यजगतोऽध्यास्ते सतामर्चितम् ।
आम्नायेऽङ्गयुते कृती परिचिती भाषासु बह्वीषु च,
काशीलब्धपदः[३] श्रुतो विमलधीराचार्यविश्वश्रवाः ॥ १५ ॥

१—Light-House

२—यजुर्वेद १९ । ३० ॥

३—वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयवाराणसीतो लब्धप्रतिष्ठिताचार्यपदः ।

शब्दानामनुशासनं स हृदयानन्दा[1] "दवेत् पाणिनेः"
कुद्दालाच्छिवदत्तदाधिमथतो[2] भाष्यं च पातञ्जलम् ।
मान्याच्छ्रीपरमेश्वरात्[3] पठितवानङ्गानि वेदस्य यः,
प्राच्यर्वाब्धि नृसिंहदेवविदुषो[4] यो दर्शनान्यध्यगात् ॥ १६ ॥

ज्वालापुरीयं समुपेत्य यश्च गुरोः कुलं कोविदरत्नमौलेः,
शास्त्राम्बुधेर्जीवसमादवाप नैपुण्यपण्यं मनसाप्यगम्यम् ।
श्रीभीमसेनाख्यगुरोर्निरुक्ते[5] शात्रोच्चयेऽनार्षदृशामगम्ये,
शिक्षासु शिक्षामवबोधभिक्षामलब्ध तन्त्रोपनिषच्चये च ॥ १७ ॥

वेदेदंपरतांपरां गिरिधरादाप्नोच्चतुर्वेदतः,[6]
झोपाह्वान् मधुसूदनाच्च[7] विबुधाद् यो वेदविद्यारहः ।
शर्मण्यादिगिरोऽपि यश्च विविधा भाषाविदामुत्तमात्,
कुरैशीप्रमुखाद्[8] विदेशवसतेरध्यैष्ट विद्वत्कुलात् ॥ १८ ॥

नानाभाषालिपिज्ञानं संपादनकला तथा ।
बहुभाषाविदः प्राप्ते 'एं० सी०' वूलनर कोविदात्[9] ॥ १९ ॥

जगन्नाथादयः सर्वे काश्यादिवासिनो मम ।
वन्द्यास्ते गुरवो[11] येषां पूतश्चरणसेवया ॥ २० ॥

ऋषेः संचितसाहित्यं हस्तलेखादिकं च मे ।
ऋषिदृश्वा समादिक्षद् हरविलासशारदः[10] ॥ २१ ॥

१—वैयाकरणशिरोमणिः प० हृदयानन्दः व्याकरणाचार्यः बरेलीवास्तव्यः ।

२—महामहोपाध्यायः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः प० शिवदत्तदाधिमथः ।

३—महामहोपाध्यायः प० परमेश्वरानन्द शास्त्री विद्याभास्करः साहित्याचार्यः ।

४—कवितार्किकः प० नृसिंहदेवशास्त्री दर्शनाचार्यः ।

५—पदवाक्यप्रमाणज्ञः प० भीमसेन आगरा वास्तव्यः संस्कारचन्द्रिकाकर्ता

६—महामहोपाध्यायः प० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदः व्याकरणाचार्यः न्यायशास्त्री

७—समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पतिः प० मधुसूदन ओझा जयपुरराजगुरुः ।

८—पञ्जावविश्वविद्यालये जर्मनभाषाध्यापकः डाक्टर कुरैशीमहाभागः ।

९—पञ्चनदीयविश्वविद्यालयस्थ 'ओरियन्टलकालेज लाहौर' प्रिंसिप० महाभागः

१०—दीवानबहादुर बा० हरबिलास सारडा परोपकारिणी सभा अजमेर प्रधानमन्त्री

११—आदिशब्दात् श्री मुकुन्दशास्त्री खिस्ते, प० नान्हूरामशास्त्री, प० श्यामलालः, प० हीरानन्दः, प० जगदीशचन्द्रः, प० रामचन्द्रः, प० सरयूप्रसादः, प० उदयशङ्कर भट्टाचार्य, प० त्रिवेणीदत्तः इत्यादयः साहित्यव्याकरणतीर्थाचार्याः मे गुरवः ।

बाल्ये केवलमाशिषं पितुरुपैन् मातुर्नये शिक्षणम्,
मातुर्मातुरजस्रकोमलतलस्पर्शैश्च यः पोषणम् ।
प्रौढो यः कृतवान् दुरुत्तरवरैस्तर्कैर्विपक्षक्षतिम्,
व्याचष्टे स ऋचां महर्षिरचितं भाष्यं प्रदीपाख्यया ॥ २२ ॥

ननु कोऽयं महर्षिः—

ब्रह्मादिजैमिनिप्रान्तऋषिवर्गप्रमाणकः ।
साक्षाद्द्रष्टा पदार्थानां ब्रह्मचारी ऋषिर्यतिः ॥ २३ ॥

पितृपितृव्यकृष्णादेः परानन्दात् निरञ्जनात् ।
अवेच्छास्त्रं स दिव्यात्मा पूर्णानन्दात् तथा यतेः ॥ २४ ॥

व्यासाश्रमे धराल्यादौ पर्वतानामुपह्वरे ।
योगं प्राप शिवानन्दयोगानन्दादिपार्श्वतः ॥ २५ ॥

धर्मसंस्थापको विप्रस्तपःस्वाध्यायसंयुतः ।
विरंजानन्दशिष्योऽयं दयानन्दसरस्वती ॥ २६ ॥

लोकान्तरादन्यसृष्टेरमृताद् वा समागतः ।
पुण्यात्मा कल्पये कश्चिद् वेदोद्धारार्थमागतः ॥ २७ ॥

पाषण्डाः खण्डिता येन श्रुतयो विमलीकृताः ।
शास्त्राणां च समुद्धारः कृतस्तत्त्वप्रदर्शनात् ॥ २८ ॥

१—यदा त्रिवर्षदेशीयस्तदा पिता स्वर्गतः ।

२—दिलपुखी नाम्नी मातुर्माता ।

३—पिता—करसनजी त्रिवेदी सहस्रौदीच्यब्राह्मणः

४—पितृव्यः—अज्ञातनामा

५—श्रीकृष्णाशास्त्री

६—प० परमानन्दः

७—प० रामनिरञ्जनः

८—स्वामी पूर्णानन्दसरस्वती

९—योगी योगानन्दः, स्वामी ज्वालानन्दपुरी, स्वामी भवानीगिरिः, स्वामी शिवानन्दगिरिः प्रभृतयः

१०—प्रज्ञाचक्षुः स्वामी विरजानन्ददण्डी परिव्राजकाचार्यः

इच्छन् साम्राज्यमार्याणाम् ऋषिर्वेदं प्रसारयन् ।
विश्वमार्यं चिकीर्षश्च विचचार महीतले ॥ २६ ॥

[1]शून्यत्र्यङ्के शशिमितशुभे वैक्रमे वत्सरे यो,
जीवन्मुक्तः समभवदसौ योगनिष्ठामवाप्य ।
[2]संक्षिप्याभाष्यप वरतरं मध्यमं वेदभाष्यं,
कुर्वन् विन्दुश्रुतिनवविधौ वत्सरे ब्रह्म प्राप ॥ ३० ॥

स्वतन्त्रे भारते देशे प्रजातन्त्रप्रशासिते ।
प्रदेशे चोत्तरे पुण्ये बरेलीपुटभेदने ॥ ३१ ॥
[4]रसविन्दुखयुग्मेऽब्दे वैक्रमे प्रथमे दिने ।
समारब्धः प्रदीपोऽयमन्वितार्थप्रदर्शकः ॥ ३२ ॥

१—विक्रमसंवत् १६३०

२—महर्षिणा पूर्वं संक्षिप्य वेदभाष्यम् अभावि चतुर्वेदविषयसूचीरूपं पूर्णम् । ततः वरतरं श्रेष्ठतरं वेदभाष्यमतिविस्तृतं प्रारब्धं तत् अप=अपास्य मध्यमं वेदभाष्यं कुर्वन् ब्रह्म प्राप्त इति योज्यम् ।

३—विक्रमसंवत् १६४० ।

४—विक्रमसंवत् २००६ चैत्रशुक्ला प्रतिपत् ।

ऋग्वेद महाभाष्य के अन्वितार्थप्रदीप

का

आर्यभाषानुवाद

ओ३म् । विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॒नि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥

हे (सवितः) महर्षि के समस्त साहित्य पर विस्तृत टीकाओं को लिखने की प्रेरणा करने वाले (देव) वेदज्ञान के दाता जगदीश्वर ! आप (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) अज्ञान आलस्य आदि मेरे दोषों तथा महर्षि के वेदभाष्यादि व्याख्या कार्य में अन्य विघ्न जो सहायक सामग्री का अभाव आदि हैं उनको (परा सुव) दूर कर दीजिये और (यत्) जो (भद्रम्) प्रतिभा, महर्षि में स्थिर श्रद्धा, आयु, आरोग्य और सहायक सामग्री की प्राप्ति आदि हैं (तत्) वह सब (नः) हमें (आसुव) प्राप्त कराइए जिससे सहस्रों वर्षों से विलुप्त जो आप का वेदज्ञान था जिसको ऋषिवर ने आपके साक्षात्कार के द्वारा पुनः प्राप्त करके निबद्ध किया उस को तथा अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार और प्रभाव से आर्षग्रन्थों का भी जो मिथ्या अर्थ प्रचलित हो रहा था उनका भी सत्य अर्थ महर्षि ने जो प्रकाशित किया उसको वर्तमान टीकाग्रन्थों से व्यामोहित पठक और पाठक जन न समझकर सत्यज्ञान से वञ्चित हो रहे हैं उस को ऋषि के समस्त साहित्य पर विस्तृत व्याख्यान लिखकर प्रकाशित करने में मैं समर्थ होऊं ।

१-२—आदि कवि स्वयंभू भगवान् को नमस्कार करके गुरुजनों, ऋषियों, मुनियों, आचार्यों तथा सब सत्यशास्त्रों के रचयिताओं को स्मरण करके महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के वेदभाष्य में दिन रात परिश्रम करने वाला मैं आचार्य विश्वश्रवा व्यास उस वेदभाष्य की व्याख्या करने को उद्यत हुआ हूं ।

३-४—महर्षि के वेदभाष्य में प्रत्येक मन्त्र पर नीचे लिखी बातें क्रमशः हैं—
(१) सूक्त की मन्त्र संख्या के साथ उसका ऋषि, (२) मन्त्र का देवता, (३) मन्त्र का छन्द, (४) मन्त्र का षड्ज आदि स्वर, (५) मन्त्रभूमिका अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र में

प्रतिपाद्य विषय का वर्णन संस्कृत में फिर (६) मन्त्रभूमिका का आर्यभाषानुवाद (७) मन्त्रपाठ, (८) पदपाठ, (६) पदार्थ-अर्थात् मन्त्र में आये प्रत्येक पद का मन्त्र के क्रम से सब अर्थों में विस्तृत एक एक पद का अर्थ (१०) अन्वय-अर्थात् अन्वितार्थ। इस अन्वय में केवल मन्त्र के पदों का अन्वय मात्र नहीं है प्रत्युत संगत अर्थ वाक्यार्थ के रूप में लिखा है अत एव इस अन्वय नाम वाले भाष्य में वाक्यार्थ पूर्ति के लिये कुछ शब्दों को जोड़ा भी है और कहीं कहीं पदों का पर्याय भी इस अन्वय में है। इसी अन्वय का आर्यभाषानुवाद में पदार्थ नाम है। (११) भावार्थ। ये दस बातें संस्कृतभाष्य में हैं इसके पश्चाद् आर्यभाषा में (१२) पदार्थ अर्थात् अन्वय का आर्यभाषानुवाद। इस को संस्कृत पदार्थ से मत मिलाओ प्रत्युत अन्वय का अनुवाद समझो अन्यथा दोनों का पदार्थ नाम होने से धोका हो सकता है। इस आर्यभाषा पदार्थ का पहिले ऋषि ने पदार्थान्वयभाषा नाम रखा था। अर्थात् पदों के अर्थों को लेकर अन्वय अर्थात् अन्वितार्थ का आर्यभाषानुवाद। (१३) और सब के अन्त में आर्यभाषा में भावार्थ यह संस्कृत भावार्थ का अनुवाद है। ये १३ बातें प्रत्येक मन्त्र पर ऋषि ने लिखी हैं। इस प्रकार ऋषि का भाष्य-पदार्थ, अन्वितार्थ, भावार्थ तीन रूप में चलता है।

४-८—मैं महर्षि के वेदभाष्य पर चार टीकाएं लिख रहा हूं। पदार्थ की टीका पदार्थप्रदीप, अन्वय की टीका अन्वितार्थ प्रदीप, भावार्थ की टीका भावार्थप्रदीप और ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, मन्त्रभूमिका, पदपाठ, आदि की टीका विश्वप्रदीप। ये चार प्रदीप मिलकर ऋषि के वेदभाष्य का महाभाष्य नाम टीका ग्रन्थ लिखा जायेगा जिसमें अन्य भाष्यों की समालोचना भी साथ साथ रहेगी जिससे सत्य अर्थ का प्रकाश हो। यह वर्तमान टीका अन्वितार्थ प्रदीप है।

९—ऋषि के वेदभाष्य में बड़े ही विचित्र गहनस्थल हैं पर इन चारों प्रदीपों से वे सब ठीक ठीक समझे जासकेंगे जैसे गम्भीर से गम्भीर नदी में भी यदि घाट बना दिये जावें तो सब का प्रवेश सुकर हो जाता है।

१०—समुद्र में निहित दीपस्तम्भ (Light House) जैसे मार्गप्रदर्शक होते हैं वैसे ही ये वेदभाष्य प्रदीप विषमस्थलों के स्पष्ट ज्ञान में सहायक होंगे।

११—बुद्धिमान् विद्यायुक्त पर रागद्वेष से शून्य विद्वज्जन उन प्रदीपों को आलोचना पूर्वक देखें क्योंकि ऐसे ही जन उनका परीक्षण कर सकेंगे। सुवर्ण (स्वर्ण और अच्छे वर्ण विन्यास वाले) मन्त्रार्थ के विषय में शुद्धि और अशुद्धि का परिचय ज्ञानरूपी वह्नि में जाना जा सकता है।

१२—महर्षि का वेदभाष्य महासागर है और उसमें तैरने की इच्छा वाला मैं उतना योग्य नहीं। पर समय ही निश्चय करेगा कि मैं डूबा हूं या पार पहुंच सका हूं।

१३—यह वेदवाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है कि "श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।" मुझे महर्षि के समस्त साहित्य और सम्पूर्ण सिद्धान्तों पर पूरी श्रद्धा है। जिसके अभाव के

कारण मेरे एक दो साथी मार्गभ्रष्ट होगये । मैं उनके समान ऋषि के ग्रन्थों में त्रुटियां समझने वाला नहीं हूं क्योंकि ऐसी धारणा से बुद्धि प्रतिहत हो जाती है और वह बुद्धि प्रतिभाशून्य होकर सत्यार्थ तक नहीं पहुंच पाती । यह मेरी ऋषि में दृढ़ श्रद्धा ही ऋषि के वेदभाष्य रूप समुद्र को तैर कर पार करने में बड़े जहाज का काम दे रही है ।

१४—महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वती में, पूर्व समस्त ऋषियों में, वेद में और परमात्मा में जो मेरी दृढ़ आस्था है वह मेरा सहारा है ।

१५—मेरे पूज्य पिताजी का नाम प० खोतारामजी, माता का नाम धनवती और मैं इस समय समस्त पृथ्वी लोक के आर्यजगत् के धर्मामात्य पद पर स्थित हूं जिस स्थान का आदर सब सज्जन करते हैं । मैंने साङ्गोपाङ्ग वेद में परिश्रम किया है, अनेक भाषाएं सीखी हैं, काशी से आचार्य पद प्राप्त किया है और वेद के समझने में मेरी बुद्धि स्वाभाविक चलती है, मेरा नाम आचार्य विश्वश्रवाः व्यास इस समय देश देशान्तर में प्रसिद्ध है ।

१६—जिन्हें समस्त पाणिनि व्याकरण के ग्रन्थ कण्ठस्थ थे जो पुस्तक हाथ में लेकर कभी नहीं पढ़ाते थे ऐसे व्याकरण की साक्षात् मूर्ति प० हृदयानन्दजी से मैंने पाणिनीय व्याकरणशास्त्र पढ़ा । समस्त शास्त्रों के विचित्र विद्वान् सब ही विषयों के ग्रन्थों पर टीका आदि लिखने वाले और अपने समय के विद्वानों से भी पूजित महामहोपाध्याय प० शिवदत्त दाधिमथ से मैंने पातञ्जल व्याकरण-महाभाष्य का अध्ययन किया । समस्त शास्त्रों के अध्यापन में दक्ष अतिशान्त ब्राह्मणत्व की साक्षात् प्रतिमा महामहोपाध्याय प० परमेश्वरानन्दजी से मैंने वेदों के अन्य अङ्गों का विशेष अध्ययन किया जिनका वरद हस्त अब भी सदा मेरे ऊपर रहता है । कवितार्किक प० नृसिंहदेव शास्त्री दर्शनाचार्य से मैंने नव्य तथा प्राचीन दर्शन पढ़े ।

१७—महाविद्यालय गुरुकुल ज्वालापुर में रहने वाले विद्वन्मणि शास्त्रों के सागर बृहस्पति तुल्य विद्वान् सरलता की साक्षात् मूर्ति छात्रों के परम हितचिन्तक दयालु श्री प० भीमसेन शर्मा आगरा निवासी से निरुक्त शिक्षा आदि शास्त्रों का तथा वैदिक धर्म की शिक्षा का पूर्ण ज्ञान और सिद्धान्तों में निपुणता प्राप्त की ।

१८—परम्परा से प्राप्त वेद ज्ञान को मैंने अद्वितीय प्रगल्भवक्ता शास्त्रार्थमहारथ महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से प्राप्त किया और वेदावतार जयपुर राजगुरु विद्यावाचस्पति प० मधुसूदन ओझा से केवल वेद के रहस्य सीखे । पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर में डा० कुरैशी आदि से जर्मन आदि भाषाएं सीखीं ।

१९—पञ्जाब विश्वविद्यालय के ओरियन्टल कालेज लाहौर के प्रिंसिपल प० सी० वूलनर साहब से अनेक भाषाओं की लिपियां और हस्तलेखों के संपादन की कला जानी ।

२०—काशी जयपुर हिमाचलप्रदेश उत्तरप्रदेश पञ्चनद आदि, और देश विदेश के रहने वाले शेष सब ही मेरे गुरुजन वन्दना के योग्य हैं जिनके चरणरज की कृपा से पवित्र होकर सब ज्ञान प्राप्त किया। वे अन्य स्वनामधन्य इस प्रकार हैं—

श्री प० श्यामलाल शर्मा, श्री प० नान्हूराम शर्मा, श्री प० जगन्नाथ शर्मा, श्री प० मुकुन्दशास्त्री खिस्ते, श्री प० हीरानन्द शर्मा, श्री प० जगदीशचन्द्र शर्मा श्री प० रामचन्द्र शर्मा, श्री प० सरयूप्रसाद त्रिपाठी, श्री प० त्रिवेणीदत्त शर्मा प० उदयशंकर भट्टाचार्य आदि सब ही गुरुजन साहित्य व्याकरणतीर्थ आचार्य थे।

२१—महर्षि ने अपने समय में जो प्राचीन हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थ संग्रह किये थे तथा ऋषि के अपने ग्रन्थों के जो हस्तलेख और ऋषि के लिखे पर अभी तक अमुद्रित जो ऋषि के अन्य ग्रन्थ परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में हैं उन सब को परोपकारिणी सभा के प्रधान मन्त्री दीवानबहादुर बा० हरविलास सारडा ने जिन्होंने ऋषि के साक्षात् दर्शन किये थे और मेरे साथ पितृवत् व्यवहार करते थे उन्होंने मुझे देखने को दिये। उस संग्रह को बिना देखे ऋषि के ग्रन्थों पर टीका लिखने का काम हो ही नहीं सकता था।

२२—उपर्युक्त विवरण विद्याध्ययन का है पर मेरी जीवनयात्रा इस प्रकार बीती है कि श्री पूज्य पिताजी का स्वर्ग बाल्यावस्था में ही हो गया जब मैं तीन वर्ष का था। माताजी व्यवहारनिपुण थी उन्होंने सांसरिक व्यवहार की अच्छी शिक्षा दी और नानी जिनका नाम दिलसुखी था उन्होंने पालनपोषण किया। अब प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होकर उपर्युक्त सर्वजनों के आशीर्वाद से महर्षि के सब विरोधियों के मिथ्या पक्षों के खण्डन करने में समर्थ हूं। अब मैं ऋषि के ऋग्वेदभाष्य की चार प्रदीपों द्वारा विस्तृत व्याख्या करता हूं। जो मेरा महर्षिः—

२३—ब्रह्मा से लेकर जैमिनि और व्यास तक ऋषियों को प्रमाण मानता है, जो साक्षात्कृतधर्मा है, अखण्ड ब्रह्मचारी और यति है।

२४—जिस ऋषि ने पहले अपने पूज्य-पिता करसनजी, अपने चाचाजी, श्री कृष्णशास्त्री, प० परमानन्दजी प० रामनिरञ्जनजी तथा स्वामी पूर्णानन्दसरस्वती आदि से विद्याध्ययन किया।

२५—फिर व्यासाश्रम धराली की गुफा आदि पर्वतों के निर्जनस्थानों, बीहड़ जंगलों गुफाओं और प्रपातों में योगी योगानन्द, स्वामी ज्वालानन्दपुरी, स्वामी भवानीगिरि, स्वामी शिवानन्दगिरि आदि से योगसमाधि सीखी

२६—धर्म की पुनः स्थापना करने वाला यह तप और स्वाध्याय से युक्त ब्राह्मण विरजानन्ददण्डी के शिष्य स्वामी दयानन्दसरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुए।

२७—जिनको कवि की उत्प्रेक्षा में इस प्रकार कहा जायेगा कि—

(क) दयानन्दसरस्वती पूर्वजन्म में किसी अन्य लोक में थे वहां से इस भूलोक में इस बार जन्म ग्रहण किया क्योंकि ऐसे व्यक्ति पूर्वजन्म में भी अलौकिक विभूति वाले रहे होंगे पर ऐसा व्यक्ति इस लोक में सुना नहीं गया।

(ख) या परमात्मा की अनन्त सृष्टियों से में किसी अन्य सृष्टि से इस जन्म में आये हों।

(ग) ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्ति से लौटे जीवात्मा में जो विभूतियां होती हैं वे इन में हैं। ऐसा दिव्य आत्मा वेदोद्धार के कार्य में प्रवृत्त हुआ समझो।

२८—जिस ऋषि ने सब पाषण्डों मतमतान्तरों का खण्डन करके और वेदों पर मिथ्या लगाये आक्षेपों का निराकरण करके वेद को निष्कलङ्क प्रसिद्ध किया और अन्य भी सब शास्त्रों का सत्य अर्थ प्रकाश करके उद्धार किया।

२९—उन ऋषिवर की इच्छा थी कि समस्त भूतल पर आर्यों का साम्राज्य होजावे, वेद का प्रसार सर्वत्र हो और सब संसार के लोग आर्य हो जावें इस उद्देश्य से उन्होंने पृथिवी तल पर प्रचार प्रारम्भ किया।

३०—वह ऋषि संवत् १९३० में योग की पराकाष्ठा को प्राप्त कर जीवन्मुक्त होगये। फिर दश वर्ष के अन्दर सत्यधर्म का प्रचार करते हुए साक्षात्कृतधर्मा हुए हुए उन्होंने वेद का संक्षिप्त भाष्य अर्थात् चतुर्वेद विषयसूची रूप चारों वेदों का पूर्ण बनाया फिर अति विस्तृत वेदभाष्य करते करते बीच में उसको छोड़कर मध्यम श्रेणि का वेदभाष्य जब कर रहे थे तब यजुर्वेद का पूर्ण और ऋग्वेद का ७ मण्डल सूक्त ६१ सूक्त के २रे मन्त्र तक ही वेदभाष्य कर पाये थे कि संवत् १९४० में जब उनके शरीर छूटने का समय आया तब जीवन्मुक्त वह ऋषि ब्रह्म को प्राप्त हुए।

३१-३२—प्रजातन्त्र से शासित स्वतन्त्र भारतवर्ष के उत्तरप्रदेश में वर्तमान बरेली नाम नगर में २००६ वैक्रम संवत्सर के प्रथम दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को यह अन्वितार्थ-प्रदीप नाम टीका महर्षि के ऋग्वेदभाष्य पर लिखना प्रारम्भ किया।

महर्षिकृतवेदभाष्यस्येतिवृत्तम्

महर्षि श्री दयानन्दसरस्वतीस्वामिना वेदभाष्यकार्यं १९३१ विक्रमसंवत्सरतः पूर्वमेव प्रारब्धमासीत्—

१—तस्मिन् काले चतुर्वेदविषयसूच्यात्मकं चतुर्वेदवर्णितविषयाणामनेकसहस्रवर्षानन्तरमार्षदर्शनस्वरूपं महर्षेरेव प्रथमं दर्शनं जातम्। एषा चतुर्वेदविषयसूची परोपकारिणीसभासंग्रहेऽमुद्रितैव शोभते। मया महता प्रयत्नेन प्रतिच्छायलिपिं Photo-Stat कारयित्वा सुरक्षिता।[1] परमस्या मुखपृष्ठस्य प्रतिच्छायलिपिर्नाकारि विस्मृत्याऽधिकारवर्गैः।

२—तदा धर्मं साक्षात्कृत्य १९३१ विक्रमसंवत्सर एव ऋग्वेदप्रथमसूक्तस्य संस्कृतभाष्यम् आर्यभाषा—गुजराती मराठी भाषानुवादसहितमादर्शाङ्कतया प्रकाशमनयद् ऋषिः।

३—अथ ऋग्वेदस्यातिविस्तृतं वेदभाष्यं महर्षिकृतं १९३३ विक्रमसंवत्सरे दृष्टिपथमवतरति। तच्च वह्वीषु ऋक्षु वर्तते। इदमपि विस्तृतं महर्षेर्ऋग्वेदभाष्यं परोपकारिणीसभासंग्रहेऽमुद्रितमेव विराजते।

४—तदा १९३३ विक्रमसंवत्सरे पुनर्द्वितीयो विस्तृतवेदभाष्यस्यादर्शाङ्को संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितो महर्षिणा प्रकाशितः। तस्मिन्नादर्शाङ्के ऋग्वेदप्रथमसूक्तभाष्यं संस्कृतार्यभाषासमन्वितं द्वितीयसूक्तस्य चापूर्णं संस्कृतभाष्यं वर्तते तत्रैव प्रथमोऽङ्कः समाप्तिमगमत्। द्वितीयेऽङ्के शिष्टं प्रकाश्यमासीत्। द्वितीयसूक्तस्यापूर्णेन संस्कृतभाष्येण महर्षेः विस्तृतवेदभाष्यस्यैव प्रकाशनप्रकामना प्रतीयते।

५—परमस्य भाष्यस्यातिविस्तरमभिलक्ष्य न्यस्तस्तच्चिन्तया चतुर्वेदविषयसूचीमुखपृष्ठे महर्षेः स्वहस्तः स्वहृदयवेगमवष्टभ्य वाचितव्यस्तद्भक्तैः। तथाहि—

1—अस्यां चतुर्वेदविषयसूच्यां चतुर्णां वेदानां सर्वेषां मन्त्राणां प्रतिमन्त्रं विषया निर्दिष्टाः। अथ चोपलब्धवेदशाखाब्राह्मणानामपि विषयनिर्देशमकार्षीत् तत्र परमर्षिः। पारोवर्यविदां वेदभाष्यकर्तॄणां महदुपकारिणी चतुर्वेदविषयसूची। तदनाश्रयेण कृतानामाधुनिकवेदभाष्याणां लेशतोऽपि न प्रामाणिकता।

एकैकस्य शतादुपरि कालः ॥
शतावध्यागन्तुको मृत्युः ॥
नाकाले म्रियते जन्तुः ॥

(चतुर्वेदविषयसूचीमुखपृष्ठम्)

एषु स्मर्तव्याक्षरेष्वयमभिप्राय ऋषेः प्रतिभाति—

क—एकैकस्य वेदस्यैतादृशविस्तृतवेदभाष्यकरणे प्रतिवेदं शतादुपरिकालोऽपेक्षितः। एवं शतचतुष्टयवर्षेण चतुर्वेदभाष्यसमाप्तिः स्यात्।

ख—ममायुः शतादपि न्यूनमिति मयाऽऽर्षदृष्ट्या विज्ञातम्। अतोऽतिविस्तृतवेदभाष्यकार्यं परित्यज्यानतिविस्तृतं भाष्यं मया करणीयमिति ऋषेर्विचारः प्रादरभूत्।

ननु नैष्ठिकब्रह्मचारिणः कथमल्पायुः ? उच्यते—

ग—नाकाले म्रियते जन्तुरिति।

६—ततः १९३४ विक्रमसम्वत्सरेऽनतिविस्तृतं वेदभाष्यमारब्धं जगद्धितैषिणा महर्षिणा। तद् ऋग्वेदस्य संस्कृतार्यभाषासमन्वितं सप्तममण्डलस्यैकषष्ठिसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तं मुद्रितं लभ्यते यन्मयाऽतिविस्तृतवेदभाष्यसाहाय्येन व्याख्यास्यते। यजुर्वेदस्य चेदं भाष्यं सम्पूर्णं मुद्रितं तदपि यथावसरं व्याख्यास्यत एव।

७—संस्कृतभाष्यं तस्यार्यभाषानुवादश्चेत्युभयमपि महर्षिकृतमेव। तथा चोक्तं महर्षिणा—

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामान्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुभयोर्मयेति पदेन महर्षिकृतत्वश्रवणात्।

८—आर्षं चेदं भाष्यम्। तथाहि—

पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पिष्टपेषणापत्तेः।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

इति ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामेव प्रतिज्ञाविषये भाष्यकर्त्रा स्वात्मनः ऋषित्वप्रतिज्ञानात्।

इति वेदभाष्ययेतिवृत्तम्

अथ महर्षिवेदभाष्यं व्याख्यास्यते—

आर्यभाषा

महर्षि के वेदभाष्य का ऐतिहासिक निरीक्षण

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज ने वेदभाष्य का कार्य विक्रम संवत् १९३१ से पूर्व ही आरम्भ कर दिया था।

१—विक्रम संवत् १९३१ से पूर्व ही वेदभाष्य को करने के उद्देश्य से सर्व प्रथम ऋषि ने "चतुर्वेद विषय सूची" नाम ग्रन्थ का निर्माण किया। जो वेद का यथार्थ अर्थ सहस्रों वर्षों से लुप्त हो गया था वह वेदार्थ जैमिनि और व्यास के उपरान्त इस ऋषि ने ही समाधि द्वारा प्रथम बार स्वयं साक्षात्कार किया। वेदभाष्य के कार्य में यही एक कठिन कार्य था कि किस मन्त्रादि में किस विषय का वर्णन है। महर्षि की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा जो अजमेर में है वहाँ परोपकारिणी सभा के प्रधानमन्त्री स्वर्गीय दीवानबहादुर हरविलासजी शारदा के अनुग्रह से ऋषि के सब सामान को पूर्ण देखकर व्यवस्थित करने का सौभाग्य बहुत काल प्राप्त हुआ उस समय यह चतुर्वेदविषयसूची मेरी दृष्टि में पड़ी। इस अमूल्य ग्रन्थ के पत्र चिपक गये ये हस्तलिखित ही पड़ा था कठिनता से उस ग्रन्थ के प्रत्येक पत्र को पृथक् पृथक् करके अधिकारिवर्ग से आग्रह करके उस ग्रन्थ का फोटो कराकर सुरक्षित करके रखवा दिया। आश्चर्य है कि ऋषि के उपरान्त सामवेद अथर्ववेद और ऋषि के छुटे हुए ऋग्वेद के भाग पर भाष्य करने वाले विद्वानों ने उसका उपयोग नहीं किया। संभवतः उनको इसका पता नहीं था। चतुर्वेदविषयसूची के मुखपृष्ठ का फोटो कराना अधिकारिवर्ग भूल गये। उनका ध्यान आकर्षित कर दिया है। बड़े महत्व का वह मुखपृष्ठ है जिसका वर्णन आगे है।

२—चारों वेदों के अर्थों का इस प्रकार साक्षात्कार करके विक्रम संवत् १९३१ में ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का संस्कृत भाष्य जिसमें आर्य भाषा गुजराती मराठी अनुवाद भी था ऋषि ने आदर्शाङ्क के रूप में छापा।

अब स्वामीजी प्रधान रूप से वेदभाष्य के कार्य में लग गए। चारों वेदों के विस्तृत वेदभाष्य की तैयारी और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका जैसे महान् ग्रन्थ की रचना के उद्योग में (जिस से सारा संसार चकित हो गया) बहुत समय ऋषि को लगाना पड़ा।

१—चतुर्वेदविषयसूची में चारों वेदों के सब मन्त्रों पर लेख है कि किस मन्त्र में किस विषय का वर्णन है यहां तक कि वेदों की उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों तक के विषयों का उल्लेख इस चतुर्वेदविषयसूची में है।

३—संवत् १९३३ में नियमित रूप से विस्तृत वेदभाष्य और भूमिका का लेखन कार्य ऋषि ने प्रारम्भ कर दिया। यह विस्तृत वेदभाष्य ऋग्वेद के अनेक सूक्तों तक चला गया है। यह भी अमुद्रित ही परोपकारिणी सभा के संग्रह में अति सुरक्षित पड़ा ही है अभी छपा नहीं है।

४—उस समय विक्रम संवत् १९३३ में अपने किये विस्तृत वेदभाष्य का एक दूसरा आदर्शाङ्क महर्षि ने प्रकाशित किया जिसमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का संस्कृत भाष्य और आर्यभाषानुवाद तथा द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का कुछ संस्कृत भाष्य छपा था। जिससे प्रतीत होता है कि इसी प्रकार अङ्क अङ्क करके सब विस्तृत भाष्य प्रकाशित करने का ऋषि का विचार था। अन्यथा द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का अपूर्ण संस्कृत भाष्य प्रकाशित करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं हो सकता। वह दूसरे अङ्क में पूरा होना था। इसी प्रकार आगे चलता रहता।

५—पुनः ऋषि का विचार पैदा हुआ कि ऐसा विस्तृत वेदभाष्य यदि मैं चारों वेदों पर करूंगा तो चारों वेदों के भाष्य करने में चार सौ वर्ष लगेंगे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी की चार सौ वर्ष आयु होती है। मनु के लेख के अनुसार उस कल्प में चार सौ वर्ष की आयु होती थी। परन्तु जब उन्हें समाधि द्वारा यह ज्ञात हो गया कि मैं अपने सौ वर्ष के अन्दर ही इस शरीर को छोड़कर परमपद को प्राप्त हो जाऊंगा यह जानकर ऋषि ने विस्तृत वेदभाष्य का कार्य छोड़ दिया। इस विषय में चतुर्वेद-विषयसूची के मुखपृष्ठ पर ऋषि के अपने हाथ से अङ्कित कुछ अक्षर प्रमाण हैं। जो इस प्रकार वहाँ लिखे मेरी दृष्टि में ही पहिली बार पड़े—

एकैकस्य शतादुपरि कालः ॥
शतावध्यागन्तुको मृत्युः ॥
नाकाले म्रियते जन्तुः ॥

इन पङ्क्तियों का अर्थ ऐसा प्रतीत होता है कि—

क—इतने अति विस्तृत वेदभाष्य करने में एक एक वेद पर एक एक सौ वर्ष लगेगा अर्थात् ऐसा वेदभाष्य करने में चार सौ वर्ष का समय अपेक्षित है।

ख—मेरी आयु सौ वर्ष से भी कम है ऐसा मैंने आर्षदृष्टि से जान लिया। क्योंकि कर्म-बन्ध पूर्ण हो गया है।

अतः अति विस्तृत वेदभाष्य का कार्य छोड़कर कम विस्तार वाला वेद-भाष्य मुझे करना चाहिए ऐसा ऋषि का विचार पैदा हुआ होगा।

ग—प्रश्न-नैष्ठिक ब्रह्मचारी की सौ वर्ष से आयु कम क्यों होगी?

उत्तर-शरीर छोड़ने का समय निश्चित है। कर्म फल का अभाव भी हेतु है।

६—तब तृतीय प्रयत्न के रूप में ऋषि ने विक्रम संवत् १९३४ में संसार के कल्याण के लिए जो अत्यधिक विस्तृत न हो ऐसा वेदभाष्य करना प्रारम्भ किया यह वेदभाष्य यजुर्वेद का संस्कृत और आर्यभाषा में ऋषि ने पूरा किया। पर ऋग्वेद का भाष्य

मण्डल ७, सूक्त ६१, मन्त्र २ तक ही है जो मुद्रित उपलब्ध हैं। ये दोनों वेदों के भाष्य साथ साथ छपने प्रारम्भ हुए। पर ऋषि के जीवन में सब नहीं छप सका। ऋग्वेद भाष्य का छपना मासिक अङ्क के रूप में प्रारम्भ हुआ। पहिला अङ्क जब महर्षि उत्तरप्रदेश में थे संवत् १९३५ श्रावण मास में प्रकाशित हुआ।

ऋषि के जीवनकाल में केवल ५१ अङ्क ऋग्वेद के छप सके जिस में ऋग्वेद १।८६।५ मन्त्र तक भाष्य है। ५०-५१ अङ्क के छपने का समय संवत् १९४० आषाढ़ कृष्ण पक्ष है। इसके अनन्तर संवत् १९४० चैत्र कृष्ण पक्ष को ५२-५३ वां अङ्क ऋग्वेदभाष्य का छपा जिसमें श्री स्वामीजी महाराज के मोक्षधाम पधारने का दुःखद समाचार छपा। ९ मास व्यवस्था में लगे होंगे।

महर्षि के पश्चात् यह ऋग्वेद का भाष्य अङ्क अङ्क करके विक्रम संवत् १९५६ आषाढ़ कृष्ण पञ्चमी तक छपता रहा। इस प्रकार इसके छपने में लगभग २२ वर्ष लगे। प्रारम्भ के १३ अङ्क निर्णय सागर प्रेस बम्बई में छपे थे फिर वैदिक यन्त्रालय में मुद्रण हुआ। उस समय वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में था। महर्षि के इस मुद्रित ऋग्वेदभाष्य का व्याख्यान विस्तृत वेदभाष्य की सहायता से मैं कर रहा हूँ। यजुर्वेदभाष्य का भी व्याख्यान यथावसर करूंगा।

७—ऋषि के पश्चात् जो वेदभाष्य के अङ्क छपने प्रारम्भ हुए उनमें भी बहुत अङ्कों के बाद मुखपृष्ठ पर एक विचित्र पङ्क्ति छपनी प्रारम्भ हुई जिससे यह मिथ्या भ्रान्ति होती है कि वेदभाष्य का आर्यभाषानुवाद अन्यों का है। यदि यह बात सत्य होती तो जो अङ्क ऋषि के जीवन काल में छपे थे उन अङ्कों के ऊपर यह पङ्क्ति ऋषिवर स्वयं छापते। यह देख कर और भी आश्चर्य है कि वेदभाष्य का दूसरा संस्करण जो संवत् १९७१ में वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपा उसमें प्रारम्भ से ही पण्डितों ने इस पङ्क्ति को छापना प्रारम्भ कर दिया जब अधिकारिवर्ग का ध्यान गया तब इसका छापना बन्द कर दिया गया।

वस्तुतस्तु ऋषि के सब ग्रन्थों और वेदभाष्यों में संस्कृत और आर्यभाषा दोनों ऋषि की ही हैं ऐसा ही महर्षि ने अपने जीवनकाल में भी वेद भाष्य के मुखपृष्ठ पर तथा वेदभाष्य के अन्दर भी विशेष प्रकरणों की समाप्ति पर स्वयं छापा कि मुझ दयानन्द सरस्वती स्वामी कृत संस्कृत और आर्यभाषा से समन्वित यह वेदभाष्य है। ऐसा ही ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णन मिलता है कि—

सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २)

८—यह वेदभाष्य आर्ष है। इस विषय में महर्षि ने स्वयं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है जिसका भाव यह है कि—

ऋषि लोग किसी अन्य की लिखी बात को लिख कर पिष्टपेषण नहीं करते। जैसे जो विषय एक दर्शन में वर्णित हो चुका दूसरा दर्शनकार तदतिरिक्त का ही वर्णन करता है। न्याय सांख्य वेदान्त आदि सब दर्शनों में पृथक् पृथक् ही विषयों का वर्णन है पिष्टपेषण नहीं। स्वामीजी महाराज ने यह जानकर कि वेद-मन्त्रों का कर्मकाण्डपरक अर्थ दूसरे ऋषि याज्ञवल्क्यादि कर चुके हैं अतः ऋषि ने वेदमन्त्रों. का कर्मकाण्डपरक अर्थ विशेष रूप से नहीं किया। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में प्रश्नोत्तर इस प्रकार है कि—हे ऋषिवर तुम अपने वेदभाष्य में कर्म-काण्डपरक मन्त्रों के अर्थ क्यों नहीं करते। इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि लिखते हैं कि यदि मैं भी मन्त्रों का कर्मकाण्डपरक अर्थ करूं तो मेरा यह वेदभाष्य ऋषि कृत वेदभाष्य नहीं कहा सकता क्योंकि कर्मकाण्डपरक मन्त्रों का अर्थ अन्य ऋषि याज्ञवल्क्य आदि कर चुके हैं। ऋषि लोग पिष्टपेषण नहीं करते। ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में ऋषि के अक्षर इस प्रकार हैं—

"पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पिष्टपेषणापत्तेः"

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रतिज्ञाविषय)

अब आगे महर्षि के वेदभाष्य की व्याख्या की जायगी।

प्रकृतमृग्वेदभाष्यमारभमाण ऋषिः प्रस्तौति—

(महर्षिभाष्यम्)

ऋग्वेदः

"अथर्ग्वेदभाष्यारम्भः"

(ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

अथ शब्दोऽत्र मङ्गलार्थ आनन्तर्यार्थश्च प्रयुज्यते नाधिकारार्थः । अधिकार आधिक्येन प्राधान्येन प्रारम्भणम्, तस्य तु "अथर्ग्वेद भाष्यारम्भः" इत्यारम्भ-पदेनैवोक्तत्वात् । अथ शब्दस्य मङ्गलार्थत्वेऽर्थवादः श्रूयते—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

आनन्तर्यं च—अथ चतुर्वेदविषयसूचीविस्तृतवेदभाष्यप्रकारप्रदर्शन ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकानिर्माणानन्तरम् । भूमिकानिर्माणकार्यं बरेलीनगरे १९३३ विक्रमसंवत्सरे मार्गशीर्षपूर्णिमायां महर्षिणा समापितम् । ऋग्वेदभाष्यस्यारम्भः क्रियत इति शेषः ।

(महर्षिभाष्यम्)

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव ।
यद् भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ ॥ ऋ० ५ । ८२ । ५ ॥

(ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

भाष्यारम्भेऽतिप्रियामृचमृषिः स्मरति—तस्याः प्रकरणगतं व्याख्यानं महर्षि[1]-संमतं क्रियते—

हे (देव) सूर्यादिसकलजगद्विद्याप्रकाशक ! हे (सवितः) सकलजगदु-त्पादक ! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) अस्मिन् वेदभाष्यकरणा-नुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् (परासुव) प्राप्तेःपूर्वमेव दूरे गमय (यद्) शरीरबुद्धिसहाय-कौशलसत्यविद्याप्रकाशादि (भद्रम्) (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (आसुव) प्रापय । भाष्यारम्भे महर्षिकृतं मङ्गलम्—

(महर्षिभाष्यम्)

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तावना या,
संपूर्येशं निगमनिलयं संप्रणम्याथ कुर्वे ।
वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे,
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम् ॥

अस्यायमर्थः—

(ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां व्याख्यातम् ।

(या) (चतुर्वेदसस्तावना) संस्ताव्यते परिचाय्यतेऽनयेति संस्तावना परिचयकारिका भूमिकेत्यर्थः । **"संस्तवः स्यात् परिचयः"** इति कोषकाराः। चतुर्णां वेदानां संस्तावना चतुर्वेदसंस्तावना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका । चतुःशब्देन वेदानां त्रित्वनिरासः। (विद्यानन्दम्) विद्याया ज्ञानविज्ञानात्मकस्य आनन्दं ब्रह्मानन्दसहोदरं हर्षं (समवति) नैरन्तर्येण ददाति । अव धातोः पञ्चविंशतिरर्था धातुपाठेषु द्रष्टव्याः । तथा हि-**"अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-सामर्थ्य-याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसादन-भाग-वृद्धि-भाव-धृति-स्तुति-दहनेष्विति"**। हिंसादान इत्यत्र हिंसा आदानमिति हिंसा दानमिति वा विगृह्णन्ति । तामिति शेषः (संपूर्य) प्रकृष्टतया औचित्येन च पूर्णां कृत्वा। **"समुपसर्गः संयोग-ऐक्य-विप्रयोग-प्रभव-सत्य-समक्ष-समन्ततोभाव-प्रेक्षण-विभूषण-आभिमुख्य- श्लेष-कार्य-सिद्धि-क्रोध-स्वीकरण-प्रकृष्ट-नैरन्तर्य-औचित्य-समुचयेषु द्रष्टव्यः"** ।

यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् 'या' इत्यनेन 'ताम्' इत्याक्षिप्यते । न च **"प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकाङ्क्षः"** ? इत्यालंकारिकमतेन तामिति न्यूनपदत्वेन साकाङ्क्षतादोषापत्तिरिति वाच्यम्, पूर्ववाक्ये विरम्योत्तरवाक्यस्य दीर्घप्रयत्नेनोच्चार्यमाणे नैष दोषो यथा—**"तद्वक्त्रं यदि, मुद्रिता शशिकथा"** अत्र पूर्ववाक्योपात्तोऽपि यदि शब्द उत्तरवाक्ये तर्हिशब्दमाक्षिपत्येव । छन्दस्यपि दृश्यते—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥

ऋ० १ । २८ । १॥

यत्र ग्रावा······भवति तत्र हे इन्द्र······इत्यादि वाक्यार्थः । पूर्वोपात्तो यत्रशब्द उत्तरवाक्ये तत्रशब्दमाक्षिपति । तथैव महर्षिभाष्यम् ।

(निगमनिलयम्) निगमानां वेदानां निलयमाश्रयस्थानम् । तथा च मन्त्रवर्णाः **"यस्मादृचो अपातक्षन्०"** इत्यादि । (ईशम्) जगदीश्वरम् (संप्रणम्य) सर्वात्मना सादरं नत्वा । प्रोपसर्गः पूजाद्योतकः । **"प्र आदिकर्म-**

१—अथर्व १० । ७ । २० ॥

उदीर्ण-भृश-ऐश्वर्य-संभव-वियोग-नियोग-तृप्ति शुद्धि-इच्छा-शक्ति-शान्ति-पूजा-अग्र-दर्शन-सर्वतोभाव-प्राथम्य-ख्याति-व्यवहारेषु-द्रष्टव्यः"

(अथ) अथ शब्दोऽत्र मङ्गलानन्तरारम्भार्थेषु वर्तते । ग्रन्थारम्भे मङ्गलं वैदिकानां प्रसिद्धम् । आनन्तर्यं च ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानिर्माणानन्तरमिति बोध्यम् । आरम्भश्च भाष्यारम्भ इति । यद्वा विस्तृतं वेदभाष्यमुपेत्य समापनेच्छया पुनर्द्वितीयप्रकारं वेदभाष्यमहं कर्तुं प्रवृत्त इति वाऽथ शब्देन द्योत्यते । (वेदत्र्यङ्के) वेदाश्चतुःसंख्या त्रयस्त्रिसंख्या, अङ्का नवसंख्या यस्मिंस्तस्मिन् वेदत्र्यङ्के । (विधुयुतसरे) विधुना चन्द्रेणैकसंख्यया युतो युक्तः सरः संवत्सरस्तस्मिन् "**अङ्कानां वामतो गतिः**" इति न्यायेन १९३४ वैक्रमसंवत्सर इत्यर्थः । पिङ्गलच्छन्दःसूत्रे "**अष्टौ वसवः**" पिङ्गल १ । १५ ॥ इत्यत्र लौकिकप्रसिद्धिमनुसृत्य वस्वादिशब्दैरष्टादिसंख्या परिभाषिता । प्रसिद्धा चेयं सरणिर्ज्यौतिषशास्त्रे ।

"**नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्**" इति सरशब्दः संवत्सरवाचकः । यथोक्तं शब्दानुशासनशास्त्रे—

अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जानाः पदेषु च पदैकदेशान् । वाक्ये तावद् वाक्यैकदेशान् । प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् । पदेषु पदैकदेशान् । देवदत्तोः दत्तः, सत्यभामा भामा ।

(महाभाष्य १ । १ । ४५ । पृष्ठ १११)

अस्यायमर्थः—प्रविश गृहमिति वक्तव्ये 'प्रविश' इत्येवोच्यते । पिण्डीं भक्षयेति वक्तव्ये 'पिण्डीम्' इत्येवोच्यते । प्रविश गङ्गायामिति वक्तव्ये 'प्रविश' इत्येवोच्यते । तर्पणं कुरु इति वक्तव्ये 'तर्पणम्' इत्येवोच्यते । देवदत्त इति वक्तव्ये 'दत्तः' इत्येवोच्यते । सत्यभामेति वक्तव्ये 'भामा' इत्येवोच्यते

तथैवात्र वत्सर इति वक्तव्ये 'सर' इत्येवोक्तं महर्षिणा ।

ननु—

सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते ।

(महाभाष्य २ । १ । १ ॥ पृष्ठ ३६१)

इत्यनुशासनात् कथं वेदत्र्यङ्के इति विशिष्टस्य सरशब्दस्य विधुयुतशब्देन कर्मधारयः । वृत्तस्य वा तस्य कथं विशेषणयोगः । 'विधुयुति सरे' इति पाठः साधीयान् स्यात् । युत् इति क्विबन्तो निर्देशः । उच्यते—सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्

समासः। यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य दासभार्या। समुदायापेक्षया विशेषणम्।

समाहारद्वन्दो वा। वेदानां त्रयाणाम् अङ्कानां समाहारो वेदत्र्यङ्कं तस्मिन् वेदत्र्यङ्के सति विधुयुतसरे इति योज्यम्।

यत्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां महर्षिलिखितं संवत्सरमाक्षिपन् भूमिकाभासकार आह—

"कालरामाङ्कचन्द्रमितेऽब्दे इति वक्तव्ये कालादिभिरेव केवलैः समुद्युङ्क्ते विवोधयितुं संवत्सरमानम् विचित्रेयं मस्करिणोऽस्य वचोभङ्गिः" इति।

तदसाम्प्रतम्। ज्यौतिषशास्त्रे छन्दःशास्त्रे च विनापि मितशब्दं समुद्रादिशब्दैरेव केवलैः संख्यायाः परिभाषितत्वात् तथाहि—

शालिनी म्तौ त्गौ ग् समुद्र ऋषयः

(पिङ्गल ६। २५)

अस्यायमर्थः—यस्य वृत्तस्य पादे मगण तगणौ तगणः द्वौ च गुरू तद् वृत्तं शालिनी नाम यत्र च चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिः।

युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः।
कुजार्कि गुरु शीघ्राणां भगणाः पूर्वयायिनाम्॥

(सूर्यसिद्धान्त १। २९॥)

अस्यायमर्थः—(युगे) एकस्मिन् महायुगे (सूर्य+ज्ञ+शुक्राणाम्) सूर्यबुधभृगूणां (ख चतुष्क रदर्णवाः) अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन ४,३२,००००० भगणा भवन्ति। तावन्त एव भगणाः (पूर्वयायिनां) पूर्वगामिनां (कुज+अर्कि+गुरू-शीघ्राणाम्) मंगल+शनि+बृहस्पतीना शीघ्रोच्चानां भगणाः द्वादशराशिभोगात्मका भवन्ति। द्वादशराशिभोगात्मकस्य कालस्य भगणसंज्ञा।

उभयत्र केवलैरेव समुद्र ऋपि ख रद अर्णव शब्दैः संख्या परिभाषिता। न तु खचतुष्करदार्णवमिता भगणा भवन्तीत्युक्तम्[1]।

(मार्गशुक्ले) मार्गो मार्गशीर्षः। पूर्ववत् नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्। मृगशीर्षेण नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी मार्गशीर्षी साऽस्मिन् मासे भवति स मार्गशीर्षो मासः। तत्सम्बद्धः शुक्लः शुक्लपक्षस्तस्मिन् मार्गशुक्ले अग्रहायणमासस्य शुक्लपक्ष इति। (अङ्गभौमे) अङ्गानि षट्, भूमेरपत्यं भौमो मङ्गलः। शिवादित्वादण्।

१—उभयथापि प्रयोगा दृश्यन्ते तथाहि—

"तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥"
९०६ शकाब्द इत्यर्थः। इत्युदयनः।

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥
८९८ विक्रमाब्द इत्यर्थः। इति वाचस्पतिमिश्रः।

अङ्गोपलक्षिते भौमे षष्ठतिथौ मङ्गलवासर इति । वेदाङ्गानि षड् भवन्तीति अङ्गशब्दः षट् पर्यायः । (अखिलगुणगुणिज्ञानदातुः) न खिलं प्रतिहतं विद्यते यस्मिन् सोऽखिल[1]: सर्वपर्यायः । अखिलानां सर्वेषां पदार्थस्थानां गुणानां धर्माणाम् गुणिनां पदार्थानां च ज्ञानदातुः जगति कियन्तः पदार्थाः के के च तेषां विशिष्टगुणा इति ज्ञानप्रदस्य (हि) हि शब्दोऽत्रावधारणार्थः । अयमृग्वेदो गुणगुणिज्ञानं निश्चिततया ददातीति नात्र विचारणा कार्या । "हि हेत्वपदेश-अनुपृष्ट-असूया-अवधारण-पादपूरण-विस्मयेषु-द्रष्टव्यः" ।

(ऋग्वेदस्य) (भाष्यम्) भाष्यते विवृततया वर्ण्यत इति भाष्यं व्याख्यानम् (कुर्वे) अहं दयानन्दसरस्वती आरभे । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा" शब्दानु० ३ । ३ । १३१ ॥ इति वर्तमानसमीपे भविष्यति लट् । भाष्यं प्रारप्स्य इत्यर्थः ।

मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । तल्लक्षणम्—

"मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ तगौ ग् समुद्रर्तुस्वराः"

(पिङ्गल ७ । १६ ॥)

अस्यायमर्थः—यस्मिन् छन्दसि प्रतिपादं मगण भगण नगण तगण तगणाः द्वौ चान्ते गुरू यतिश्च समुद्र ऋतु स्वर लक्षितेषु चतुर्षु षट्सु सप्तसु यत्र विद्यते तद् वृत्तं मन्दाक्रान्ता नाम ।

महर्षेर्मङ्गलश्लोको । व्याख्यातः ।

साङ्गोपाङ्गवेदाध्ययनं प्रतिजानीत ऋषिः—

(महर्षिभाष्यम्)

"ऋग्भिः स्तुवन्ति" इत्युक्तत्वाद् विद्वांस उक्तपूर्वं वेदार्थज्ञान-साहित्यपठनपुरःसरम् ऋग्वेदमधीत्य तत्रस्थैर्मन्त्रैरीश्वरमारभ्य भूमिपर्यन्तानां पदार्थानां गुणान् यथावद् विदित्वा, एते कार्येषूपकृतये मतिं जनयन्ति"

(ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

(ऋग्भिः) ऋग्वेदमन्त्रैः (स्तुवन्ति) पदार्थानां गुणान् वर्णयन्ति (इत्युक्तत्वात्) इति प्रमाणात् (वेदार्थज्ञानसाहित्यपठनपुरःसरम्) वेदार्थज्ञानस्य सहायभूतं यदङ्गोपाङ्गादि रूपं साहित्यं तस्य पठनम्—अध्ययनं पुरःसरम्—

१—न खिलमवाशिष्टं यस्य सोऽखिलः शेषशून्यः ।

२—ताण्ड्यब्रा० ४ । ६ । ४ ॥ तैत्तिरीयब्रा० २ । २ । ६ । २ ॥

पूर्ववर्ति यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा। अनेन 'त्रिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" इत्यादि मन्त्रककण्टकरूणो वारितः। साङ्गोपाङ्गवेदाध्ययनपूर्वकम्। (उक्तपूर्वम्) अखिलगुणगुणिज्ञानदातारम् (ऋग्वेदम्) (अधीत्य) पठित्वा (तत्रस्थैः मन्त्रैः भूमिमारभ्येश्वरपर्यन्तानां पदार्थानां गुणान् यथावद् विदित्वा) (एते) ईदृशा विद्वांसः (कार्येषु) संसारस्थजनकृत्येषु (मतिं जनयन्ति) स्वज्ञानं प्रयुञ्जते।

अत्र केचिदाहुः 'ऋग्भिः शंसन्ति' इति युक्तः पाठः स्यात्। ऋग्भिः शंसनं क्रियते सामभिः स्तुवन्तीति। 'ऋग्भिः स्तुवन्ति' इति पाठस्याभावाच्च। एवं महर्षिमाक्षिपन्तो मीमांसकास्ताण्ड्यब्राह्मणादिषु 'ऋग्भिः स्तुवन्ति' इति पाठं दृष्ट्वा श्रद्दधतु पारोवर्यविदि भूयोविद्ये महर्षिवर्ये परित्यजन्तु च ऋषिद्रोहबुद्धिमिति।

ऋग्वेदलक्षणमाह ऋषिः—

(महर्षिभाष्यम्)

"ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक् ऋक् चासौ वेदश्च ऋग्वेदः।"

(ऋ० भा० १।१।१॥)

"ऋच स्तुतौ" तुदादिः। तस्मात् (संपदादिभ्यः क्विप्) महाभाष्य ३।३।१०८॥ इति भाष्यवार्तिकात् क्विप्। अयं क्विप् भावेऽकर्तरि च कारक इष्यते।

वेदः—वेदशब्दस्य व्युत्पत्तय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकातो ज्ञेयाः। तथाहि—

विदज्ञाने, विद सत्तायाम्, विदॣ लाभे विद विचारणे, एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते .... विदन्ति-जानन्ति, विद्यन्ते-भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते-लभन्ते, विन्दन्ते-विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषयः पृ० २८२)

अस्यायमर्थः—(विदन्ति-जानन्ति) येषु ग्रन्थेषु यथार्थविज्ञानं वर्तते येषामध्ययनेन वा यथार्थविज्ञानं भवति ते वेदाः। (विद्यन्ते-भवन्ति) येषामध्ययनेन विद्वांसो भवन्ति ते वेदाः। (विन्दन्ति विन्दन्ते-लभन्ते) येषु ग्रन्थेषु सर्वसुखसाधनं प्राप्तं भवति येषामध्ययनेन वा सर्वसुखानां प्राप्ति भवति ते वेदाः। (विन्दन्ते-विचारयन्ति) येषु ग्रन्थेषु सत्यासत्यविचारो वर्तते येषामध्ययनेन वा मनुष्याणां सत्यासत्यविचारो भवति ते वेदाः।

(महर्षिभाष्यम्)

एतस्मिन्नग्निमीड इत्यारभ्य यथा वः सुसहासातिपर्यन्त ऽष्टावष्टकाः सन्ति । तत्रैकैकस्मिन्नष्टावष्टावध्यायाः सन्ति । तेषामेकैकस्य प्रत्यध्यायं वर्गाः संख्यायन्ते ।

प्रथमाष्टके		द्वितीयाष्टके		तृतीयाष्टके		चतुर्थाष्टके		पञ्चमाष्टके		षष्ठाष्टके		सप्तमाष्टके		अष्टमाष्टके	
अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.	अ.	व.
१	३७	१	२६	१	३४	१	३३	१	२७	१	४०	१	४१	१	३०
२	३८	२	२७	२	२६	२	२८	२	३०	२	४०	२	३३	२	२४
३	३५	३	२६	३	३१	३	३१	३	३०	३	४९	३	२६	३	२८
४	२९	४	२९	४	२५	४	३६	४	३०	४	५४	४	२८	४	३१
५	३१	५	२९	५	२६	५	३०	५	२७	५	३८	५	३३	५	२७
६	३२	६	३२	६	३०	६	२५	६	२५	६	३८	६	२८	६	२७
७	३७	७	२५	७	२७	७	२५	७	३३	७	३९	७	३०	७	३०
८	२६	८	२७	८	२६	८	३२	८	३६	८	३३	८	२९	८	४९
	२६५		२२१		२२५		२५०		२३८		३३१		२४८		२४६

इयं संख्या प्रत्यष्टकं वेदितव्या । सर्वेष्टकेषु सर्वे वर्गाः संयुक्ताः २०२४ चतुर्विंशत्याधिके द्वे सहस्रे सन्ति । (ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

ऋग्वेदमहाभाष्यम्

अष्टकाध्यायवर्गमन्त्रसंख्याचित्रम्

(चित्रम् २)

१ अष्टकम्			२ अष्टकम्			३ अष्टकम्			४ अष्टकम्			५ अष्टकम्			६ अष्टकम्			७ अष्टकम्			८ अष्टकम्			
अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	अध्यायः	वर्गाः	मन्त्राः	पूर्णसंख्या
१	३७	१६४	१	२६	१३७	१	३४	१७६	१	३३	१६८	१	२७	१४३	१	४०	२०६	१	४१	२००	१	२०	१६१	
२	३८	१८९	२	२७	१४३	२	२६	१३७	२	२८	१४६	२	३०	१५६	२	४०	२०४	२	३३	१६३	२	२४	१३३	
३	३५	१७३	३	२६	१३२	३	३१	१५८	३	३१	१६४	३	३०	१६५	३	४९	२५८	३	२६	१३५	३	२८	१४८	
४	२९	१५२	४	२९	१४२	४	२५	१३५	४	३६	१७७	४	३०	१५६	४	५४	२६८	४	२८	१३८	४	३१	१६०	
५	३१	१५५	५	२९	१५९	५	२६	१४८	५	३०	१६०	५	२७	१५०	५	३८	१६५	५	३३	१८९	५	२७	१४९	
६	३२	१६३	६	३२	१५७	६	३०	१५९	६	२५	१३२	६	२५	१३२	६	३८	१६७	६	२८	१४१	६	२७	१४०	
७	३७	१७९	७	२५	१३७	७	२७	१४४	७	३५	१७६	७	३३	१६५	७	३९	१९८	७	३०	१५३	७	३०	१७२	
८	२६	१३५	८	२७	१४०	८	२६	१५५	८	३२	१६६	८	३६	१८३	८	३३	२०४	८	२९	१४४	८	४९	२१८	
वर्गाः	२६५			२२१			२२५			२५०			२३८			३३१			२४८			२४६		२०२४
मन्त्राः		१३४०			११४७			१२०९			१२८९			१२६३			१७३०			१२६३			१२८१	१०५२२

(चित्रम् ३)

मण्डलानुवाकसूक्तमन्त्रसंख्याचित्रम्

मण्डलानि		अनुवाकाः	सूक्तानि	मन्त्राः
१		२४	१९१	१९७६
२		४	४३	४२९
३		५	६२	६१७
४		५	५८	५८९
५		६	८७	७२७
६		६	७५	७६५
७		६	१०४	८४१
८		१०	१०३	१७१६
९		७	११४	११०८
१०		१२	१९१	१७५४
पूर्णसंख्या	१०	८५	१०२८	१०५२२

(महर्षिभाष्यम्)

"तथाऽस्मिन्नृग्वेदे दश मण्डलानि सन्ति"

ऋ० भा० १ । १ । १ ॥

अस्मिन्निति पदं शाखान्यव्यवच्छेदाय । तत्र भेदं ब्रूते शौनकः—

(सूक्तसंख्या)

एतत् सहस्रं दश सप्त चैव, अष्टावतो बाष्कलकेऽधिकानि ।
सहस्रमेतत् सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना ।
दश सप्त च पठ्यन्ते संख्यातं वै पदक्रमम् ॥

(शौनकानुक्रमणी ३६, ३९)

अस्यायमर्थः—खिलवर्जम् ऋग्वेदे एकसहस्रं सप्तदश १०१७ सूक्तानि सन्ति । (खिलेषु एकादश ११ सूक्तानि भवन्ति तत्संकलनेन १०१७+११=१०२८ सूक्तसंख्या सम्पद्यते)। बाष्कलशाखायामतः १०१७ सूक्तेभ्योऽष्टौ सूक्तान्यधिकानि (१०२५) सन्ति । पदक्रमादीनामपि संख्या प्रदर्शिताऽस्ति ।

(अनुवाकसंख्या)

तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः ॥
पञ्चाशीतिर्दाशतयेऽनुवाका दृष्टाः पुराणैर्ऋषिभिर्महात्मभिः ।

(शौनकानुक्रमणी ३६, ३७)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदे पञ्चाशीतिः अनुवाकाः सन्ति । खिलेष्वनुवाकविभागो नास्तीति । इयमेव संख्या शाकलचरणान्तर्गतशैशिरीयशाखायाः पारायणस्य ॥

अस्मिन् ऋग्वेदे दशमण्डलानि सन्तीत्युक्त्वा ऋषिभाष्येऽग्रे प्रतिमण्डलमनुवाकसूक्तमन्त्रसंख्या निरूपिता । तत्र ऋषिप्रदर्शितप्रकारमनुसृत्य प्रतिमण्डलमनुवाकमन्त्रसूक्तसंख्या निरूप्यते तत्र चाष्टकाध्यायवर्गसंकेतश्च क्रियते ।

(चित्रम् ४)

तत्र प्रथमे मण्डले २४ अनुवाकाः, १९१ सूक्तानि, १९७६ मन्त्राः सन्ति । तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१ अ	९		११	८		२१	६	७	३१	१८		४१	९
	२	९	४	१२	१२		२२	२१		३२	१५		४२	१०
	३	१२		१३	१२		२३	२४		३३ अ३	१५		४३	९
२	४	१०		१४	१२	६	२४	१५		३४	१२	९	४४	१४
	५	१०		१५	१२		२५	२१		३५	११		४५	१०
	६	१०		१६	९		२६	१०	८	३६	२०		४६	१५
	७	१०		१७	९		२७	१३		३७	१५		४७ इ	१०
३	८	१०	५	१८	९		२८	९		३८	१५		४८	१६
	९	१०		१९	९		२९	७		३९	१०		४९	४
	१०	१२		२० आ	८		३०	२२		४०	८		५०	१३

अ प्रथमाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः अत्र ३७ वर्गाः ।　आ प्रथमाष्टके द्वितीयाध्यायारम्भः अत्र ३८ वर्गाः ।
अ३ " तृतीयाध्यायारम्भः अत्र ३५ वर्गाः ।　इ " चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र २९ वर्गाः ।

२

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१०	५१	१५		७२	१०		९३	१२		११४	११		१३५	९
	५२	१५		७३	१०	१५	९४	१६		११५	६		१३६	७
	५३	११	१३	७४	९		९५ उ	११	१७	११६	२५		१३७ ऋ	३
	५४	११		७५	५		९६	९		११७	२५		१३८	४
	५५	८		७६	५		९७	८		११८	११		१३९	११
	५६	६		७७	५		९८	३		११९	१०	२१	१४०	१३
	५७	६		७८	५		९९	१		१२०	१२		१४१	१३
११	५८	९		७९	१२		१००	१९	१८	१२१	१५		१४२	१३
	५९	७		८०	१६		१०१	११		१२२ उ३	१५		१४३	८
	६०	५		८१ इ३	९		१०२	११		१२३	१३		१४४	७
	६१	१६		८२	६		१०३	८		१२४	१३		१४५	५
	६२ ई	१३		८३	६		१०४	९		१२५	७		१४६	५
	६३	९		८४	२०		१०५	१९		१२६	७		१४७	५
	६४	१५	१४	८५	१२	१६	१०६	७	१९	१२७	११		१४८	५
१२	६५	५		८६	१०		१०७	३		१२८	८		१४९	५
	६६	५		८७	६		१०८	१३		१२९	११		१५०	३
	६७	५		८८	६		१०९	८		१३०	१०		१५१	९
	६८	५		८९	१०		११०	९		१३१	७		१५२	७
	६९	५		९०	९		१११	५		१३२	६		१५३	४
	७०	६		९१	२३		११२	२५		१३३	७		१५४	६
	७१	१०		९२	१८		११३ ऊ	२०	२०	१३४	६		१५५	६

ई प्रथमाष्टके पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र ३१ वर्गाः। इ३ प्रथमाष्टके षष्ठाध्यायारम्भः अत्र ३२ वर्गाः।
उ " सप्तमाध्यायारम्भः अत्र ३७ वर्गाः। ऊ " अष्टमाध्यायारम्भः अत्र २६ वर्गाः।
उ३ द्वितीयाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः अत्र २६ वर्गाः। ऋ द्वितीयाष्टके द्वितीयाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः।

३

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
	१५६	५		१६४	५२		१७२	३	२४	१८०	१०		१८८	११
२२	१५७	६	२३	१६५	१५		१७३	१३		१८१	९		१८९	८
	१५८ ऋ	६		१६६ ऋ३	१५		१७४	१०		१८२	८		१९०	८
	१५९	५		१६७	११		१७५	६		१८३	६		१९१	१६
	१६०	५		१६८	१०		१७६	६		१८४ लृ	६			
	१६१	१४		१६९	८		१७७	५		१८५	११			
	१६२	२२		१७०	५		१७८	५		१८६	११			
	१६३	१३		१७१	६		१७९	६		१८७	११			

(चित्रम् ५)

द्वितीये मण्डले ४ अनुवाकाः, ४३ सूक्तानि, ४२९ मन्त्राः सन्ति । तद्विभागस्त्वित्थम्-

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	१६		१०	६		१९	९		२८	११		३७ ए३	६
	२	१३		११	२१		२०	९		२९	७		३८	११
	३	११	२	१२	१५		२१	६		३०	११		३९	८
	४	९		१३	१३		२२	४		३१	७		४०	६
	५	८		१४	१२	३	२३	१९		३२	८		४१	२१
	६	८		१५	१०		२४ ए	१६	४	३३	१५		४२	३
	७	६		१६	९		२५	५		३४	१५		४३	३
	८	६		१७	९		२६	४		३५	१५			
	९ लृ३	६		१८	९		२७	१७		३६	६			

ऋ द्वितीयाष्टके तृतीयाध्यायारम्भः अत्र २६ वर्गाः । ऋ३ द्वितीयाष्टके चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र २९ वर्गाः ।
लृ " पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र २९ वर्गाः । लृ३ द्वितीयाष्टके षष्ठाध्यायारम्भः अत्र ३२ वर्गाः ।
ए " सप्तमाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः । ए३ " अष्टमाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः ।

(चित्रम् ६)

तृतीये मण्डले ५ अनुवाकाः, ६२ सूक्तानि, ६१७ मन्त्राः सन्ति । तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	२३		१४	७		२७	१५		४० ओ	९		५३	२४
	२	१५		१५	७		२८	६		४१	९	५	५४	२२
	३	११		१६	६		२९	१६		४२	९		५५	२२
	४	११		१७	५	३	३० ऐ३	२२		४३	८		५६ ओ३	८
	५	११		१८	५		३१	२२		४४	५		५७	६
	६	११		१९	५		३२	१७		४५	५		५८	९
	७ ऐ	११		२०	५		३३	१३		४६	५		५९	९
	८	११		२१	५		३४	११		४७	५		६०	७
	९	९		२२	५		३५	११		४८	५		६१	७
	१०	९		२३	५		३६	११		४९	५		६२	१८
	११	९		२४	५		३७	११		५०	५			
	१२	९		२५	५		३८	१०		५१	१२			
२	१३	७		२६	९	४	३९	९		५२	८			

ऐ तृतीयाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः । अत्र ३४ वर्गाः ।

ऐ३ ,, द्वितीयाध्यायारम्भः । अत्र २६ वर्गाः ।

ओ ,, तृतीयाध्यायारम्भः । अत्र ३१ वर्गाः ।

ओ३ ,, चतुर्थाध्यायारम्भः । अत्र २५ वर्गाः ।

(चित्रम् ७)

चतुर्थे मण्डले ५ अनुवाकाः, ५८ सूक्तानि, ५८९ मन्त्राः सन्ति। तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	२०		१३	५		२५	८		३७	८		४९	[illegible]
	२	२०		१४	५		२६	७		३८	१०		५०	११
	३	१६		१५	१०		२७	५		३९	९		५१ ख	[illegible]
	४	१५		१६	२१		२८	५		४०	५		५२	[illegible]
	५ औ	१५		१७	२१		२९	५		४१	११		५३	[illegible]
	६	११		१८	१३		३०	२४		४२	१०		५४	[illegible]
	७	११		१९ औ३	११		३१	१५		४३	७		५५	[illegible]
	८	८		२०	११		३२	२४		४४	७		५६	७
	९	८		२१	११	४	३३ क	११		४५	७		५७	८
	१०	८	३	२२	११		३४	११	५	४६	७		५८	११
२	११	६		२३	११		३५	९		४७	४			
	१२	६		२४	११		३६	९		४८	५			

औ तृतीयाष्टके पञ्चमाध्यायारम्भः। अत्र २६ वर्गाः।
औ३ ,, षष्ठाध्यायारम्भः। अत्र ३० वर्गाः।
क ,, सप्तमाध्यायारम्भः। अत्र २७ वर्गाः।
ख ,, अष्टमाध्यायारम्भः। अत्र २६ वर्गाः।

(चित्रम् ८)

पञ्चमे मण्डले ६ अनुवाकाः, ८७ सूक्तानि, ७२७ मन्त्राः सन्ति । तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	१२		१९	५		३७	५		५५	१०	६	७३	१०
	२	१२		२०	४		३८	५		५६	९		७४	१०
	३	१२		२१	४		३९	५	५	५७	८		७५	९
	४	११		२२	४		४०	६		५८	८		७६	५
	५	११		२३	४		४१	२०		५९	८		७७	५
	६	१०		२४	४		४२	१८		६०	८		७८	९
	७	१०		२५	९		४३	१७		६१	१९		७९	१०
	८	७		२६	९		४४	१५		६२	९		८०	६
	९ ग	७		२७	६	४	४५	११		६३ च	७		८१	५
	१०	७		२८	६		४६	८		६४	७		८२	९
	११	६		२९	१५		४७ ङ	७		६५	६		८३	१०
	१२	६		३०	१५		४८	५		६६	६		८४	३
	१३	६		३१	१३		४९	५		६७	५		८५	८
	१४	६		३२	१२		५०	५		६८	५		८६	६
२	१५	५	३	३३ घ	१०		५१	१५		६९	४		८७	९
	१६	५		३४	९		५२	१७		७०	४			
	१७	५		३५	८		५३	१६		७१	३			
	१८	५		३६	६		५४	१५		७२	३			

ग चतुर्थाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः । अत्र ३३ वर्गाः ।
घ ,, द्वितीयाध्यायारम्भः । अत्र २८ वर्गाः ।
ङ ,, तृतीयाध्यायारम्भः । अत्र ३१ वर्गाः ।
च ,, चतुर्थाध्यायारम्भः । अत्र ३६ वर्गाः ।

(चित्रम् ६)

षष्ठे मण्डले ६ अनुवाकाः ७५ सूक्तानि, ७६५ मन्त्राः सन्ति। तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	१३		१८	१५		३५	५		५२	१७		६९	[illegible]
	२ छ	११		१९	१३		३६	५		५३	१०		७०	[illegible]
	३	८		२०	१३		३७	५		५४	१०		७१	[illegible]
	४	८		२१	१२		३८	५		५५	६		७२	[illegible]
	५	७	३	२२	११		३९	५		५६	६		७३	[illegible]
	६	७		२३	१०		४०	५		५७	६		७४	[illegible]
	७	७		२४	१०		४१	५		५८	४		७५	[illegible]
	८	७		२५	९		४२	४		५९	१०			
	९	७		२६	८		४३	४		६०	१५			
	१०	७		२७	८	४	४४	२४		६१	१४			
	११	६		२८	८		४५	३३	६	६२ ट	११			
	१२	६		२९ झ	६		४६	१४		६३	११			
	१३	६		३०	५		४७	३१		६४	६			
	१४	६		३१	५		४८ ञ	२२		६५	६			
	१५	१९		३२	५		४९	१५		६६	११			
२	१६	४८		३३	५	५	५०	१५		६७	११			
	१७ ज	१५		३४	५		५१	१६		६८	११			

छ चतुर्थाष्टके पञ्चमाध्यायारम्भः। अत्र ३० वर्गाः।
ज ,, षष्ठाध्यायारम्भः। अत्र २५ वर्गाः।
झ ,, सप्तमाध्यायारम्भः। अत्र ३५ वर्गाः।
ञ ,, अष्टमाध्यायारम्भः। अत्र ३२ वर्गाः।
ट पञ्चमाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः। अत्र २७ वर्गाः।

(चित्रम् १०)

सप्तमे मण्डले ६ अनुवाकाः, १०४ सूक्तानि, ८४१ मन्त्राः सन्ति । तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	२५		२२ ड	९		४३	५		६४	५		८५	५
	२ ठ	११		२३	६		४४	५		६५	५		८६	८
	३	१०		२४	६		४५	४		६६	१९		८७	७
	४	१०		२५	६		४६	४		६७	१०		८८	७
	५	९		२६	५		४७	४		६८	९		८९	५
	६	७		२७	५		४८	४		६९	८	६	९०	७
	७	७		२८	५		४९	४		७०	७		९१	७
	८	७		२९	५		५०	४	५	७१	६		९२	५
	९	६		३०	५		५१	३		७२	५		९३	८
	१०	५		३१	१२		५२	३		७३	५		९४	१२
	११	५		३२	२७		५३	३		७४	६		९५	६
	१२	३		३३	१४		५४	३		७५	८		९६	६
	१३	३	३	३४	२५		५५	८		७६	७		९७	१०
	१४	३		३५	१५	४	५६	२५		७७	६		९८	७
	१५	१५		३६ ढ	९		५७	७		७८	५		९९	७
	१६	१२		३७	८		५८	६		७९	५		१००	७
	१७	७		३८	८		५९	१२		८०	३		१०१ थ	६
२	१८	२५		३९	७		६० ण	१२		८१ त	६		१०२	३
	१९	११		४०	७		६१	७		८२	१०		१०३	१०
	२०	१०		४१	७		६२	६		८३	१०		१०४	२५
	२१	१०		४२	६		६३	६		८४	५			

ठ पञ्चमाष्टके द्वितीयाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः । ड पञ्चमाष्टके तृतीयाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः ।
ढ ,, चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः । ण ,, पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः ।
त ,, षष्ठाध्यायारम्भः अत्र २५ वर्गाः । थ ,, सप्तमाध्यायारम्भः अत्र ३३ वर्गाः ।

(चित्रम् ११)

अष्टमे मण्डले १० अनुवाकाः, १०३ सूक्तानि, १७१६ मन्त्राः सन्ति। तद्विभागस्त्वित्थम्-

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	३४		२२	१८		४३	३३		६४	१२		८५	[illegible]
	२	४२		२३	३०		४४	३०		६५	१२		८६	[illegible]
	३	२४		२४	३०		४५	४२		६६	१५		८७	[illegible]
	४	२१		२५	२४		४६ फ	३३	८	६७	२१		८८	[illegible]
	५ द	३९		२६	२५		४७	१८		६८ ब	१९		८९	७
२	६	४८		२७	२२		४८	१५		६९	१८	१०	९०	[illegible]
	७	३६		२८	५	वालखिल्येष्वनुवाकविभागो नास्ति (४९—५९)	४९	१०		७०	१५		९१	७
	८	२३		२९	१०		५०	१०		७१	१५		९२	३३
	९	२१		३०	४		५१	१०		७२	१८		९३	३४
	१०	६		३१	१८		५२	१०		७३	१८		९४	१२
	११ ध	१०		३२ प	३०		५३	८		७४	१५		९५	[illegible]
	१२	३३		३३	१९		५४	८		७५	१६		९६	२१
३	१३	३३		३४	१८		५५	५		७६	१२		९७	१५
	१४	१५		३५	२४		५६	५		७७	११		९८ म	१२
	१५	१३	५	३६	७		५७	४	९	७८	१०		९९	८
	१६	१२		३७	७		५८	३		७९	९		१००	१२
	१७	१५		३८	१०		५९	७		८०	१०		१०१	१६
	१८	२२		३९	१०	७	६०	२०		८१	९		१०२	२२
	१९	३७		४०	१२		६१	१८		८२ भ	९		१०३	१४
	२०	२६		४१	१०		६२	१२		८३	९			
४	२१ न	१८	६	४२	६		६३	१२		८४	९			

द पञ्चमाष्टके अष्टमाध्यायारम्भः अत्र ३१ वर्गाः।
ध षष्ठाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः अत्र ४० वर्गाः।
न षष्ठाष्टके द्वितीयाध्यायारम्भः अत्र ४० वर्गाः।
प ,, तृतीयाध्यायारम्भः अत्र ४१ वर्गाः।
फ ,, चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र २४ वर्गाः।
ब पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र ३८ वर्गाः।
भ ,, षष्ठाध्यायारम्भः अत्र ३८ वर्गाः।
म ,, सप्तमाध्यायारम्भः अत्र ३१ वर्गाः।

(चित्रम् १२)

नवमे मण्डले ७ अनुवाकाः, ११४ सूक्तानि, ११०८ मन्त्राः सन्ति। तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	१०		१९	७		३७	६		५५	४		७३	९
	२	१०		२०	७		३८	६		५६	४		७४	९
	३	१०		२१	७		३९	६		५७	४		७५	५
	४	१०		२२	७		४०	६		५८	४		७६ व	५
	५	११		२३	७		४१	६		५९	४		७७	५
	६	९		२४	७		४२	६		६०	४		७८	५
	७	९	२	२५	६		४३ र	६	३	६१	३०		७९	५
	८	९		२६	६		४४	६		६२	३०		८०	५
	९	९		२७	६		४५	६		६३	३०		८१	५
	१०	९		२८	६		४६	६		६४	३०		८२	५
	११	९		२९	६		४७	५		६५ ल	३०		८३	५
	१२	९		३०	६		४८	५		६६	३०		८४	५
	१३ य	९		३१	६		४९	५		६७	३२		८५	१२
	१४	८		३२	६		५०	५	४	६८	१०	५	८६	४८
	१५	८		३३	६		५१	५		६९	१०		८७	९
	१६	८		३४	६		५२	५		७०	१०		८८	८
	१७	८		३५	६		५३	४		७१	९		८९	७
	१८	७		३६	६		५४	४		७२	९		९०	६

य षष्ठाष्टके अष्टमाध्यायारम्भः। अत्र ३३ वर्गाः।
र सप्तमाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः। अत्र ४१ वर्गाः।
ल ,, द्वितीयाध्यायारम्भः। अत्र ३३ वर्गाः।
व ,, तृतीयाध्यायारम्भ :। अत्र २६ वर्गाः।

२

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
	९१ श	६		९६	२४		१०१ ष	१६		१०६	१४		१११	[illegible]
	९२	६	६	९७	५८		१०२	८		१०७	२६		११२	[illegible]
	९३	५		९८	१२		१०३	६		१०८	१६		११३	११
	९४	५		९९	८	७	१०४	६		१०९	२२		११४	४
	९५	५		१००	९		१०५	६		११०	१२			

(चित्रम् १३)

दशमे मण्डले १२ अनुवाकाः, १९१ सूक्तानि, १७५४ मन्त्राः सन्ति। तद्विभागस्त्वित्थम्—

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
१	१	७		१२	९		२३	७		३४	१४		४५	[illegible]
	२	७		१३	५		२४	६		३५	१४		४६ ॐ	१०
	३	७		१४	१६		२५	११		३६	१४		४७	८
	४	७		१५	१४		२६	९		३७	१२		४८	११
	५	७		१६	१४		२७	२४		३८	५		४९	११
	६ स	७	२	१७	१४		२८	१२		३९	१४		५०	७
	७	७		१८	१४		२९	८		४०	१४		५१	९
	८	९		१९ ह	८	३	३०	१५		४१	३		५२	६
	९	९		२०	१०		३१	११		४२	११		५३	११
	१०	१४		२१	८		३२	९	४	४३	११		५४	६
	११	९		२२	१५		३३ •	९		४४	११		५५	८

श सप्तमाष्टके चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र २८ वर्गाः । ष सप्तमाष्टके पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र ३३ वर्गाः ।
स ,, षष्ठाध्यायारम्भः अत्र २८ वर्गाः । ह ,, सप्तमाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः ।
• ,, अष्टमाध्यायारम्भः अत्र २९ वर्गाः । ॐ अष्टमाष्टके प्रथमाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः ।

२

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
	५६	७		७६	८		९६	१३		११६	९		१३६	७
	५७	६		७७	८		९७	२३		११७	९		१३७	७
	५८	१२		७८	८		९८	१२		११८	९		१३८	६
	५९	१०		७९	७		९९	१२		११९	१३		१३९	६
	६०	१२		८०	७	९	१००	१२		१२० ळ	९		१४०	६
५	६१	२७		८१	७		१०१	१२		१२१	१०		१४१	६
	६२ ॅ	११		८२	७		१०२	१२		१२२	८		१४२	८
	६३	१७		८३	७		१०३	१३		१२३	८		१४३ ऌ	६
	६४	१७		८४	७		१०४	११		१२४	९		१४४	६
	६५	१५	७	८५	४७		१०५	११		१२५	८		१४५	६
	६६	१५		८६ ≍क	२३		१०६ ँ	११		१२६	८		१४६	६
	६७	१२		८७	२५		१०७	११		१२७	८		१४७	५
	६८	१२		८८	१९		१०८	११		१२८	९		१४८	५
६	६९	१२		८९	१८		१०९	७	११	१२९	७		१४९	५
	७०	११		९०	१६		११०	११		१३०	७		१५०	५
	७१	११	८	९१	१५		१११	१०		१३१	७		१५१	५
	७२	९		९२	१५		११२	१०		१३२	७	१२	१५२	५
	७३ अः	११		९३	१५	१०	११३	१०		१३३	७		१५३	५
	७४	६		९४	१४		११४	१०		१३४	७		१५४	५
	७५	९		९५ ≍प	१८		११५	९		१३५	७		१५५	५

ॅ अष्टमाष्टके द्वितीयाध्यायारम्भः अत्र २४ वर्गाः । अः अष्टमाष्टके तृतीयाध्यायारम्भः अत्र २८ वर्गाः ।

≍क ,, चतुर्थाध्यायारम्भः अत्र ३१ वर्गाः । ≍प ,, पञ्चमाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः ।

ँ ,, षष्ठाध्यायारम्भः अत्र २७ वर्गाः । ळ ,, सप्तमाध्यायारम्भः अत्र ३० वर्गाः ।

ऌ ,, अष्टमाध्यायारम्भः अत्र ४१ वर्गाः ।

३

अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः	अनुवाकः	सूक्तम्	मन्त्राः
	१५६	५		१६४	५		१७२	४		१८०	३		१८८	३
	१५७	५		१६५	५		१७३	६		१८१	३		१८९	३
	१५८	५		१६६	५		१७४	५		१८२	३		१९०	३
	१५९	६		१६७	४		१७५	४		१८३	३		१९१	४
	१६०	५		१६८	४		१७६	४		१८४	३			
	१६१	५		१६९	४		१७७	३		१८५	३			
	१६२	६		१७०	४		१७८	३		१८६	३			
	१६३	६		१७१	४		१७९	३		१८७	५			

अस्मिन् ऋग्वेदे दश (१०) मण्डलानि, पञ्चाशीतिः (८५) अनुवाकाः, एकसहस्रमष्टाविंशतिश्च (१०२८) सूक्तानि, अथ च अष्टौ (८) अष्टकाः, चतुःषष्टिः (६४) अध्यायाः, चतुर्विंशत्यधिके द्वे सहस्रे (२०२४) वर्गाः । मन्त्राश्च दश सहस्रं पञ्चशतं द्वाविंशतिश्च (१०५२२) सन्तीति बोध्यम् ।

(महर्षिभाष्यम्)

स एतैः पूर्वोक्ताष्टकाध्यायवर्गमण्डलानुवाकसूक्तमन्त्रै-र्भूषितोऽयमृग्वेदोऽस्तीति वेदितव्यम् ।

ऋ० भा० १ । १ । १ ॥

अपौरुषेयोऽयमष्टकाध्यायवर्गमण्डलानुवाकसूक्तमन्त्रविभागः, नत्वार्षः । इत्यनेन–

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उद्ग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥
वर्गाणामपि निर्देश आर्ष एवेति निश्चयः ।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥

(वेङ्कट माधव ऋ० भा० ५ । ५ ।)

१–प्रदेशानाम् उद्ग्राहार्थम् = उदाहरणनिर्देशार्थमित्यर्थः ।

इत्यादि वेङ्कटमाधवोक्तमपास्तम् ।

अत्राह महर्षिः—

अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठन-मन्त्रपरिगणनं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद् विधानं कृतमस्तीति।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तरविषयः पृ० ६८६)

इदमत्रानुसन्धेयम्—मन्त्राणामर्थवैविध्यात् कश्चिदर्थोऽनुवाके समाप्यते किंचित् प्रकरणं सूक्ते समाप्तिं निगच्छति तथा ऽपरश्च विषयो मण्डले समाप्तो भवति । एवमादिरर्थविषयविभागतः परिच्छेदः । सचायमपौरुषेयो विभागो न तु ऋषिभिः कर्तुं शक्यते मन्त्राणां विविधार्थस्य ब्रह्मणा निर्धारितत्वात् । तथाहि—

अष्टावध्याया यस्मिन् सो ऽष्टकः । प्रत्यष्टकमष्टावध्याया भवन्ति । अधीयते पठ्यते कश्चिद् विशिष्टविषयो यस्मिन् सो ऽध्यायः । वर्जनं वर्गः समानविभागेन पृथक्करणम् । वर्गैर्मन्त्राणां प्रायः समानविभागः क्रियते । मण्डयति भूषयति विशिष्टं प्रकरणमिति मण्डलम् । अनूच्यते अनुक्रमेण कथ्यते कश्चिद् विषयो यस्मिन् सोऽनुवाकः । सुष्ठूच्यते सम्यक्तया वर्ण्यते किंचित् प्रकरणं यत्र तत् सूक्तम् । मन्त्रा मननात् कश्चिद् गम्भीरप्रज्ञ एव मन्त्रानवबोद्धुं समर्थ इति ।

(मण्डलेष्वनुवाकसंख्यामाह शौनकः—)

आद्ये चतुर्विंशति (२४) र्ह्यनुवाकाः ।
अत परं मण्डलं यच्चतुष्कम् (४) ।
द्वे पञ्चके (५–५) त्रीणि षट्कानि (६–६–६) चैव ।
दशा (१०) ष्टकं, सप्त (७) नवमं, द्वादशान्त्यम् (१२) ॥

(शौनकानुक्रमणी ३२)

अस्यायमर्थः—आद्ये प्रथमे मण्डले चतुर्विंशतिः अनुवाकाः । अतः परं यत् मण्डलं द्वितीयमित्यर्थस्तत्र चतुष्कं चत्वारोऽनुवाकाः । द्वे पञ्चके=अतःपरं द्वयोर्मण्डलयोस्तृतीयचतुर्थयोरित्यर्थः पञ्च पञ्चानुवाकाः । त्रीणी षट्कानि=अतः परं त्रिषु मण्डलेषु पञ्चमषष्ठसप्तममण्डलेष्वित्यर्थः षट् षट् अनुवाकाः । दशाष्टकम्=अष्टमे मण्डले दशानुवाकाः । सप्त नवमं=नवमे मण्डले सप्तानुवाकाः । द्वादशान्त्यम्=अन्तिमे मण्डले दशमे मण्डल इत्यर्थः द्वादश अनुवाकाः सन्ति ।

(मण्डलेषु सूक्तसंख्यामाह शौनकः—)

१–एकाधिका स्यान् नवतिः शतं (१९१) च ।
वदन्ति वै मण्डलमादितो यत् ।
२–चत्वारिंशत् त्रीणि (४३) चाहुर्द्वितीयम् ।
३–सूक्ते च षाष्टिं च (६२) तृतीयमाहुः ॥ ३३ ॥
४–अष्टापञ्चाशदपि (५८) यच्चतुर्थम् ।
५–सप्ताधिकाशीति (८७) रतः परं स्यात् ॥
६–पञ्चाधिका सप्तति (७५) रुत्तरं तु ।
७–चत्वारि वाशिष्ठमथो शतं (१०४) च ॥ ३४ ॥
८–द्वे चैव सूक्ते नवतिं (९२) च विद्यादथाष्टमम् ।
९–नवमं वै शतं स्यात् चतुर्दश प्याहुराधिकान्यपप् (११४) ।
१०–आद्ये यदुक्तं दशमे तथैव (१९१) ॥ ३५ ॥
एतत् सहस्रं दश सप्त (१०१७) चैव ।
अष्टावतो वाष्कलके ऽधिकानि (१०२५) ।
तान् पारणे शाकले शैशिरीये ।
वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः ॥ ३६ ॥
पञ्चाशीति र्दाशतये ऽनुवाका
दृष्टाः पुराणै ऋषिभिर्महात्माभिः ।
यस्तान् ऋग्विद् वेद चैवाप्यधीते
नाकपृष्ठं भजते ह शश्वत् ॥ ३७ ॥
अध्यायनां चतुः षष्टि (६४) र्मण्डलानि दशैव (१०) तु
वर्गाणां तु सहस्रे द्वे संख्याते च षडुत्तरे (२००६) ॥ ३८ ॥
सहस्रमेतत् सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना ।
दश सप्त (१०१७) च पठ्यन्ते संख्यातं वै पदक्रमम् ॥ ३९ ॥
ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

(शौनकानुक्रमणी ३३–३९, ४३)

अस्यायमर्थः—आदितो यन्मण्डलं प्रथमं तत्र १९१ सूक्तानि वदन्ति। द्वितीयं यन् मण्डलं तत्र ४३ सूक्तानि वदन्ति। तृतीयं यन् मण्डलं तत्र सूक्ते=सूक्तद्वयं षष्टिं च (६२) आहुः। यच्चतुर्थं मण्डलं तत्र ५८ सूक्तान्याहुः। अतः परं यत् पञ्चमं मण्डलं तत्र ८७ सूक्तान्याहुः। उत्तरं तु=अतः परं यत् षष्ठं मण्डलं तत्र ७५ सूक्तान्याहुः। अथो=अतः परं यत् सप्तमं मण्डलं यस्य वशिष्ठ ऋषिस्तत्र मण्डले १०४ सूक्तान्याहुः। अथाष्टमं यन् मण्डलं तत्र ९२ सूक्तानि विद्यात्। (अष्टमे मण्डले एकादश (११) खिलसूक्तानि तत्संकलनेन ९२+११=१०३ सूक्तानि भवन्ति)। यन् नवमं मण्डलं तत्र शतं चतुर्दश च (११४) अप्याहुः सूक्तानि। 'प्याहुः' इत्यत्र "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यपिशब्दस्याकारलोपः। चतुर्दश त्वाहुरित्यन्ये पठन्ति। आद्ये=प्रथमे मण्डले यदुक्तम्=१९१ सूक्तानि तावन्ति वदन्तीति दशमे तथैव १९१ सूक्तानि। दाशतये[1]=ऋग्वेदे पञ्चाशीतिः (८५) अनुवाकाः पुराणैर्महात्मभिर्दृष्टाः।ताननुवाकान् शाकल्यशिष्य[2]शैशिरिप्रोक्तशाखापारायणे शिष्टा विप्रा वदन्ति, परं न खिलेषु-खिलेष्वनुवाकविभागो नास्ति। य ऋग्वेदवेत्ता तान् अनुवाकादीन् वेद, अपि चैवाधीते स ह शश्वत् सदा नाकपृष्ठं मोक्षपदं भजत इत्यर्थवादः। अस्मिन् ऋग्वेदे चतुःषष्टिः (६४) अध्यायाः। दश (१०) मण्डलानि। २००६ वर्गाः (खिलेषु १८ वर्गास्तत्संकलनेन २०२४ वर्गा भवन्ति)। ऋग्वेदस्य सर्वासु शाखासु १०५८० मन्त्रा एकः पादश्च भवन्ति इति शौनकमते पारायणसंख्या। शिष्टं २५ पृष्ठे व्याख्यातम्—महर्षिभाष्ये १०५८९ संख्या।

अस्मिन् व्याख्यास्यमान ऋग्वेदे १०५२२ मन्त्राः सन्तीति महर्षेरभिमतं तत्र विविधमतविवेचनं क्रियते।

१—दश अवयवा मण्डलाख्या यस्य तस्मिन् दाशतये=ऋग्वेदे। दशन् शब्दात् 'संख्याया अवयवे तयप्' शब्दानु० ५। २। ४२॥ इति तयप्। स्वार्थेऽण् प्रत्यये दाशतय शब्दो निष्पद्यते। 'टिड्ढाणञ्०' शब्दानु० ४। १। १५॥ इति दशतयशब्दाद् ङीपि दशतयी शब्दः सिध्यति। दशतयी शब्दः निरुक्त ७। ८। इत्यादिस्थलेषु द्रष्टव्यः। 'दाशतयी' इति च।

२—शाकल्यस्य पञ्च शिष्याः। मुद्गलो गालवः शालीयो वात्स्यः शैशिरिश्च। सर्वे शिष्यास्तैः प्रोक्ताः शाखाश्च शाकलनाम्ना प्रसिद्धा इत्यनुसन्धेयम्।

ऋग्वेदभाष्य को नीचे लिखे प्रकार से महर्षि प्रारम्भ करते हैं—

ऋग्वेदः

("अथर्ग्वेदभाष्यारम्भः)

भाष्य भाषा—(अथ) चारों वेदों और वेदों की शाखा आदि में विद्यमान विषयों पर चतुर्वेदविषयसूचीरूप ग्रन्थ लिख कर और ऋग्वेद के अति विस्तृत भाष्य का प्रकार भी दिखा कर तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का निर्माण करने के अनन्तर (ऋग्वेदभाष्यारम्भः) ऋग्वेद के इस भाष्य का आरम्भ [किया जाता है]।

प्रदीप भाषा—संवत् १९३३ अगहन मास की पूर्णिमा के दिन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका महर्षि ने पूर्ण की उन दिनों ऋषिवर बरेली नगर में विराजमान थे।

अथ शब्द यहाँ मङ्गलवाचक भी है। अथ शब्द को मङ्गलवाची बताने के लिये अर्थवाद के रूप में इस प्रकार कहा गया है कि—

'ओ३म्' और 'अथ' शब्द ऐसे हैं मानो ब्रह्म का कोई मुख हो और उसमें से ये दोनों शब्द निकले हों। ये दोनों शब्द 'ओ३म्' और 'अथ' माङ्गलिक हैं। अथवा (ब्रह्म) ब्रह्माण्ड की प्रथम ध्वनि ओ३म् और अथ शब्द हैं।

ओङ्कारं वेदेषु। अथकारं भाष्येषु ॥ य० प्रा० १। १८, १९ ॥

इस कथन के अनुसार अथ शब्द का प्रयोग भाष्य के प्रारम्भ में महर्षि ने किया है।

भाष्य को आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम ऋषिवर अपनी अति प्रिय ऋचा 'विश्वानि देव०' को स्मरण करते हैं। उसका प्रकरणसंगत अर्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में व्याख्यात का आश्रय लेकर अर्थ किया जाता है—

भा० भा०—हे (देव) सूर्य आदि सकल जगत् के और विद्या के प्रकाशक, हे (सवितः) सकल जगत् के निर्माण कर्ता प्रभो! आप (नः) हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) इस वेदभाष्य करने के अनुष्ठान में जो दुष्ट विघ्न हैं उनको (परासुव) प्राप्त होने से पूर्व ही दूर कर दीजिये। और (यत्) जो इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या के प्रकाश आदि (भद्रम्) कल्याण हैं (तत्) उस सब को (नः) हमारे लिये (आ सुव) प्राप्त कराइए।

(भाष्य के आरम्भ में महर्षिकृत मङ्गलश्लोक)

(या चतुर्वेदसंस्तावना) जो चारों वेदों की संस्तावना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (विद्यानन्दम्) ज्ञानविज्ञानात्मक विद्या के ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द को (सम्+अवति) निरन्तर देती है [उस को] (संपूर्य) विषय निर्देश की उत्कृष्टता और भाषा आदि के औचित्य के साथ पूर्ण करके (निगमनिलयम्) वेदों के आधार (ईशम्) प्रभु को (संप्रणम्य) सर्वात्मना और सादर प्रणाम करके (अथ) उपर्युक्त का निर्माण करके अथवा विस्तृत वेदभाष्य को छोड़ कर समाप्त करने की इच्छा से अब (वेदत्र्यङ्क विधुयुतसरे) १९३४ विक्रमसंवत्सर (मार्गशुक्ले) अगहनमास के शुक्ल पक्ष में (अङ्कभौमे)

६ तिथि मङ्गलवार के दिन (हि) निश्चित रूप से (अखिलगुणगुणिज्ञानदातुः) संसार के समस्त पदार्थों और उन पदार्थों के गुणों का ज्ञान देने वाले (ऋग्वेदस्य) ऋग्वेद के (भाष्यम्) भाष्य को मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती (कुर्वे) प्रारम्भ कर रहा हूं।

प्र० भा०—'चतुर्वेदसंस्तावना' इस से महर्षि ने यह सिद्धान्त प्रकट किया है कि अपौरुषेय वेद चार हैं तीन नहीं। 'विद्यानन्द' इस से ऋषिवर वेदाध्ययन की आवश्यकता क्यों है यह बताते हैं। 'निगमनिलयम्' इस से वेदों का अपौरुषेयत्व दर्शाया है। 'ईशम्' शब्द यह दर्शाता है कि क्योंकि प्रभु हमारा स्वामी है अतः हमारे कल्याण के लिये उसने हमें वेद दिये। 'संपूर्य' में सम् उपसर्ग यह भाव प्रकट करता है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है और उसमें विषयों का निर्देश उचित ढंग से किया गया है। 'संप्रणम्य' में सम् उपसर्ग इस भाव का दर्शक है कि महर्षि के सर्वस्व प्रभु हैं उस प्रभु को सर्वात्मना प्रणाम कर रहे हैं और प्र उपसर्ग आदर वाचक कहा है। उपसर्गों के अनेक अर्थ संस्कृतभाष्य में देखो।

संवत्सर आदि लिखने में अङ्कों को विशेष शब्दों से निर्देश किया जाता है जैसे १ संख्या को चन्द्र कहेंगे क्योंकि चन्द्रमा एक है इत्यादि। और ये अङ्क जिस क्रम से कहे जाते हैं उस से उलटे क्रम से रखे जाते हैं। जैसे यहाँ वेद ४, त्रि ३, अङ्क ६, विधु=चन्द्र १, १६३४ विक्रम संवत्सर। अङ्क शब्द ६ का वाचक है क्योंकि वेदाङ्ग ६ हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन पर भूमिकाभास नाम का ग्रन्थ छपा था उसमें लिखा है कि स्वामी दयानन्दसरस्वती संवत्सर लिखते समय 'मित' शब्द को विना लगाये संवत्सर का निर्देश करते हैं। जैसे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है "कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे" और यहाँ ऋग्वेदभाष्य में लिखा है "वेदत्र्यङ्के"। ठीक यह होता कि कालरामाङ्कचन्द्रमिते और "वेदत्र्यङ्कमिते" लिखते। भूमिकाभासकार का यह कहना नितान्त अज्ञानतापूर्ण है क्योंकि मित शब्द विना लगाये भी विद्वान् संवत्सर को लिखते हैं जैसे वाचस्पतिमिश्र ने बिना मित शब्द लगाये संवत्सर का निर्देश किया है। यथा—"वस्वङ्कवसुवत्सरे"। विशेष प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखो पृ० २०। इस श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है।

भा० भा०—(ऋग्भिः स्तुवन्ति) ताण्ड्यमहाब्राह्मण आदि में यह वर्णन है कि ऋग्वेद के मन्त्रों के सहाय से विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं [जैसे सार्पराज्ञी ब्रह्मवादिनी ऋषिका ने जिन मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया है ऋग्वेद के उन मन्त्रों (आयं गौः पृश्निरक्रमीत्० ऋ० १०। १८९। १ इत्यादि) से पृथिवी का वर्णन किया जाता कि यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है]। (इत्युक्तत्वात्) ताण्ड्यब्राह्मणकार आदि ऋषियों के ऐसे वचनों से यह सिद्ध है कि ऋग्वेद के मन्त्र सब वस्तुओं के गुणों का वर्णन करते हैं अतः (एते) ये (विद्वांसः) विद्वान् लोग (उक्तपूर्वम्) जैसा पूर्व वर्णन किया है कि ऋग्वेद संसार के समस्त पदार्थों और पदार्थों के गुणों का ज्ञान देने वाला है ऐसे (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (वेदार्थज्ञानसाहित्यपठनपुरःसरम्) वेदार्थ ज्ञान

में सहायक अङ्ग उपाङ्ग आदि जितना साहित्य है उस सब के पठन पूर्वक (अधीत्य) पढ़कर (तत्रस्थैः मन्त्रैः) ऋग्वेद में वर्तमान १०५२२ मन्त्रों से (ईश्वरम् आरभ्य भूमि पर्यन्तानां पदार्थानाम्) ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब पदार्थों के (गुणान्) गुणों को (यथावत्) ठीक तरह से (विदित्वा) समझ कर (कार्येषु) संसार के मनुष्यों के उपकारकार्य में (मतिं जनयन्ति) अपने उस ज्ञान का प्रयोग करते हैं अथवा (कार्येषु) क्रिया में (मतिं जनयन्ति) अपनी बुद्धि या उस ज्ञान का प्रयोग करते हैं अर्थात् क्रियात्मकरूप से करके देखते हैं।

(अनया) इस ऋचा से (पदार्थानाम्) पदार्थों के (गुणकर्मस्वभावान्) गुण क्रिया और स्वभावों का (ऋचन्ति=स्तुवन्ति) वर्णन करते हैं अतः (सा ऋक्) वह ऋचा कहाती है ऋक् और वेद (जो यह सत्य सत्य ज्ञान का हेतु है) मिलकर ऋग्वेद शब्द बनता है। वेदशब्द की अनेक व्युत्पत्तियां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में देखो (ऋग्वेदादि० पृष्ठ २८२, २८३)

(एतस्मिन्) इस ऋग्वेद में ("अग्निमीळ" इत्यारभ्य 'यथा वः सुसहासति पर्यन्ते) प्रथम मन्त्र' अग्निमीळे पुरोहितम्०' इत्यादि से लेकर 'यथा वः सुसहासति०' इस अन्तिम मन्त्र तक (अष्टौ अष्टकाः सन्ति) आठ अष्टक हैं (तत्र एकैकस्मिन्) उन आठ अष्टकों में एक एक में (अष्टौ अष्टौ अध्यायाः सन्ति) आठ आठ अध्याय हैं। (तेषाम्) उन अध्यायों के मध्य में (एकैकस्य) एक एक अध्याय की (प्रत्यध्यायम्) अध्यायक्रम से (वर्गाः संख्यायन्ते) वर्गों की संख्या भी लिखी जाती है [देखो पृष्ठ २३

(इयं संख्या) यह पृष्ठ २३ में लिखी संख्या (प्रत्यष्टकम् वेदितव्या) अष्टक क्रम से प्रत्येक अष्टक की जानो। (सर्वेषु अष्टकेषु) सब आठों अष्टकों में (सर्वे वर्गाः संयुक्ताः) सब वर्ग मिल कर (चतुर्विंशत्यधिके द्वे सहस्रे) चौबीस अधिक दो सहस्र अर्थात् २०२४ (सन्ति) हैं।

(तथा) और (अस्मिन् ऋग्वेदे) इस ऋग्वेद में (दश मण्डलानि सन्ति) दश मण्डल हैं।

प्र० भा०—ऋग्वेद का विभाग दो प्रकार से है—

१—अष्टक, अध्याय, वर्ग, मन्त्र। २—मण्डल, सूक्त, मन्त्र। जहाँ मन्त्र के आगे चार अङ्क लिखें हों वहाँ अष्टक अध्याय वर्ग मन्त्र विभाग जानो। और जहाँ मन्त्र के आगे तीन अङ्क हों वहाँ मण्डल सूक्त मन्त्र विभाग समझो। ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं और प्रत्येक अष्टक में आठ आठ अध्याय हैं इस प्रकार ६४ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कितने वर्ग और मन्त्र हैं यह बात चित्र सं० २ में पृष्ठ २४ पर देखो। वर्ग प्रायः पाँच पाँच मन्त्रों पर नियत किया गया है। यदि सूक्त में पाँच से विभाग होने पर पाँच से कुछ कम या कहीं अधिक मन्त्र होते हैं तो ४, ३, या ६ आदि पर भी वर्ग की समाप्ति देखी जाती है। प्रत्येक अध्याय से वर्गसंख्या प्रारम्भ होती है और उस अध्याय की समाप्ति होने पर दूसरे अध्याय से फिर नई वर्ग संख्या

प्रारम्भ हो जाती है। पर वर्ग का पाँच पाँच का विभाग प्रत्येक सूक्त पर अलग किया जाता है अध्याय भी सूक्त के प्रारम्भ से ही आरम्भ होता है। और अष्टक भी किसी सूक्त की समाप्ति पर ही समाप्त होता है। अतः ये दोनों विभाग सर्वथा एक दूसरे से पृथक नहीं हैं।

ऋग्वेद का दूसरा विभाग मण्डल सूक्त और मन्त्रों के क्रम से है। इसके अन्तर्गत अनुवाक विभाग भी है। उसको चित्र सं० ३ में पृष्ठ २५ पर देखो। ये सब विभाग मन्त्रों में प्रतिपादित विषयों के दृष्टिकोण से हैं। ऋग्वेद में दश मण्डल हैं और प्रत्येक मण्डल में सूक्त और मन्त्र आदि का विभाग ऋषि प्रदर्शित शैली से दिखाते हैं—

प्रथम मण्डल में २४ अनुवाक हैं और १९१ सूक्त तथा १९७६ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र संख्या ४ में पृष्ठ २६–२८ पर देखो।

द्वितीय मण्डल में ४ अनुवाक हैं और ४३ सूक्त तथा ४२९ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ५ में पृष्ठ २८ पर देखो।

तृतीय मण्डल में ५ अनुवाक हैं और ६२ सूक्त तथा ६१७ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ६ में पृष्ठ २९ पर देखो।

चतुर्थ मण्डल में ५ अनुवाक हैं और ५८ सूक्त तथा ५८९ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ७ में पृष्ठ ३० पर देखो।

पञ्चम मण्डल में ६ अनुवाक हैं और ८७ सूक्त हैं तथा ७२७ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ८ में पृष्ठ ३१ पर देखो।

षष्ठ मण्डल में ६ अनुवाक हैं और ७५ सूक्त हैं तथा ७६५ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ९ में पृष्ठ ३२ पर देखो।

सप्तम मण्डल में ६ अनुवाक हैं और १०४ सूक्त हैं तथा ८४१ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० १० में पृष्ठ ३३ पर देखो।

अष्टम मण्डल में १० अनुवाक हैं और १०३ सूक्त हैं तथा १७१६ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० ११ में पृष्ठ ३४ पर देखो।

नवम मण्डल में ७ अनुवाक हैं और ११४ सूक्त तथा ११०८ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० १२ में पृष्ठ ३५-३६ पर देखो।

दशम मण्डल में १२ अनुवाक हैं और १९१ सूक्त हैं तथा १७५४ मन्त्र हैं। उनका विभाग चित्र सं० १३ में पृष्ठ ३६-३८ पर देखो।

मण्डल सूक्त और मन्त्रों के विभाग बताने वाले उपर्युक्त चित्रों में हमने वर्णमाला के ६४ अक्षरों से ६४ अध्यायों पर जो टिप्पण दिये हैं उसमें यह भी साथ साथ दिखाया गया है कि मण्डल और सूक्त के अन्दर कहाँ पर अष्टक प्रारम्भ होते हैं और कहाँ प्रत्येक अष्टक का अध्याय प्रारम्भ होता है और उस अध्याय में कितने वर्ग हैं।

इस प्रकार संपूर्ण ऋग्वेद में १० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०२८ सूक्त हैं और ८ अष्टक, ६४ अध्याय, २०२४ वर्ग और १०५२२ मन्त्र हैं।

भा० भा०—(सः अयम् ऋग्वेदः) वह यह ऋग्वेद (पूर्वोक्ताष्टकाध्यायवर्गमण्डलानुवाकसूक्तमन्त्रैः) जैसा ऊपर वर्णन किया है उसके अनुसार अष्टक अध्याय वर्ग तथा मण्डल अनुवाक सूक्त मन्त्रों के विभागों से (भूषितः) सार्थक विभागीकृत है।

प्र० भा०—यह अष्टक अध्याय आदि का विभाग अपौरुषेय है अर्थात् मनुष्यकृत नहीं है। ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कट माधव ने जो यह कहा है कि अष्टक अध्याय का विभाग ऋषियों ने किया है (देखो पृष्ठ ३८)। यह बात असत्य है। महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी महाराज ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रश्नोत्तर विषय में अष्टक आदि के विभाग के नीचे लिखे कारण बताये हैं।

क. पठन पाठन की सुविधा

ख. मन्त्रों की गणना की सुविधा

ग. और पृथक् पृथक् विद्याओं के अनुसार पृथक् पृथक् प्रकरणों का ज्ञान।

इन विभागों को इस प्रकार समझो—

अष्टक—जिसमें आठ अध्याय हों उसे अष्टक कहते हैं।

अध्याय—जितने में किसी विशेष विषय का प्रतिपादन हो उसको अध्याय कहते हैं।

वर्ग—समान विभाग द्वारा जिसका विभाग सुगमता के लिये किया जाय उसको वर्ग कहते हैं। वर्ग प्रायः पाँच पाँच मन्त्रों पर समाप्त होता है।

मण्डल—प्रकरणविशेष को जो अलंकृत करे उसको मण्डल कहते हैं।

अनुवाक—कोई विषय जिसमें अनुक्रम से कहा जावे उसको अनुवाक कहते हैं।

सूक्त—जिसमें पूर्ण किसी विषय का वर्णन हो उसको सूक्त कहते हैं।

मन्त्र—अत्यन्त मनन करने से जो गूढ़ अर्थों को प्रकाशित करे वह मन्त्र कहाता है। कोई गम्भीर बुद्धिवाला ही मन्त्रार्थ समझने में समर्थ होता है।

यह प्रकरण आदि का विभाग मनुष्य की शक्ति से परे है वह तो ब्रह्म की कृति है।

शौनक ऋषि ने अपनी अनुक्रमणी में मण्डल आदि की संख्या के विषय में लिखा है कि—

प्रथम मण्डल में २४ अनुवाक हैं। उसके आगे जो दूसरा मण्डल है उसमें ४ अनुवाक हैं। उसके आगे के तीसरे और चौथे मण्डल में पाँच पाँच अनुवाक हैं। अगले तीन मण्डलों में अर्थात् पाँचवें, छठे और सातवें मण्डल में छै छै अनुवाक हैं।

अष्टम मण्डल में १० अनुवाक हैं। नवम मण्डल में ७ अनुवाक हैं, और अन्तिम दशम मण्डल में १२ अनुवाक हैं। (संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ३९ पर देखो)।

प्रत्येक मण्डल में सूक्तसंख्या के विषय में शौनक ने अपनी अनुक्रमणी में इस प्रकार लिखा है कि—

ऋग्वेद के आदि प्रथम मण्डल को एक अधिक ६० और सौ सूक्तवाला कहते हैं अर्थात् १९१ सूक्त प्रथम मण्डल में हैं। द्वितीय मण्डल ४० और तीन सूक्तवाला है अर्थात् ४३ सूक्त द्वितीय मण्डल में हैं। तृतीय मण्डल में साठ और दो सूक्त अर्थात् ६२ सूक्त हैं। चतुर्थ मण्डल ५८ सूक्तवाला है। उस से अगला पञ्चम मण्डल ८७ सूक्तवाला है। उस से अगला छठा मण्डल ७५ सूक्तवाला है। जिस सम्पूर्ण मण्डल का वशिष्ठ अर्थद्रष्टा ऋषि है उस सप्तम मण्डल में १०४ सूक्त हैं। अष्टम मण्डल में ९२ सूक्त हैं (यह सूक्तसंख्या खिल सूक्तों को छोड़ कर है। अष्टम मण्डल में ११ खिलसूक्त हैं अतः ९२+११=१०३ सूक्त अष्टम मण्डल में हैं। खिलों के सम्बन्ध में आगे विस्तार से लिखेंगे) नवम मण्डल में १४ अधिक सौ अर्थात् ११४ सूक्त हैं; और जितने सूक्त प्रथम मण्डल में बताये हैं उतने ही दशम मण्डल में सूक्त हैं अर्थात् १९१ सूक्त दशम मण्डल में हैं। (खिलों की ११ सूक्तसंख्या छोड़कर) १०१७ सूक्त ऋग्वेद में है। बाष्कलशाखा में इस १०१७ से आठ सूक्त अधिक है अर्थात् १०२५ सूक्त है प्राचीन महात्मा ऋषियों ने दश मण्डलयुक्त ऋग्वेद में ८५ अनुवाक देखे हैं। उन ८५ अनुवाकों का शाकल्यशिष्य शैशिरि प्रोक्त शाखा पारायण में वर्णन करते हैं। परन्तु यह अनुवाक विभाग खिलसूक्तों में नहीं है। जो व्यक्ति इन अनुवाकादि विभागों के अनुसार मन्त्रों को समझता है वह ऋग्वेद को ठीक ठीक समझ कर गुण गुणि ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधनों में यह भी एक साधन विशेष है।

शौनक कहता है कि मन्त्रों के पदक्रम आदि सब की गणना करदी गई है। उसके अनुसार ऋग्वेद की पारायणसंख्या सब शाखामन्त्रों को मिला कर १०५८० और एक पाद है। यह शौनक के मत से लिखा गया है। (संस्कृत प्रमाण के लिये देखो पृष्ठ ४०)

महर्षि के मन्तव्य के अनुसार ऋग्वेद में १०५२२ मन्त्र हैं। मन्त्र संख्या के सम्बन्ध में विशेष कर द्विपदा आदि के विषय में सविस्तर वर्णन आगे करके महर्षि के मत का प्रतिपादन सप्रमाण किया जावेगा। संभवतः महर्षि ऋग्वेद की पारायणसंख्या १०५८९ मानते हों।

ऋक्संख्या

अस्मिन् व्याख्यातव्य ऋग्वेदे द्वाविंशत्यधिकपञ्चशतदशसहस्रम् (१०५२२) अपौरुषेया ऋचः सन्तीति महर्षेरभिमतम् । ऋक्संख्यायां हि नाना मतयो दृश्यन्ते। तत्र काचित् बालखिल्यसूक्तकृता, त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चहेतुका परा, अन्या द्विपदामूला, अपरा शाखाभेदाद्याश्रिता ।

(१)

ऋग्वेदस्याष्टमे मण्डल एकादश सूक्तानि (४९–५९ सूक्तानि) बालखिल्यसूक्तान्युच्यन्ते । तथाहि—

बालखिल्यचित्रम्

(चित्रम् १४)

ऋ० मण्डलम् ८, सूक्तानि ४९–५९ ॥ अष्टकं ६, अध्यायः ४, वर्गाः १४–३१

वर्ग क्रमसंख्या	वर्ग संख्या	सूक्त क्रमसंख्या	सूक्त संख्या	ऋचः	ऋचः
१	१४	१	४९	५	१०
२	१५			५	
३	१६	२	५०	५	१०
४	१७			५	
५	१८	३	५१	५	१०
६	१९			५	
७	२०	४	५२	५	१०
८	२१			५	
९	२२	५	५३	४	८
१०	२३			४	
११	२४	६	५४	४	८
१२	२५			४	
१३	२६	७	५५	५	५
१४	२७	८	५६	५	५
१५	२८	९	५७	४	४
१६	२९	१०	५८	३	३
१७	३०	११	५९	४	७
१८	३१			३	
				८० ऋचः	८० ऋचः

बालखिल्यसूक्तानां प्रतिवर्गम् ऋक्संख्याचित्रम्

(चित्रम् १५)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	समस्त ऋक्संख्या	विवरणम्
३	२	६	द्वयोर्वर्गयोस्तिस्रस्तिस्र ऋचः
४	६	२४	षट्सु वर्गेषु चतस्रश्चतस्र ऋचः
५	१०	५०	दशसु वर्गेषु पञ्च पञ्च ऋचः
	१८ वर्गाः	८० ऋचः	

एवमशीतिः (८०) बालखिल्यऋचः सन्ति तासामेकादश (११) सूक्तानि अष्टादश (१८) वर्गाश्च भवन्ति । केचिदेता बालखिल्यऋच ऋक्संख्यागणना-प्रसङ्गे परित्यजन्ति तेषामशीतिः संख्या न्यूना भवति । नव्यमते[1] १०५५२ ऋक्संख्या तत्र ८० संख्यान्यवकलनेन १०५५२÷८०=१०४७२ ऋक्संख्या संपद्यते । इयं १०४७२ ऋक्संख्या महीदासस्य बालखिल्यवर्जम् । महर्षिस्तु संहितान्तर्गता एवैता बालखिल्यऋचो मन्यते तासां बालखिल्यऋचामपि पदपाठश्रवणात्, ऋष्याद्यनुक्रमणात्, ब्राह्मणे विनियोगदर्शनात्, ऋषिपारम्पर्यात्, साक्षाद्दर्शनाच्च । तथाहि—

१—बालखिल्यऋचां पदपाठः—

संहितापाठ

अ॒भि प्र वः॑ सु॒राध॑स॒मिन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे ।
यो ज॑रि॒तृभ्यो॑ म॒घवा॑ पुरू॒वसुः॑ स॒हस्रे॑णेव॒ शिक्ष॑ति ॥

ऋ० ८।४९।१॥

१—नव्यमतमग्रे द्विपदाप्रकरणे विवेचितम् ।

पदपाठः

अभि । प्र । वः । सुऽराधसम् । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे । यः । जरितृऽभ्यः । मघऽवा । पुरुऽवसुः । सहस्रेणऽइव । शिक्षति ।

एवं सर्वासां बालखिल्यऋचां शाकल्यकृतः पदपाठो दृश्यते । ततो नैताः खिलऋचः परिशिष्टा इत्यर्थः । यासां पदपाठाभावस्ताः खिलऋचो मन्यन्ते । तथा चोक्तम्—

यस्य पदाभावस्तस्य खैलिकत्वं सिद्धम् ।

(चरणव्यूह० पृष्ठम् १६)

२—बालखिल्यानामृष्यादयो ऽप्यनुक्रम्यन्ते । तथाहि—

अभि प्र० (ऋ० ८।४६) दश प्रस्कण्वः प्रागाथं तत् । प्र सु श्रुतं० (ऋ० ८।५०) पुष्टिगुः । यथा मनौ० (ऋ० ८।५१) श्रुष्टिगुः यथा मनौ० (ऋ० ८।५२) आयुः । उपमं त्वा० (ऋ० ८।५३) अष्टौ मेध्यः । एतत् ते० (ऋ० ८।५४) मातरिश्वा । आ नो विश्वे० (ऋ० ८।५४।३) इति वैश्वदेवः । प्रगाथः । भूरीत्० (ऋ० ८।५५) पञ्च कृशः, प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः, गायत्रं तृतीयापञ्चम्यावनुष्टुभौ । प्रति ते० (ऋ० ८।५६) पृषध्रोऽन्त्याग्निसौरी पाङ्क्तः । युवं देवाः० (ऋ० ८।५७) चतुष्कं मेध्य आश्विनं त्रैष्टुभम् । यमृत्विज० (ऋ० ८।५८) तृचं वैश्वदेवम्, आद्य ऋत्विक्स्तुतिर्वा । इमानि वां० (ऋ० ८।५६) सप्त सुपर्ण ऐन्द्रावरुणं जागतम् ।

(कात्यायनसर्वानुक्रमणी

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदेऽष्टममण्डले ४६ सूक्तात् ५६ सूक्तपर्यन्तमेकादश बालखिल्यसूक्तान्युच्यन्ते तेषामृषिदेवताच्छन्दांसि कात्यायनो ऽनुक्रमते—

अभि प्र वः सुराधसम्० (ऋ० ८।४६) सूक्तस्य दश ऋचस्तासां प्रस्कण्व ऋषिः । छन्दः प्रगाथाः । देवता तु इन्द्र इति सर्वत्र वर्तते । तत्रानुक्त इन्द्रो देवता ज्ञेया यत्र वैशिष्ठ्यं तत्र वक्ष्यत इति परिभाषितम् ।

प्र सु श्रुतं सुराधसम्० (ऋ० ८ । ५०) सूक्तस्य पुष्टिगुः ऋषिः । देवताच्छन्दसी पूर्ववत् ।

यथा मनौ सांवरणौ० (ऋ० ८ । ५१) सूक्तस्य श्रुष्टिगुः ऋषिः । देवताच्छन्दसी पूर्ववत् ।

यथा मनौ विवस्वति० (ऋ० ८ । ५२) सूक्तस्य आयुः ऋषिः । देवताच्छन्दसी पूर्ववत् ।

उपमं त्वा मघोनाम्० (ऋ० ८।५३) सूक्तस्याष्टौ ऋचस्तासां मेध्य ऋषिः । देवताच्छन्दसी पूर्ववत् ।

एतत् त इन्द्र वीर्यम्० (ऋ० ८ । ५४) सूक्तस्य मातरिश्वा ऋषिः । 'आ नो विश्वे सजोषसः०' (ऋ० ८।५४।३) इति तृतीयस्य मन्त्रस्य विश्वे देवा देवताः । अन्येषामिन्द्र एव देवता पूर्ववत् । छन्दः प्रगाथाः ।

भूरीदिन्द्रस्य वीर्यम्० (ऋ० ८ । ५५) सूक्तस्य पञ्च ऋचस्तासां कृश ऋषिः । छन्दो गायत्री । तृतीयपञ्चम्योः ऋचोस्तु अनुष्टुप् छन्दः, तस्मात् प्रथम-द्वितीयचतुर्थानामेव गायत्री छन्द इति बोध्यम् । इन्द्रो देवता पूर्वतो ऽनुवर्तते, प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिश्च ।

प्रति ते दस्यवे वृक० (ऋ० ८।५६) सूक्तस्य पृषध्र ऋषिः । अत्र या ऽन्त्या पञ्चमी ऋक् तस्या अग्निसूर्यौ देवते । पङ्क्तिश्छन्दः । शिष्टानां गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता इत्यनुवर्तत एव ।

युवं देवा क्रतुना पूर्व्येण० (ऋ० ८।५७) सूक्तस्य चतस्र ऋचस्तासां मेध्य ऋषिः । अश्विनौ देवते । त्रिष्टुप् छन्दः ।

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्त० (ऋ० ५।५८) सूक्तस्य तिस्र ऋचस्तासां मेध्य ऋषिः, त्रिष्टुप् च छन्द इति पूर्वतोऽनुवर्तते । विश्वे देवा देवताः । आद्ये=प्रथमे मन्त्रे ऋत्विक्स्तुतिरपि देवता ।

इमानि वां भागधेयानि सिस्रतः० (ऋ० ८।५९) सूक्तस्य सप्त ऋचस्तासां सुपर्ण ऋषिः । । इन्द्रावरुणौ देवते । जगती छन्दः ।

उक्तप्रकारेण बालखिल्यऋचामृषिदैवतछन्दांसि कात्यायनेनानुक्रान्तानि । नहि परिशिष्टानामृषिदैवतछन्दास्यनुक्राम्यन्ते तत ऋक्संहितान्तर्गता एव बालखिल्य-ऋचो न तु परिशिष्टाः ।

३—बालखिल्यऋचां ब्राह्मणेऽपि सद्भावः । तथाहि—

क. इन्द्र नेदीय एदिहीतीन्द्रनिहवः प्रगाथः ।

(ऐ० ब्रा० ४।२३)

अस्यायमर्थः—'इन्द्र नेदीय एदिहि०' (ऋ० ८।५३।५) इत्यादिः इन्द्रनिहवः प्रगाथ उच्यते । इयं बालखिल्य ऋगेव ।

ख. स यद्यैन्द्रावरुणे रोहेत् सौपर्णे रोहेत् ।

(ऐ० ब्रा० ६।२५)

अस्यायमर्थः—स प्रतिष्ठाकामो यद्यैन्द्रावरुणं सूक्तं रोहणार्थं निश्चिनुयात् तदा सौपर्ण[1] सूक्तं चिनोतु । "इमानि वां भागधेयानि" (ऋ० ८।५६।१) इति सौपर्णमैन्द्रावरुणं सूक्तं बालखिल्येष्वेव दृश्यते । 'अयं हि ते अमर्त्य०' (ऋ० १०।१४४।१) इति दशमे मण्डलेऽपि सुपर्णस्यैकं सूक्तं परं तदैन्द्रं सूक्तं नत्वैन्द्रा-वरुणम् ।

ग. तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते । नाभानेदिष्टं, बालखिल्या, वृषाकपिम्, एवयामरुतम्, तानि सहैव शंसेत् ।

(ऐ० ब्रा० ५।१५)

अस्यायमर्थः—नाभानेदिष्टं सूक्तद्वयम्[2], बाल[3]खिल्या मन्त्राः, वृषाकपि[4]दृष्टं सूक्तम्, ऐव[5]यामरुन्नाम्ना महर्षिणा च दृष्टं सूक्तम्, तान्येतानि चत्वारि सहचराण्युच्यन्ते तानि सहैव शंसेत्=पठेत् इति बालखिल्यानां शंसने प्रयोग ऐतरेयब्राह्मणे दृश्यते ।

एवमृग्वेदस्य ब्राह्मण ऐतरेये बालखिल्यानां सद्भावात् संहितान्तर्गता एव बालखिल्या न तु परिशिष्टाः ।

१—यस्य सूक्तस्य सुपर्णं ऋषिः ।

२—ऋ० १०।६१। ऋ० १०।६२ ।

३—ऋ० ८।४९—५९ ।

४—ऋ० १०।८६ ।

५—ऋ० ५।८७ ।

४. ऋषिपरम्परा ऽपि बालखिल्यान् रक्षति । तथाहि—

क. ऐतरेये बालखिल्यमन्त्राः प्रतीकनिर्देशेनोक्ताः । स्ववेदगता हि मन्त्राः प्रतीकेनोच्यन्ते । ब्राह्मणेषु स्ववेदातिरिक्ता मन्त्राः समस्ता पठ्यन्ते ।

ख. कात्यायनानुक्रमण्यां बालखिल्यानामृषिदैवतछन्दांसि निर्दिष्टानीत्युक्तं प्राक् ।

ग. यत् नाभानेदिष्टो बालखिल्यो वृषाकपिरेवयामरुत् तस्मात् तानि सार्द्धमेवोपेयुः ।

(गो० ब्रा० उ० ६ । ७)

घ. यत् नाभानेदिष्टं पूर्वं शस्यत उत्तरा बालखिल्याः ।

ता० ब्रा० २० । ६ । २)

ङ. तस्मादाहुः कस्माद् बालखिल्या इति ।

(श० ब्रा० ३० । ८)

एवं सर्वेषु ब्राह्मणेषु बालखिल्यप्रवादा उपलभ्यन्ते ।

५—महर्षेः साक्षाद् दर्शनमप्यासीत् ।

कथमासां बालखिल्यसंज्ञा ?

अथेदं विचार्यते—कथं बालखिल्यमन्त्राः, बालखिल्यसूक्तानि बालखिल्या ऋषयः । खिलसूक्तानीत्यपि केचित् । इति नामकरणम् । तत्रोच्यते—

बहुकालपर्यन्तमेते मन्त्रा असाक्षात्कृतार्था आसन् । एभ्यः पूर्वे परे च मन्त्राः साक्षात्कृतार्थाः प्रागासुः । खिलभूता ह्येते ऽवर्तन्त । यथा सस्याढ्ययोः क्षेत्रयो र्मध्ये यदसंस्कृतमकृष्टमसस्याढ्यं क्षेत्रं भवति तत् खिलमित्युच्यते । पश्चात् महर्षिभिरेते ऽपि साक्षात्कृताः । साक्षात्करणे चासां बालमात्रं सूक्ष्ममेवान्तरमासीत् ततो बालखिल्यसंज्ञा । यस्मादेते पूर्वमसाक्षात्कृता अतिष्ठन् तस्मादासामृचां खिलसंज्ञा प्रवृत्ता । अर्थदृष्ट्या परिशिष्टा हि ते । तत्साम्यात् परिशिष्टानामपि खिलसंज्ञा प्रसिद्धेत्येके ।

अथवा बालखिल्याः प्राणा उच्यन्ते । तथाहि—

प्राणा वै बालखिल्याः............यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते । बालमात्रादु हेमे प्राणाः असंभिन्नास्ते यद् बालमात्रादसंभिन्न स्तस्माद् बालखिल्याः ।

(श० ब्रा० ८ । ३ । ४ । १)

बालखिल्यसूक्तेषु प्राणमहिमा वर्ण्यते तस्मादेषां बालखिल्यसंज्ञा । तथाहि—बालखिल्यसूक्तेषु महर्षिनिर्दिष्टा देवता अधस्तनप्रकारेण ज्ञेया ।

ऋ० ८।४९–५३–इन्द्रो देवता । ऋ० ८।५४। १,२,५–८।–इन्द्रो देवता। ऋ० ८।५४।३,४।–विश्वे देवा देवताः । ऋ० ८।५५।–प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिर्देवता। ऋ० ८।५६।१—४।—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिर्देवता । ऋ० ८।५६।५।–अग्निसूर्यौ देवते। ऋ०८।५७।अश्विनौ देवते। ऋ० ८।५८।१। ऋत्विजो देवताः । ऋ० ८।५८।२ ३। विश्वे देवा देवताः। ऋ० ८।५९।—इन्द्रावरुणौ देवते ।

एता बालखिल्यमन्त्रनिर्दिष्टा देवताः प्राणवचना इति ह विज्ञायते[1] । तथाहि—

क. प्राण इन्द्रः । श० ब्रा० ६ । १ । २ । ८ ॥
ख. प्राणा वै विश्वे देवाः श० ब्रा० १४ । २ । २ । ३७ ॥
ग. नासिके[2] अश्विना । श० ब्रा० १२ । १ । ६ । १४ ॥
घ. अश्विनौ प्राणापानौ । महर्षिभाष्यम् । यजु० २१ । ६० ॥
ङ. प्राणा सर्वे ऋत्विजः । ऐ० ब्रा० ६ । १४ ॥
च. इन्द्रावरुणौ प्राणोदानवत् प्रियबलिनौ । महर्षिभाष्यम् ऋ० ४ । ४१ । १ ॥
छ. अग्निर्वै प्राणः । जै० उ० ४ । २२ । १६ ॥
ज. आदित्यो वै प्राणः । जै० उ० ४ । २२ । ११ ॥
झ. कण्व इति मेधाविनामसु पठितम् । निघण्टु ३ । १५ ॥

(प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः । प्रशब्दो ऽत्यन्तवचनो ऽत एवापत्यार्थे । जनकात् पुत्रो ऽधिकगुणो ऽपेक्षते । अस्यायं पुत्रः अस्मादप्यधिकगुण इत्यर्थः । तथा चोक्तं यास्केन—

१—विज्ञानग्रन्थेषु ब्राह्मणेषु प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।

२—नासिकाप्रभवौ प्राणापानावित्यर्थः ।

मगन्दः कुसीदी ... तदपत्यं प्रमगन्दः । अत्यन्तकुसीदिकुलीनः ।
(निरुक्त ६ । ३२)

प्रस्कण्वस्य=अत्यन्तमेधाविनो दानस्तुतिः । प्राणसंयमनेन वै मेधावी भवति)

अथात्र प्रथमां वालखिल्यऋचं प्राणविद्यापरतया महर्षिनिर्दिष्टदिशा दिङ्मात्रं व्याख्यातुं प्रयते—

ओ३म् । अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥
(ऋ० ८ । ४९ । १)

भाष्यम्— हे साधक ! त्वं (वः) एकवचने बहुवचनमात्मशक्तिप्रकर्षद्योतनार्थम् । वः=तवात्मनः संबन्धिनं (सुराधसम्) शोभनं विद्यायोगादिधनं यस्मात् तम् । "(सुराधसः) शोभनानि विद्याचक्रवर्तिराज्यसंबन्धीनि राधांसि धनानि येषां तानेवं भूतान्" महर्षिभाष्यम् । ऋ० १।२३।६॥ (इन्द्रम्) प्राणम् (अभि) अभिलक्ष्य (प्र+अर्च) पूजय सत्कुरु प्राणं संयमयेत्यर्थः (यथा विदे) यथा विदुषे स्वगुरवे शिष्यः सत्करोति तद्वत् (मघवा) यस्मिन् प्राणे विद्यायोगादिरूपं बहु धनं विद्यते स बहुधनः (पुरुवसुः) बहुकालपर्यन्तं वासयिता बहुजीवनप्रदः । "(पुरुवसुः) पुरूणां बहूनां वासयिता" महर्षिभाष्यम् ऋ० २ । १ । ५ (यः) प्राणः (जरितृभ्यः) वृद्धेभ्यो ऽपि स्तोतृभ्यः स्वोपासकेभ्यः, अथवा योगगुणसिद्धीनां वेदितृभ्यः "(जरितृभ्यः) योगगुणसिद्धीनां वेदितृभ्यः ।" महर्षिभाष्यम् ऋ० १ । १०६ । ६ ॥" (सहस्रेण इव) आयुरेव । इव शब्दो ऽत्रावधारणार्थः प्राणविद्या ऽवश्यमायुर्वर्धयतीत्यर्थः । "सहस्राय स्वाहेत्याह । आयुर्वै सहस्रम् । आयुरेवावरुन्धे" तै० ब्रा० ३ । ८ । १५ ॥ (शिक्षति) ददाति ।

एवं प्राणानां वालखिल्यसंज्ञा । प्राणविद्यापरत्वादेतानि सूक्तानि वालखिल्यसूक्तानीत्युच्यन्ते । वालखिल्यमन्त्राणामर्थद्रष्टार ऋषयोऽपि वालखिल्यनाम्ना प्रसिद्धाः । एते वालखिल्या ऋषयः इति । यथा "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"

इत्यन्तानां 'यज्जाग्रतो॰'[1] इत्यादीनां षण्णां मन्त्राणामर्थद्रष्टार ऋषयः शिवसंकल्पनाम्ना व्यवहृताः। यथा च 'ऋतं च सत्यं चा॰' इत्याद्यघमर्षणमन्त्राणां द्रष्टा मधुच्छन्दसः पुत्रोऽघमर्षणनाम्ना प्रसिद्धः। बालखिल्यनामान ऋषय आसन् तत्कृतत्वादेतानि सूक्तानि बालखिल्यसूक्तानीत्यपसिद्धान्तः।

इत्थं बालखिल्यऋचां संहितान्तर्गतत्वात् तत्सहिता १०५२२ ऋक्संख्या समञ्जसी। अपि[2] बालखिल्यऋच ऋक्संख्यां मन्वाना अपास्ता इति।

(२)

त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचः

ऋग्वेदे त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचश्चतुर्नवति (९४) संख्यका विद्यन्ते। तासामेका दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं
वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः॥ १॥
(ऋ॰ १। १२७। १)

इयमेक ऋग् अस्यास्त्रयो भागाः। 'अग्निम्' इत्यारभ्य 'जातवेदसम्' पर्यन्तमेको भागः। 'य ऊर्ध्वया' इत्यारभ्य 'कृपा' पर्यन्तं द्वितीयो भागः। 'घृतस्य' इत्यारभ्य 'सर्पिषः' पर्यन्तं तृतीयो भागः। भागत्रयवत्त्वादियमृक् 'त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्च ऋक्' इत्युच्यते।

महीदासेनास्या एकस्या ऋच ऋग्द्वयं क्रियते। 'अग्निं होतारं' इत्यारभ्य देवाच्या कृपा' पर्यन्तं द्वयोर्भागयोरेक ऋक् क्रियते। 'घृतस्य' इत्यारभ्य 'सर्पिषः' पर्यन्तं तृतीयस्य भागस्य द्वितीय ऋक् क्रियते। एतादृश्यश्चतुर्नवतिसंख्यकास्त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋच ऋग्वेदे सन्ति। अत्राह महीदासः —

"आसां परिमाणमाह
'अग्निं होतारं॰' पञ्च। 'स हि शर्द्धो न॰' षट्।
'अयं जायत॰' पञ्च। 'विश्वो विहायाः॰' तिस्रः।
'यं त्वं रथं॰' पञ्च। 'प्र तद्वोचेयं॰' षट्।

१—यजु॰ ३४। १-६। २—बालखिल्यऋचो वर्जयित्वा।

'एन्द्र याह्युप नः०' पञ्च । 'इमां ते वाचं०' चत्वारि ।
स नो नव्येभिः' वर्जम् ।
'इन्द्राय हि द्यौः०' सप्त । 'त्वया वयं०' षट् ।
'अवर्मह०' एका 'वनोति हि०' एका ।
'आ त्वा जुवो०' षट् । स्तीर्ण०' पञ्च ।
'इमे वां सोमा०' एका, 'इमे ये ते सु वायो०' एका ।
'प्र सु ज्येष्ठं०' षट् 'ऊती देवानां०' वर्जम् ।
'सुषुमा यातम्०' त्रीणि । 'प्र प्र पूष्णः०' चतुष्कम् ।
'अस्तु श्रौषट्०' चत्वारि 'शचीभिर्नः' वर्जम् ।
'वृषन्निन्द्र०' पञ्च 'ये देवासो०' वर्जम् ।
'तव त्यन्नर्यम्०' एका । 'सखे सखायम्०' एका ।
'अया रुचा०' त्रीणि ।

एतास्त्रीणि त्रीण्यर्द्धर्चा ऋचो हवनीयाश्चतुर्नवतिसंख्या इति त्रीण्यर्द्धं च ऋग्घवने । अध्ययने अर्द्धद्वयेन ऋगेका । अर्द्धर्चेनैकैव । ऋग्द्वये कर्तव्ये इत्यर्थः ।

(चरणव्यूह पृ० १६, २०)

अस्यायमर्थः—

ऋ० २ अष्टके, १ अध्याये, १२ वर्गे 'अग्निं होतारं०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः–५
ऋ० ,, ,, १३ वर्गे 'स हि शर्धो न०' इत्याद्याः षड् ऋचः–६
ऋ० ,, ,, १४ वर्गे 'अयं जायत०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः–५
ऋ० ,, ,, १५ वर्गे 'विश्वो विहायाः०' इत्याद्याः तिस्र ऋचः–३
ऋ० ,, ,, १६ वर्गे 'यं त्वं रथं०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः–५
ऋ० ,, ,, १७ वर्गे 'प्र तद्वोचेयम्०' इत्याद्याः षड् ऋचः–६
ऋ० ,, ,, १८ वर्गे 'एन्द्र याह्युप नः०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः–५
ऋ० ,, ,, १९ वर्गे 'इमां ते वाचम्०' इत्याद्याश्चतस्र ऋचः–४
अस्मिन् वर्गे याऽन्त्या ऋक् 'स नो नव्येभिः०' तां वर्जयित्वा ।

ऋ० २ अष्टके १ अध्याये २० वर्गे 'इन्द्राय हि द्यौः०' इत्याद्याः सप्त ऋचः-७
ऋ० " " २१ वर्गे 'त्वया वयं०' इत्याद्याः षड् ऋचः-६
ऋ० " " २२ वर्गे 'अवर्महः०' इत्येका, 'वनोति हि०' इति चैका-२
ऋ० " " २३ वर्गे 'आ त्वा जुवो०' इत्याद्याः षड् ऋचः-६
ऋ० " " २४ वर्गे 'स्तीर्णम्०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः-५
ऋ० " " २५ वर्गे 'इमे वां सोमा०' इत्येका, इमे ये ते सु वायो० इति चैका ऋक्-२
ऋ० " " २६ वर्गे 'प्र सु ज्येष्ठम्०' इत्याद्याः षड् ऋचः-६
अस्मिन् वर्गे याऽन्त्या ऋक् 'ऊती देवानां०' तां वर्जयित्वा।
ऋ० " २ अध्याये १ वर्गे 'सुषुमा यातम्०' इत्याद्यास्तिस्र ऋचः-३
ऋ० " " २ वर्गे 'प्र प्र पूष्ण०' इत्याद्याश्चतस्र ऋचः-४
ऋ० " " ३ वर्गे 'अस्तु श्रौषट्०' इत्याद्याश्चतस्र ऋचः-४
अस्मिन् वर्गे याऽन्त्या ऋक् 'शचीभिर्नः०' तां वर्जयित्वा।
ऋ० " " ४ वर्गे 'वृषन्निन्द्र०' इत्याद्याः पञ्च ऋचः-५
अस्मिन् वर्गे याऽन्त्या ऋक् 'ये देवासो०' तां वर्जयित्वा।
ऋ० " ६ अध्याये २८ वर्गे 'तव त्यन्नर्यम्०' इत्येका ऋक्-१
ऋ० ३ अष्टके ४ अध्याये १२ वर्गे 'सखे सखायम्०' इत्येका ऋक्-१
ऋ० ७ अष्टके ५ अध्याये २४ वर्गे 'अया रुचा०' इत्याद्यास्तिस्र ऋचः-३

पूर्णसंख्या ९४

एताश्चतुर्नवति (९४) संख्यकास्त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचो हवनीयाः=प्रयोगकाल एवासां चतुर्नवतिः संख्या। अध्ययनकाले त्वासां प्रत्येकस्या ऋच ऋग्द्वयं संपाद्यते। स च प्रकारः पूर्वं प्रदर्शितः। तथा सत्यासामृचां १८८ संख्या भवति।

अयं भावः—महीदासो हवने त्वेकामेव ऋचं मन्यते परमध्ययनकाले ऋग्द्वयं स्वीकरोति। अध्ययनकालस्य या संख्या सैव ऋक्संख्या भवति। ततो महीदासमते ऋक्संख्याप्रसङ्गे ९४ संख्याऽधिका भवति। अतो महीदासमतेऽर्द्धर्चपक्षे १०४६६ ऋक्संख्या भवति। तच्चाग्रे विवेचिष्यते।

(३)

(द्विपदाः)

लोके चतुष्पाद् श्लोको भवति । ऋचस्तु काश्चिदेकपदाः काश्चिद् द्विपदाः काश्चित् त्रिपदाः काश्चिच् चतुष्पदाः काश्चित् पञ्चपदा इत्यादिरूपेण नानाविधाः ।

(एकपादवत्य ऋचः)

ऋग्वेदस्य दशसु मण्डलेष्वेकपदाः षडेव । तथाहि—

(चित्रम् १६)

संख्या	पूर्ण ऋचा	अक्षर संख्या	महर्षि निर्दिष्ट-छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दोनाम
१	असिंक्न्यां यजमानो न होता[1]	१०	याजुषी पङ्क्तिः	एकपदा विराट्
२	सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः[2]	१०	याजुषी पङ्क्तिः	एकपदा विराट्
३	उरौ देवा अनिबाधे स्याम[3]	१०	याजुषी पङ्क्तिः	एकपदा विराट्
४	उरौ देवा अनिबाधे स्याम[4]	१०	याजुषी पङ्क्तिः	एकपदा विराट्
५	आ वां सुम्ने वरिमन् त्सूरिभिः ष्याम्[5]	११	आसुरी पङ्क्तिः	एकपदा त्रिष्टुप्
६	भद्रं नो अपि वातय मनः[6]	१०	आसुरी त्रिष्टुप्	एकपदा विराट्

उक्तं च प्रातिशाख्ये—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः ।
अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनी मुखतो विराट् ॥
आ वां सुम्ने, असिंक्न्यां, द्वे उरौ देवाः, सिषक्तु नः ॥

ऋ० प्रा० १७ । ५६, ५७ ॥

अस्यायमर्थः–यस्या ऋचो विमद ऋषिस्ताम् 'भद्रं नो अपि० ऋ० १० । २० । १ ॥ ऋचां वर्जयित्वा दाशतयी ऋग्वेददशमण्डलान्तर्गता काचिदेकपदा ऋचा नास्तीति वै यास्को मन्यते । सैका ऋक् दशाक्षरा विराट् मुखतः सूक्तस्यादौ वर्तते ।

ऋग्वेद एकपदा ऋचः पञ्चान्या अपि सन्ति—

आ वां सुम्ने० ऋ० ६ । ६३ । ११ ॥ असिंक्न्यां० ऋ० ४ । १७ । १५ ॥ उरौ देवाः० इति ऋग् द्वयोः स्थानयोर्ऋग्वेदे वर्तते । ऋ० ५ । ४२ । १७ ॥

१. ऋ० ४ । १७ । १५ ॥ २. ऋ० ५ । ४१ । २० ॥ ३. ऋ० ५ । ४२ । १७ ॥
४. ऋ० ५ । ४३ । १६ ॥ ५. ऋ० ६ । ६३ । ११ ॥ ६. ऋ० १० । २० । १ ॥

ऋ० ५ । ४३ । १६ ॥ सिषक्तु नः । ऋ० ५ । ४१ । २० एवं षडेकपदा ऋच ऋग्वेदे सन्तीति बोध्यम् ।

छन्दःसंख्यायामप्युक्तम्—

एकपदास्तु षट् प्रोक्ताः । (छन्दः संख्या ८)

'भद्रं नो अपि०' ऋ० १० । २० । १ इयमेकैवैकपदा । अन्या याः पञ्चैकपदाः सन्ति ताः स्वोपरितनमन्त्रस्यान्तभागो न तु स्वतन्त्रा ऋचः । तन्मते पञ्च संख्या न्यूना भविष्यति । 'भद्रं नो अपि०' ऋक् तु सूक्तस्यादौ वर्तते सा न कस्या अपि ऋचोऽन्तभागो भवितुमर्हति सूक्तादित्वात् । उक्तं च प्रातिशाख्ये—

अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनी मुखतो विराट् ।
आहुस्त्वेकपदा अन्ये अध्यासानेकपातिनः ॥

ऋ० प्रा० १७ । ५६, ५७ ॥

अस्यायमर्थः—यस्या एकपदाया ऋचो विमद ऋषिः सैका ऋक् 'भद्रं नो अपि०' इत्येषा मुखतः सूक्तस्यादौ वर्तते दशाक्षरा विराट् । अन्या एकपदास्तु आचार्याः केचिद् एकपातिन अध्यासान् पूर्वऋचामन्तभागान् मन्यन्ते । इति ।

(द्विपादवत्य ऋचः)

ऋग्वेदे सप्तनवतिः (९७) द्विपादवत्य ऋचः सन्ति ।

ताश्चाधोनिर्दिष्टचित्रेण ज्ञेयाः ।

द्विपदा चित्रम्

(चित्रम् १७)

क्रमसंख्या	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	महर्षि निर्दिष्ट छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दो नाम	ऋग्गूढैता-क्षरसंख्या
१	१	७०	६	याजुषी पङ्क्तिः	द्विपदा विराट्	२०
२	५	२४	१	साम्नी बृहती	द्विपदा विराट्	१८
३	५	२४	२	भुरिग्बृहती[1]	द्विपदा विराट्	१९

१—भुरिक् साम्नी बृहतीत्यर्थः ।

२

क्रमसंख्या	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	महर्षि निर्दिष्ट छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दो नाम	ऋग्गुहेना-त्तरसंख्या
४	५	२४	३	भुरिग्बृहती	द्विपदा विराट्	१६
५	५	२४	४	भुरिग्बृहती	द्विपदा विराट्	१६
६	६	१०	७	प्राजापत्या बृहती	द्विपदा विराट्	२०
७	६	१७	१५	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
८	६	४७	२५[२]	विराड् गायत्री	द्विपदा त्रिष्टुप्	२२
९	७	१७	१	आर्ची [३]उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२२
१०	७	१७	२	साम्नी त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२२
११	७	१७	३	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
१२	७	१७	४	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
१३	७	१७	५	साम्नी पङ्क्तिः	द्विपदा त्रिष्टुप्	२०
१४	७	१७	६	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
१५	७	१७	७	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
१६	७	३२	३	साम्नी पङ्क्तिः	द्विपदा विराट्	२०
१७	७	३४	१	भुरिक् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
१८	७	३४	२	भुरिक् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
१९	७	३४	३	आ[४]र्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
२०	७	३४	४	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
२१	७	३४	५	भुरिक् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
२२	७	३४	६	नि[५]चृत् त्रिपात् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
२३	७	३४	७	निचृत् त्रिपात् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
२४	७	३४	८	निचृत् त्रिपात् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०

१—भुरिक् साम्नी बृहतीत्यर्थः ।

२—महर्षिमते ऋ० ६ । ४७ । २४ ऋगपि विराड् गायत्री ।

३—भुरिगार्ची उष्णिगित्यर्थः ।

४—स्वराडार्ची गायत्रीत्यर्थः ।

५—इयं प्रतिष्ठा निचृद् गायत्री त्रिपादेकविंशत्यक्षरा भवति । एकाक्षरन्यूना निचृत् ।

त्मना॑ स॒मत्सु॑ हि॒नोत॑, य॒ज्ञं दधा॑त के॒तुं, जना॑य वी॒रम् । ऋ० ७।३४।६ एवमग्रेऽपि योज्यम् ।

३

क्रमसंख्या	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	महर्षि निर्दिष्ट छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दोनाम	ऋग्वेदेना-क्षरसंख्या
२५	७	३४	९	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट	२०
२६	७	३४	१०	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
२७	७	३४	११	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
२८	७	३४	१२	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
२९	७	३४	१३	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट	१९
३०	७	३४	१४	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
३१	७	३४	१५	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
३२	७	३४	१६	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
३३	७	३४	१७	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट	१८
३४	७	३४	१८	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
३५	७	३४	१९	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
३६	७	३४	२०	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
३७	७	३४	२१	निचृत् त्रिपाद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
३८	७	५६	१	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
३९	७	५६	२	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
४०	७	५६	३	प्राजापत्या बृहती	द्विपदा विराट्	२०
४१	७	५६	४	प्राजापत्या बृहती	द्विपदा विराट्	२०
४२	७	५६	५	प्राजापत्या बृहती	द्विपदा विराट्	२०
४३	७	५६	६	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
४४	७	५६	७	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
४५	७	५६	८	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा विराट्	२१
४६	७	५६	९	भुरिग् आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
४७	७	५६	१०	आर्ची उष्णिक्	द्विपदा विराट्	२१
४८	७	५६	११	निचृद् आर्ची उष्णिक्	द्विपदा विराट्	२०
४९	८	१९	२७	[1]भुरिग् आर्ची विराड् उष्णिक्	द्विपदा विराट्	२०
५०	८	२९	१	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
५१	८	२९	२	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
५२	८	२९	३	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०

1. व्याख्यानतः समाधेयम् ।

४

क्रमसंख्या	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्रः	महर्षि निर्दिष्ट छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दोनाम	ऋग्वेदेना-क्षरसंख्या
५३	८	२६	४	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
५४	८	२६	५	विराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२२
५५	८	२६	६	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
५६	८	२६	७	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
५७	८	२६	८	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
५८	८	२६	६	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
५६	८	२६	१०	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
६०	८	४६	१३	निचृद् गायत्री	द्विपदा जगती	२३
६१	८	४६	२०	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
६२	६	६७	१६	भुरि[1]ग् आर्ची विराड गायत्री	नित्य द्विपदा गायत्री	१६
६३	६	६७	१७	भुरि[1]ग् आर्ची विराड् गायत्री	नित्य द्विपदा गायत्री	१६
६४	६	६७	१८	भुरि[1]ग् आर्ची विराड् गायत्री	नित्य द्विपदा गायत्री	१६
६५	६	१०७	३	पि[2]पीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	२१
६६	६	१०७	१६	पि[2]पीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
६७	६	१०६	१	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
६८	६	१०६	२	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
६६	६	१०६	३	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७०	६	१०६	४	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७१	६	१०६	५	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७२	६	१०६	६	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७३	६	१०६	७	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
७४	६	१०६	८	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
७५	६	१०६	६	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७६	६	१०६	१०	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१६
७७	६	१०६	११	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०

१—आर्ची विराड् गायत्री । भुरिग् व्याख्यानतः समाधेयम् ।

२—अनियताक्षरा । आद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ मध्येऽल्पाक्षरः पादः । द्र०—ऋ० प्रा० ३ । ५७

५

क्रमसंख्या	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्रः	महर्षि निर्दिष्ट छन्दोनाम	कात्यायन निर्दिष्ट-छन्दोनाम	अक्षरव्यूहेनाक्षरसंख्या
७८	६	१०९	१२	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
७९	६	१०९	१३	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
८०	६	१०९	१४	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
८१	६	१०९	१५	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
८२	६	१०९	१६	पादनिचृद् गायत्री	द्विपदा विराट्	२१
८३	६	१०९	१७	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
८४	६	१०९	१८	आर्ची भुरिग् गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
८५	६	१०९	१९	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
८६	६	१०९	२०	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
८७	६	१०९	२१	आर्ची गायत्री	द्विपदा विराट्	१८
८८	६	१०९	२२	आर्ची स्वराड् गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
८९	१०	१५७	१	द्विपदा त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	१८
९०	१०	१५७	२	द्विपदा त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२०
९१	१०	१५७	३	द्विपदा त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२१
९२	१०	१५७	४	द्विपदा त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२२
९३	१०	१५७	५	द्विपदा त्रिष्टुप्	द्विपदा त्रिष्टुप्	२२
९४	१०	१७२	१	पिपीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
९५	१०	१७२	२	पिपीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	१९
९६	१०	१७२	३	पिपीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	२०
९७	१०	१७२	४	पिपीलिका मध्या गायत्री	द्विपदा विराट्	२०

१—अत्र केचिदाहु—'एकपदा द्विपदा त्रिष्टुबुदाहरणानि मृग्याणि' । इति रभसोक्तिमात्रम् । ऋ० १०। १५७।४, ५ द्विपदा त्रिष्टुप् । ऋ० ६।६३।३ एकपदा त्रिष्टुप् । तथा चोक्तं कात्यायनानुक्रमण्याम्—

क त्यैकपदान्तं त्रैष्टुभम् । कात्या० सर्वा० ६ । ६३ ।

अस्यायमर्थः—क त्या वल्गू० ऋ० ६।६३ सूक्तस्यान्त एकपदा त्रिष्टुप् शिष्टास्त्रिष्टुभः ।

इमा नु कं भुवन आप्त्यः साधनो वा भौमनो वैश्वदेवं द्वै दं त्रैष्टुभम् ।

कात्या० सर्वा० १० । १५७ ॥

अस्यायमर्थः—इमा नु कं० ऋ० १० । १५७ । सूक्तस्य भुवन आप्त्य ऋषिः साधनो भौमनो वा ऋषिः । विश्वे देवा देवता । द्विपदा त्रिष्टुप् छन्दः ।

(अन्येषां मतम्)

अन्येत्वाहुः सन्त्यन्या अपि षष्टिर्द्विपदाः । 'पश्वा न तायुं०' (ऋ० १ । ६५–७०) इत्यादिषट्सूक्तेषु यास्त्रिंशच् चतुष्पदा ऋचस्ता ह्यत्रने द्विपदाः कृत्वा षष्टिः क्रियन्ते । ऋक्संख्या–गणना प्रसङ्गे ताः षष्टिः गणनीया न तु त्रिंशत् । तथाहि–

(त्रिंशच् चतुष्पदाः, षष्टिर्द्विपदाः)

(चित्रम् १८)

		अन्यमते				महर्षिमते			
मण्डलम्	सूक्तम्	द्विपदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या	चतुष्पदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या
१	६५	१०	१	द्विपदा विराट्	२०	५	१	पङ्क्तिः	४०
			२	द्विपदा विराट्	२०				
			३	द्विपदा विराट्	१९		२	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			४	द्विपदा विराट्	२०				
			५	द्विपदा विराट्	२०		३	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			६	द्विपदा विराट्	१९				
			७	द्विपदा विराट्	१९		४	विराट् पङ्क्तिः	३८
			८	द्विपदा विराट्	१९				
			९	द्विपदा विराट्	१९		५	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			१०	द्विपदा विराट्	२०				
	६६	१०	१	द्विपदा विराट्	२०	५	१	पङ्क्तिः	४०
			२	द्विपदा विराट्	२०				
			३	द्विपदा विराट्	२०		२	पङ्क्तिः	४०
			४	द्विपदा विराट्	२०				
			५	द्विपदा विराट्	२०		३	विराट् पङ्क्तिः	४०
			६	द्विपदा विराट्	२०				
			७	द्विपदा विराट्	१८		४	विराट् पङ्क्तिः	३८
			८	द्विपदा विराट्	२०				
			९	द्विपदा विराट्	१९		५	विराट पङ्क्तिः	३८
			१०	द्विपदा विराट्	१९				

२

मण्डलम्	सूक्तम्	द्विपदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या	चतुष्पदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या
१	६७	१०	१	द्विपदा विराट्	२०	५	१	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			२	द्विपदा विराट्	१९				
			३	द्विपदा विराट्	१९		२	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			४	द्विपदा विराट्	२०				
			५	द्विपदा विराट्	१९		३	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			६	द्विपदा विराट्	२०				
			७	द्विपदा विराट्	२०		४	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			८	द्विपदा विराट्	१९				
			९	द्विपदा विराट्	१९				
			१०	द्विपदा विराट्	१९		५	विराट् पङ्क्तिः	३८
१	६८	१०	१	द्विपदा विराट्	१९	५	१	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			२	द्विपदा विराट्	२०				
			३	द्विपदा विराट्	२०		२	पङ्क्तिः	४०
			४	द्विपदा विराट्	२०				
			५	द्विपदा विराट्	२०		३	पङ्क्तिः	४०
			६	द्विपदा विराट्	२०				
			७	द्विपदा विराट्	१९		४	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			८	द्विपदा विराट्	२०				
			९	द्विपदा विराट्	२०		५	पङ्क्तिः	४०
			१०	द्विपदा विराट्	२०				
	६९	१०	१	द्विपदा विराट्	२०	५	१	पङ्क्तिः	४०
			२	द्विपदा विराट्	२०				
			३	द्विपदा विराट्	१९		२	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			४	द्विपदा विराट्	२०				
			५	द्विपदा विराट्	२०		३	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			६	द्विपदा विराट्	१९				
			७	द्विपदा विराट्	२०		४	भुरिक् पङ्क्तिः	४१
			८	द्विपदा विराट्	२१				
			९	द्विपदा विराट्	१९				
			१०	द्विपदा विराट्	१८		५	विराट् पङ्क्तिः	३७[६]

६. त्र्यक्षरन्यूनं पङ्क्तिश्छन्दः । बह्वक्षरन्यूनमपि तदेव छन्दो भवति । द्र०— ऋ० प्रा० १७ । ४ ॥

२

मण्डलम्	सूक्तम्	द्विपदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या	चतुष्पदाः	मन्त्राः	छन्दः	अक्षरसंख्या
१	७०	११	१	द्विपदा विराट्	१९		१	विराट् पङ्क्तिः	३८
			२	द्विपदा विराट्	१९				
			३	द्विपदा विराट्	२०	पञ्च	२	पङ्क्तिः	४०
			४	द्विपदा विराट्	२०	चतुष्पदाः			
			५	द्विपदा विराट्	१९		३	निचृत् पङ्क्तिः	३९
			६	द्विपदा विराट्	२०				
			७	द्विपदा विराट्	२०		४	विराट् पङ्क्तिः	३८
			८	द्विपदा विराट्	१८				
			९	द्विपदा विराट्	१९		५	निचृत् पङ्क्तिः	४०
			१०	द्विपदा विराट्	२०	एका			
			११	द्विपदा विराट्	२०	द्विपदा	६	याजुषी पङ्क्तिः	२०

एवं १०५२२ ऋक्संख्यायां ३० संख्यासंकलनेन १०५५२ ऋक्संख्या भवति । इमामृक्संख्यां केचित् स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः सर्वान् ऋषिमुन्याचार्यविदुष आक्षिपन्तो महताऽऽटोपेन वर्णयन्ति आक्षिपन्ति च ते यथा स्वामी दयानन्दसरस्वतीमहाभागोऽपि न वेद ऋक्संख्यां न च स बुबोध द्विपदासु संख्याङ्कनप्रकारं द्विपदारहस्यं च । केवलमनुचकार मैक्समूलरमहानुभावम्, प्रायो जनाः पाश्चात्यानामन्धानुकरणं कुर्वन्ति, इयमेव भ्रान्तिर्वैदिकमुनेः स्वामिहरप्रसादस्य तथाऽऽचार्यसत्यव्रतसामश्रमिणो, वैदिकपदानुक्रमकोषसंपादकस्य विदुषो विश्वबन्धोश्च, सांप्रतं न कोऽपि विवेद द्विपदास्वरूपम् । तथाहि । द्विपदा द्विविधाः । सप्तदश (१७) नित्या द्विपदाः । चत्वारिंशदुत्तरं शतं (१४०) नैमित्तिकद्विपदाः ।

नित्यद्विपदा चित्रम्

(चित्रम् १९)

क्रमसंख्या	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्राः	द्विपदासंख्या
१	१	७०	११	१
२	६	१०	७	१
३	६	१७	१५	१

२

क्रमसंख्या	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्रः	द्विपदासंख्या
४	६	४७	२५	१
५	७	१७	७	१
६	७	३२	३	१
७	७	३४	२१	१
८	७	५६	११	१
९	८	१९	२७	१
१०	८	४६	१३	१
११	८	४६	३०	१
१२	९	६७	१६–१८	३
१३	९	१०७	३	१
१४	९	१०७	१६	१
१५	१०	१५७	५	१

पूर्ण संख्या —— १७

नैमित्तिक द्विपदा चित्रम्

(चित्रम् २०)

	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्रः	पूर्णसंख्या
	१	६५	१–१०	१०
	१	६६	१–१०	१०
	१	६७	१–१०	१०
	१	६८	१–१०	१०
	१	६९	१–१०	१०
	१	७०	१–१०	१०
	५	२४	१–४	४
	७	१७	१–६	६
	७	३४	१–१०	१०
	७	३४	११–२०	१०
	७	५६	१–१०	१०

२

	मण्डलम्	सूक्तम्	मन्त्रः	पूर्णसंख्या
	८	२६	१–१०	१०
	९	१०९	१–१०	१०
	९	१०९	११–२२	१२
	१०	१५७	१–४	४
	१०	१७२	१–४	४
पूर्णसंख्या				१४०

यथा चोक्तं महीदासेन—

पश्वा न तायुं० (ऋ० १।६५।१–१०) दश । रयिर्न० (ऋ० १।६६।१–१०) दश ।
वनेषु० (ऋ० १।६७।१–१०) दश । श्रीणन्० (ऋ० १।६८।१–१०) दश ।
शुक्रः शुशुक्वाँ० (ऋ० १।६९।१–१०) दश । वनेम पूर्वीः (ऋ० १।७०।१–१०) दश ।
अग्ने त्वं नो० (ऋ० ५।२४।१–४) चत्वारि । अग्ने भव० (ऋ० ७।१७।१–६) षट् ।
प्र शुक्रैतु० (ऋ० ७।३४।१–१०) दश । राजा राष्ट्रानां० (ऋ० ७।३४।११–२०) दश ।
क इं व्यक्ता (ऋ० ७।५६।१–१०) दश । बभ्रुरेको (ऋ० ८।२९।१–१०) दश ।
परि प्र धन्व० (ऋ० ९।१०९।१–१०) दश । तं ते सोतारो (ऋ० ९।१०९।११–२२) द्वादश ।
इमा नु कं० (ऋ० १०।१५७।१–४) चत्वारि । आ याहि वनसा (ऋ० १०।१७२।१–४) चत्वारि ।

इति नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशोत्तरशतमिति ।

(चरणव्यूह टीका पृ० १८)

अस्यायमर्थः—उपरिनिर्दिष्टा १४० ऋचो नैमित्तिकद्विपदाः सन्ति ।

उपलेखायां नित्यद्विपदां संख्या निर्दिष्टा । तथाहि—

साधु० (ऋ० १।७०।११) । अंसिक्न्यां० (४।१७।१५)

सिषक्तु न[2] (ऋ० ५।४१।२०) । उरौ देवा[3] (ऋ० ५।२४।१७)

१—इयमेकपदा । २—इयमेकपदा । ३—इयमेकपदा ।

[1]उरौ देवाः (ऋ० ५।४३।१६)। वि द्वेषांसी० (ऋ० ६।१०।७)
अया वाजं० (ऋ० ६।१७।१५)। महि राधो० (ऋ० ६।४७।२५)
[2]आ वां सुम्ने० (ऋ० ६।६३।११)। ते ते देवाय० (ऋ० ७।१७।७)
रायस्कामो० (७।३२।३)। प्रति नः स्तोमं० (ऋ० ७।३४।२१)
स्वायुधासं० (ऋ० ७।५६।११)। पितु नं पुत्रः० (ऋ० ८।१९।२७)
स नो वाजेषु० (ऋ० ८।४६।१३)। गावो न यूथ० (ऋ० ८।४६।३०)
पवस्व सोममन्दयन्० (ऋ० ९।६७।१६-१८) इति तिस्रः।
परि सुवान० (ऋ० ९।१०७।३)
नृभिर्येमानो० (ऋ० ९।१०७।१९)।
प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिः० (ऋ० १०।१५७।५)।

इति द्विपदा एकपदा द्वाविंशतिः। तासां सप्तदश द्विपदाः। एकपदाः पञ्च। इति।

(उपलेख सूत्र वर्ग ६। १-२)

मैक्समूलरमहोदयस्यायमत्रभ्योऽपराधो यस्तेन द्विपदासु संख्याङ्कने प्रकारत्रयमवलम्बितम्।

१—पश्वा न तायुं (ऋ० १। ६५) इत्यादिषु षट्सु सूक्तेषु या द्विपदाः सन्ति तासु चतुष्पदासंख्या प्रदत्ता।

२—अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः॥ १। २॥
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात्।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥ ३। ४॥
(ऋ० ५। २४। १—४)

इत्थं चतसृषु द्विपदासु १। २॥ ३। ४॥ एवं सहसंख्या दत्ता।

३—अन्यासु द्विपदासु द्विपदासंख्यैव निर्दिष्टा। वस्तुतस्तु नित्यवर्जं सर्वासु द्विपासु द्विपदासंख्यैव दातव्या। चतुष्पदासंख्या च।

१—इयमेकपदा। २—इयमेकपदा।

अत एवाह कात्यायनः

द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति

(कात्यायनानुक्रमणी परिभाषाप्रकरणम्)

षड्गुरुशिष्यश्च व्याख्यातवान्—

ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः अधीयीरन् । म्ना अभ्यासे लिङर्थे लट् । शपि मनादेशः । द्वे द्विपदे यासां ता ऋचो द्विर्द्विपदाः । समामनन्तीति वचनाच्छंसनादौ न भवन्ति । तेन "पश्वा न तायुं०" इति शंसने दशर्चत्वम् आसां चाध्ययने तु पञ्चत्वं भवति ।

अस्यायमर्थः—द्वयोर्द्वयोर्द्विपदयोरेकैकां चतुष्पदां कृत्वाऽध्येतारोऽधीयीरन् । शंसने=प्रयोगे द्विपदा एव विनियुक्ताः । 'पश्वा न तायुं' ऋ० १ । ६५ इत्यादि—सूक्तानि शंसनकाले दशर्चानि परमध्ययनकाले पञ्चर्चानि ।

चरणव्यूहटीकाकारो महिदासोऽप्याह—

हवने एकैका । अध्ययने द्वे द्वे

(पृष्ठ १६)

कात्यायनानुक्रमण्यां नित्यद्विपदाशब्दव्यवहारश्च दृश्यते ।

अतः मैक्समूलरमनुकुर्वद्भिः सर्वैर्भ्रान्तमेव । इति स्वयंधीराणां पण्डितम्मन्यमानां मतम् ।

(अन्यमतनिराकरणम्)

तत्रोच्यते—

क. द्विपदास्त्रिविधाः—

१—आर्षा हवनीया द्विपदाः । २—अपौरुषेयद्विपदाः । ३—अपौरुषेयसहद्विपदाः । हवनीया द्विपदा ऋषिभिर्द्विपदाः कृताः । अपौरुषेयदशायां ताश्चतुष्पदा एव । हवनीया द्विपदा असुसमाप्तवाक्यार्थाः । अपौरुषेयद्विपदाः सुसमाप्तवाक्यार्थाः । सुसमाप्तवाक्यार्था हि ऋचो भवन्ति । तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम् ।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः ॥

(ऋ० १ । ६५ । १)

अस्यायमर्थः—हे भगवन् (पश्वा) अपहृतस्य पशोः पादचिह्नादिना (न) यथाऽन्वेषकाः (तायुम्) चौरं प्राप्नुवन्ति तथा (सजोषाः) समानप्रीतयः समानसेवनाश्च (धीराः) विद्वांसः (विश्वे) सर्वे (यजत्राः) उपासकाः (नमो युजानम्) नम इत्यन्ननाम, उपलक्षणमात्रं चैतत् भक्तेभ्यः प्रदातुं सर्वभोग्यपदार्थाधारभूतम् । तथा (नमो वहन्तम्) नमस्कारं स्वीकुर्वन्तं (गुहा चतन्तम्) गुहायां सर्वपदार्थानां मध्ये चतन्तं व्याप्तम्, गुहायामन्तः करणे चतन्तमुपदेष्टारं वा (त्वा) त्वाम् (पदैः) प्रत्यक्षप्राप्तैः गुणनियमैः (अनुग्मन्) पश्चात् प्राप्नुवन्ति (उप सीदन्) उपासते च ।

'पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्' इति पूर्वार्द्धभागस्तु कर्तृक्रियाहीनः कर्ममात्रपरः । सा कथमृक् स्यात् । तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । मीमां २ । १ । ३५ ॥ प्रयोगे मन्त्रखण्डा अपि विनियुक्ताः स्युः किं नश्छिन्नम् । वयं तु ऋचो गणयितुं प्रवृत्ता न तु ऋक्खण्डान् । इषे त्वा । ऊर्जे त्वा । इत्यादयो यजुः खण्डा विनियुज्यन्ते परं मन्त्रस्तु 'इषे त्वा प्रभृति पशून् पाहि पर्यन्तमेक एव । तथा चोक्तं व्यासेन—

पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः ।

(महाभारत शान्ति पर्व ३४४ । २१)

अस्यायमर्थः—यजुर्वेदस्य प्रथममन्त्रात् "इषे त्वा ··· पशून् पाहि" रूपात् पशुहिंसा प्रतिषिद्धा वर्तते । 'पशून् पाहि' पर्यन्तं यजुर्वेदस्य प्रथमो मन्त्र इत्यर्थः । स एव गण्यते न तु यजुः खण्डाः' इषे त्वा' इत्यादयः । तस्मात् 'पश्वा न तायुम्' इत्यादिषु षट्सु सूक्तेषु सुसमाप्तवाक्यार्था ऋचश्चतुष्पदा एवापौरुषेय्यः । तास्त्रिंशदेव गणनीयाः । ननु या अन्या द्विपदाः सन्ति ता अपि चतुष्पदाः कृत्वा गणनीयाः । अयुक्तमेतद् । तासां चतुष्पदाकरणेन कोऽर्थः । तास्तु हवनेऽपि द्विपदाः सुसमाप्तवाक्यार्था अपौरुषेयदशायामपि द्विपदाः । तत्रापि दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

अग्ने भवं सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम् ।

(ऋ० ७ । १७ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—हे (अग्ने) अग्निरिव विद्वन् । अत्रोपमावाचकस्येवशब्दस्य लोपः, त्वं (सुषमिधा) यथा समिधाऽग्निः प्रदीप्यते तथा शोभनया समिधेव

धर्मक्रियया ब्रह्मचर्यसुशीलतापुरुषार्थादिना (समिद्धः) प्रदीप्तः (भव) (उत) अपि च यथा स प्रदीप्तोऽग्निः (उर्विया) पृथिव्या सह (बर्हिः) उदकं विस्तृणाति विस्तारयति आच्छादयति तथा भवान् विद्यया प्रकाशितो भूत्वा जिज्ञासुहृदयेषु विद्यां (वि स्तृणीताम्) तनोतु विस्तारयतु ।

सुसमाप्तवाक्यार्था हीयमृक् । अत्र भव विस्तृणीताम् इति क्रियाद्वयं वाक्यार्थं पूर्णतां गमयति । अन्यया ऋचा ऽस्या ऋचश्चतुष्पदाकरणे किं प्रयोजनम् ।

ख. ऋक्संहिताहस्तलेखेषु सायणादिभाष्यहस्तलेखेषु वा न कुत्रचनापौरुषेयद्विपदासु चतुष्पदासंख्या दृश्यते ।

ग. ऋक्संहिताभाष्यकाराः सर्व एव 'पश्वा न तायुं' इत्यादिकास्त्रिंशदृचश्चतुष्पदा एवाहुः । तथा च सायणभाष्यम्—

तत्र प्रथमामृचमाह—पश्वा न तायुम्०··· विश्वे यजत्राः ॥

द्वितीयामृचमाह—ऋतस्य देवा अनु व्रता··· सुजातम् ॥

तृतीयामृचमाह—पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी··· क ईं वराते ॥

चतुर्थीमृचमाह—जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम्··· रोमा पृथिव्याः ॥

पञ्चमीमृचमाह—श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन्··· विभुर्दूरेभाः ॥

(सायणभाष्य ऋ० १ । ६५ । १—५)

इन्दौरखागलकोटादितः प्राप्तेषु सायणभाष्यहस्तलेखेषु सर्वत्रेदृशः पाठ उपलभ्यते । राजारामशिवराम संपादिते १८१० शकाब्दे मुंबई मुद्रिते सायणभाष्येऽपि तथैव मुद्रितम् । अन्यासु द्विपदासु च सर्वत्र द्विपदायामेव 'प्रथमामृचमाह द्वितीयामृचमाह' इत्याह सायणो न तु तत्र चतुष्पदायां 'प्रथमामृचमाह द्वितीयामृचमाह' इति चाह सायणः । परं मैक्समूलरमहाभागेन स्वसंपादिते सायणभाष्ये 'तत्र प्रथमामृचमाह द्वितीयामृचमाह' इत्यादि पाठा हस्तलेखेषु विद्यमाना अपि परित्यक्ताः । अनुकृतं च पुण्यपत्तनस्थवैदिकसंशोधनमण्डलसंपादकैः ।

घ. सर्वा द्विपदाश्चतुष्पदा करणीयाः सर्वासु चोभयविधा संख्या द्विपदासंख्या चतुष्पदासंख्या च दातव्येत्यदृष्टपूर्वो न कुत्राप्युपलभ्यमान ऋक्संहिताप्रकारो मद्गुसातवलेकरसंपादिते ऋक्संस्करणे दृश्यते । अकस्माज्जातप्रसिद्धिरयं भट्टसातवलेकरमहाभागश्चतुष्पी निमीलयाऽऽर्षासु द्विपदास्वपौरुषेयसहद्विपदास्वपौरुषेयद्विपदासु च सर्वत्रैव द्विपदासंख्यां चतुष्पदासंख्यां च दत्तवान् । तत्याज च सहद्विपदासु सह-

संख्यां वैदिकसंप्रदायभङ्गकारी । संहितासंस्करणेषु नव्यसंप्रदायप्रवर्तकोऽयं महानुभावोऽपि ऋ० ७ । ३४ सूक्ते विद्यमानासु द्विपदासु चतुष्पदासंख्यां न निरवहन् किंकर्तव्यतामूढः । तत्र द्विपदासंख्यैव दृश्यते न चतुष्पदासंख्या । तस्मिन् सूक्ते पञ्चाधिका विंशति ऋचस्तास्वेकविंशतिराद्या द्विपदाः । तत्र षोडश्या ऋचोऽहिर्देवता, सप्तदश्या ऋचश्चाहिर्बुध्न्यो देवता । सर्वा द्विपदाश्चतुष्पदाः करणीया इति सिद्धान्तेऽहिदेवताका षोडशी ऋक् विश्वेदेवदेवतया पञ्चदश्या ऋचा सह चतुष्पदा स्यात् अहिर्बुध्न्यदेवताका सप्तदशी ऋक् च विश्वेदेवदेवतयाऽष्टादश्या ऋचा सह चतुष्पदा स्यात् । एतादृशं शंसनं कुत्राप्यदृष्टवान् मुमोच चतुष्पदामोहं वराकः । अन्यत्र सर्वासु द्विपदासु प्रतिसूक्तमेकैव देवताऽस्ति तत्र निर्वाहितः सर्वद्विपदाचतुष्पदाकरणप्रकारः ।

यच्चोक्तं मैक्समूलरमनुकुर्वद्भिः सर्वैर्भ्रान्तमेव तदप्यविचारितरमणीयम् । मैक्समूलरमहोदयेन स्वसंपादिते ऋग्वेदस्य सायणभाष्यस्य द्वितीयसंस्करणे १८९० 'ख्रिस्ताब्दमुद्रिते 'पृश्वा न तायुम०' इत्यादौ सहसंख्या प्रदत्ता न तु चतुष्पदा

१—क. मैक्समूलर संपादितस्य सायणभाष्यस्य प्रथमसंस्करणे मुखपृष्ठे—

Published under the patronge of the honourable the EAST INDIA Company.

London

W. H. Allen and Co.

Book-Seller to the Honourable the East India Company.

7 Leaden Hall street

1849

ख. मैक्समूलर संपादितस्य सायणभाष्यस्य द्वितीयसंस्करणे मुखपृष्ठे—

Published under the patronage of his Highness the Maharaja of Vijaya nagar.

Lonon

Henry frowde

Oxford University Press ware honse omen corner.

1890

ग. मैक्समूलरमृत्युसमयः—

1 November 1900

संख्या। मैक्समूलरमहाभागस्य मृत्युः १६०० खिस्ताब्दे नवम्बरमासस्य प्रथम-तारिकायां संजातः। तेन स्वजीवनकाल एव स्वयं द्वितीयं संस्करणं सायणभाष्यस्य संपादितम्। मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकीत्यन्यत्। मैक्समूलरस्यानुकृतिस्तु वैदिकसंशोधनमण्डलसंपादकैः कृता न तु महर्षिणा।

ञ. 'पश्वा न तायुं' इत्याद्याश्चतुष्पदा ऋचो याः शंसने-हवने-प्रयोगे द्विपदाः कृतास्तत्कृत्वा ऋक्संख्या न गणिता स्यादित्यभिप्रेत्यैव सायणाचार्योऽप्याह—

तत्र पश्वेत्यादीनि षट् सूक्तानि द्वैपदानि तेष्वध्ययनसमये द्वे द्वे ऋचौ चतुष्पदामेकैकामृचं कृत्वा समाम्नायते। अयुक्संख्यासु तु या ऽन्त्याऽतिरिच्यते सा तथैवाम्नायते। प्रायेणार्थोऽपि द्वयो र्द्विपदयोरेक एव। प्रयोगे तु ताः पृथक् शंसनीयाः। सूच्यते हि पश्वा न तायुमिति द्वैपदम् (आश्व० ८। १॥)

(सायणभाष्य ऋ० १। ६५। १॥)

अस्यायमर्थः—पश्वा न तायुं० इत्याद्याश्चतुष्पदा ऋचो विनियोजकैः सूत्रकारैर्यज्ञे प्रयोगार्थं द्विपदाः कृताः। वस्तुतस्तु ता अध्ययनसमये चतुष्पदा एव। चतुष्पदावस्थायामेव तासामर्थः संभाव्यते न तु द्विपदावस्थायाम्।

ऋ० १। ७० सूक्ते अयुक्षु—अयुतसंख्यासु एकादशसु द्विपदासु।

'साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरः०' ऋ० १। ७०। ६॥ इयमन्त्या द्विपदैव। सा हि सुसमाप्तवाक्यार्था। सायणस्यायं सन्दर्भः पश्वा न तायुं० इति षट्सूक्तपर एव न तु सर्वद्विपदापरः। अतएव 'याऽन्त्याऽतिरिच्यते सा तथैवाम्नायते' इत्युक्तं न तु 'या अन्त्या अतिरिच्यन्ते तास्तथैवाम्नायन्ते' इत्युक्तम्। 'प्रायेणार्थोऽपि द्वयोर्द्विपदयोरेक एव' इति सायणवचोऽपौरुषेयद्विपदासु कथं नाम संगच्छेत तत्रैकैकस्या द्विपदायाः स्वतन्त्रवाक्यार्थत्वात्। सायणभाष्येऽपौरुषेयद्विपदासु चतुष्पदाकरणस्योल्लेखो न दरीदृश्यते।

ननु न स्यात् सायणमते 'पश्वा न तायुं०' इत्यादिमन्त्राणां द्विपदासंज्ञा। यास्कस्तु 'पश्वा न तायुं०' मन्त्रान् द्विपदा एव प्राह। यथा चोक्तम्—

अग्निरपि यम उच्यते । तमेता ऋचोऽनु प्रवदन्ति ।

"सेनैव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका ॥
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥
तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् ॥"

(ऋ० १ । ६६ । ७—६)

इति द्विपदाः ।

(निरु० १० । २१ ॥)

अत्र हि 'तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति' इति बहुवचनेन निर्देशः । 'इति द्विपदाः। इति साक्षात् तासां द्विपदाशब्दप्रयोगश्च यास्केनाकारि । सत्यम् । यज्ञानुबन्धेन हि यास्को द्विपदामाह । शंसने हवने द्विपदा इति पूर्वमुक्तमेव ।

पराशरस्यार्षम् । प्रातरनुवाकाश्विनयर्विनियोगः । तदनुसारिणी यास्क-व्यख्या ततो द्विपदात्वम् । तथाहि—

(यास्ककृता व्याख्या)

अग्नेः अर्चिः (सृष्टा सेनेव) सेनापतिना प्रेरिताऽभ्यनुज्ञाता सेनेव (अमम्) भयम् (दधाति) धारयति शत्रुभ्यः (अमम्) बलं वा दधाति स्वेभ्यः । (अस्तुः) प्रक्षेप्तुः (दिद्युत् न) आयुधमिव दिद्युदिति वज्रनाम वज्रनामानि चायुधमात्रवच-नानि तेनात्र शक्तिरभिप्रेता प्रक्षेप्तुः शक्तिनामास्त्रमिवेत्यर्थः । (त्वेषप्रतीका) प्रतीकं दर्शनमुच्यते त्वेषशब्दश्च भयबलयशोमहत्प्रदीप्तवचनः । भयदर्शना—यस्या दर्शनादेव भयं जायते, बलदर्शना–यस्या दर्शनात् स्वेषु बलमुत्पद्यते, यशः प्रतीका यस्याः सेनाया दर्शनात् तत्सेनापतेः यशो भवति, महाप्रतीका–महादर्शना महती या दृश्यते, दीप्तप्रतीका–दीप्तदर्शना (यमो ह जातः) यम इन्द्रेण सह संगतो ऽग्नि जात उत्पन्न भूतसङ्घः (यमो जनित्वम्) तादृशोऽग्निरेव जनिष्यमाणं भूतजातम्। 'इन्द्राग्नी" इत्येवं रूपेणाग्निर्यमज इवेन्द्रेण सह स्तूयते । यत्किंचिद् भूतं भविष्यच्च चान्नादिकं तत्सर्वमग्न्यधीनमेव तत्सहायेन तदुत्पत्तेः । अयमग्निः (कनीनां जारः) कन्यानां कन्यात्वस्य जरयिता । अग्निसमीपे विवाहसमये कन्यात्वमपगच्छति भार्यात्वं च समधिगम्यते । (जनीनां पतिः) जनीनां जायानां पालकः ऽग्निर्भवति। उक्तं च यास्केन "तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति ।" निरु० १०।२१॥ यज्ञसंयोगेन स्त्रियोऽग्निप्रधाना भवन्ति । अग्निसमीपे ता जायात्वस्य व्रतं गृह्णन्ति

व्रतसमाप्तिपर्यन्तं चाग्निपरतन्त्रा भवन्ति 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' शब्दानु० ४ । १ । ३३ । इति पत्नीशब्दसिद्धिरपि यज्ञसंयोगेनैव । यज्ञस्य पत्नीसाधनत्वात् तत्फलग्रहीतृत्वाद्वा । पत्नीविरहितस्य यज्ञेऽनधिकारः । पतिकर्तृकफलग्रहीत्री हि सा तस्य कर्मणः पत्नीसहायेन निष्पादितत्वात् ।

एवं प्रातरनुवाकाश्विनयोर्विनियोगेऽग्निस्तुतिपरस्यार्थस्य व्याख्याता यास्क 'इति द्विपदाः' इत्याह । वस्तुतस्तु चतुष्पदा इमा ऋचः ।

(महर्षिभाष्यानुसारिणी व्याख्या)

यः सेनापति (यमः) नियन्ता (ह) किल (जातः) प्रकटत्वं गतः (यमः) सर्वथा नियामकः (जनित्वम्) जन्मादिकारणं जनक इव वर्तमानः (कनीनाम्) कन्येव वर्तमानानां रात्रीणां (जारः) हन्ता सूर्य इव द्योतमानः (जनीनाम्) प्रजानाम् (पतिः) पालकश्चास्ति सः (सुष्टा) सुशिक्षिता (सेनेव) विजयकर्त्री सेनेव (अस्तुः) शस्त्रास्त्राणि प्रक्षेप्तुः (त्वेषप्रतीका) स्वदीप्तिभिः प्रतीयमाना (दिद्युत् न) विद्युदिव वर्तमानमायुधमिव (अमम्) अपरिपक्वविज्ञानं जनम् (दधाति) धारयति स्वसंरक्षणे ।

एवं चतुष्पदाया ऋचोऽर्थः । अपौरुषेयचतुष्पदा विनियोजकैर्द्विपदाः कृत्वा विनियुक्ता व्याख्याताश्च । तस्मात् 'पश्वा न तायुम्०' इत्यादयो मन्त्राश्चतुष्पदा एवापौरुषेयदशायां ततस्तास्त्रिंशदेव गणनीया न तु षष्टिः ।

एतेन नित्यनैमित्तिकद्विपदाचतुष्पदाप्रवक्तारो महीदासादयोऽपास्ताः ।

(सहद्विपदासु सहसंख्या)

यच्चोक्तं ऋ० ५ । २४ सूक्ते द्विपदासु सहसंख्या किमर्थं दत्ता । मैक्समूलरस्य भ्रान्त्या स्वामिदयानन्दसरस्वतीमहोदयेनापि भ्रान्तम् । एतदप्यसांप्रतमेव । अग्ने त्वं नोऽन्तम० ऋ० ५ । २४ । १–४) इति चतसृषु ऋक्षु संप्रदायं निर्वोढुं सहसंख्यैव दातव्या । ता हि सहऋचस्तयोर्द्वयोर्द्वयो ऋचोः सह साक्षात्कृतत्वात् सह साक्षात्कर्तुं योग्यत्वाच्च । अपौरुषेयावस्थायामेव सहसंख्यावत्त्वात् । इदमप्यन्यदत्रावधेयं यत् समानमन्त्राणामपि पूर्वोत्तरप्रकरणवशतोऽर्थान्तरावस्थितिर्भवति । साक्षात्कर्तुर्ऋषेर्भेदाच्च विभिन्नार्थसाक्षात्कारश्च जायते । एवं दैवतच्छन्द आदिष्वपि ज्ञेयम् । अतोऽन्यवेदगतानामीदृशमन्त्राणां भिन्ना स्थितिः ।

ननु विचित्रोऽयं प्रकारो यद् भवन्ति सहऋचोऽपीति । शृणु—यथा सहासना ऋषयो भवन्ति तथा सहऋचोऽपि । उक्तं च वेङ्कटमाधवेन—

सहासनकृतां तत्र संप्रीतिं कारणं विदुः ।
आत्ममन्त्रसमांश्चैते मन्त्रान् पश्यन्ति संगताः ॥
बहवः सन्ति ननु च द्रष्टारो द्वैपदस्य ये ।
बन्धुः सुबन्धुरित्येते सत्यं ते भ्रातरोऽभवन् ॥

वेङ्कटमाधवानुक्रमणी ५ । ६ । ९, १० ।

एतदेवाभिप्रेत्य सायणाचार्योऽपि ऋग्वेदभाष्ये प्राह—
तत्रेमे प्रथमद्वितीये । अथ तृतीयाचतुर्थ्यौ ।

(ऋ० सायणभाष्य ५ । २४ । १—४)

एवं सायणो द्वयोर्द्वयो र्ऋचोः सहनिर्देशं चकार । सायणभाष्यस्य हस्तलेखेषु विद्यमाना अप्येते पाठा मैक्समूलरमहोदयेन परित्यक्ता अनुक्तं च वैदिकसंशोधनमण्डलसंपादकैः । परमेते पाठा राजाराम शिवराम संपादिते १८१० शकाब्दे मुंबईनगरे मुद्रिते सायणभाष्येऽद्यापि दृश्यन्त एव । अतः सहऋचासु द्विपदासु सहसंख्यैव देया सर्वत्र तथैवोपलब्धेः । मैक्समूलरसंपादितेषु ऋक्संहितायां पदपाठे सायणभाष्यस्य प्रथमद्वितीयसंकरणयोरन्यत्र मुद्रिते सायणभाष्ये संहितासंस्करणे हस्तलेखेषु च सहसंख्यैव दृष्टा ।

तच्चैतदजानता मैक्समूलरेण ऋक्संहितायाः सायणभाष्यस्य द्वितीयसंस्करणे 'पश्वा न तायुं०' इत्यादिषु ऋक्ष्वपि सहसंख्या प्रदत्ता तदप्यनुक्तं वैदिकसंशोधनमण्डलसंपादकैः । द्विपदानां त्रैविध्यात् द्विपदासु त्रिविधसंख्याङ्कनप्रकारः शोभते महर्षेर्द्विपदातत्त्वज्ञस्य । तद् भूषणं न तु दूषणं महर्षेः । आर्षासु द्विपदासु चतुष्पदा संख्यैव देयाऽपौरुषेयदशायां तासां चतुष्पदात्वात् द्विपदास्तु शंसने ऋषिभिः कृताः । सहऋचासु द्विपदासु सहसंख्यैव देया । अन्यत्रापौरुषेयद्विपदासु द्विपदासंख्यैव देयेति सुस्थमेव ।

ननु भवतामियं नवीना कल्पना भवन्ति त्रिविधा द्विपदाः । नित्यनैमित्तिकद्विपदाः श्रूयन्ते । सत्यम् । अत्रेदं पृच्छयते यथा वेदे ऋचां स्थितिस्तथा व्यवहारः

कर्तव्य उताहो स्विद् यथा नवीनैः परिभाषितं तथा वेदः कर्तव्यः । यथा तैर्दृष्टं तथा तैः परिभाषितं यथाऽस्माभिर्दृष्टं तथाऽस्माभिः परिभाषितम् । बाह्याभ्यन्तरप्रमाणानि, परम्परा, हेतवश्च यथायथं प्रदर्शितानि । तदनभ्युपगमे समस्तदर्शनवैयाकुली स्यात् ।

ततो 'पश्वा न तायुं०' द्विपदा कृतया त्रिंशत्संख्याभिवृद्धया १०५५२ ऋचो भवन्तीत्यपसिद्धान्तः ।

१०५२२ ऋच ऋग्वेदे सन्तीत्येव सुवचम् । एतामेव ऋक्संख्यां मैक्समूलर-महोदयः सत्यव्रतः सामश्रमी च स्वीचकार । इमामेव संख्यामश्रित्य वैदिकपदानु-क्रमकोषसंपादनम् । मैकडानलमहोदयोऽपि ऋक्सर्वानुक्रमणीभूमिकायां १७, १८ पृष्ठे खिलवर्जम् ऋचां संख्या द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतदशसहस्रम् (१०४४२) इत्याह । तत्र वालखिल्य ऋचामशीतिः संख्या तत्संकलनेन १०४४२+८०= १०५२२ ऋक्संख्या संपद्यते ।

(अथ द्विपदात्वविवेचनम्)

कात्यायनादयो द्वयोर्द्वयोर्द्विपदयोरेकैकां चतुष्पदामाहुः । तथाहि—

विंशतिका द्विपदा विराजः । तदर्धमेकपदाः ।
द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति । अयुग्वन्त्या द्विपदैव ।

(कात्यायनानुक्रमणी परिभाषा खण्डः)

अस्यायमर्थः—यस्यां द्विपादवत्यामृचि विंशतिरक्षराणि सन्ति सा द्विपदा विराट्छन्दस्का ज्ञेया । एकपदायामृचि तदर्धं दशाक्षराणि भवन्ति । अध्येतारो द्वयोर्द्विपदयोश्चतुष्पदां कृत्वाऽधीयते । अयुतसंख्यासु द्विपदासु यान्त्या शिष्यते सा द्विपदैव ।

प्रातिशाख्यकारस्त्वेकामेव द्विपदां चतुष्पदां करोति । तथाहि—

विराजो द्विपदाः केचित् सर्वा आहुश्चतुष्पदाः ।
कृत्वा पश्चाक्षरान् पादांस्तांस्तथाऽक्षरपङ्क्तयः ॥

(ऋ० प्रा० १७ । ५० ॥)

अस्यायमर्थ—या विंशत्यक्षरा द्विपदा विराजः सन्ति तासां पञ्चाक्षरान् चतुरः पादान् कृत्वा केचिच् चतुष्पदाः प्राहुः । तासामक्षरपङ्क्तिश्छन्दः । तथाहि—

त्मना॑ स॒मत्सु॑, हि॒नोत॑ य॒ज्ञम् ।
दधा॑त के॒तुं, जना॑य वी॒रम् ॥
(ऋ० ७ । ३४ । ६)

अत्रैकस्यामेव विंशत्यक्षरायां द्विपदायां पञ्चाक्षरान् चतुरः पदान् उपर्युक्तदिशा केचित् कुर्वन्ति । द्विपदामेव चतुष्पदामाहुः ।

द्विपदाशब्देन पादसंख्या निर्दिश्यते । विराज् शब्देन चाक्षरसंख्या । अस्यामृचि कियन्तः पादा कियन्ति चाक्षराणि भवन्त्येतद् द्विपदाविराज्शब्दावाहतुः । तत्र किं छन्द इति छन्दो नामाप्यवश्यं देयम् ।

अत्राह प्रातिशाख्यकारः—

एक एकपदैतेषां द्वौ पादौ द्विपदोच्यते ।
ते तु तेनैव प्रोच्येते सरूपे यस्य पादतः ॥
(ऋ० प्रा० १७ ५५ ॥)

अस्यायमर्थः—यस्यामृच्येकः पादः सैकपदा यस्यां च द्वौ पादौ सा द्विपदा प्रोच्यते । परं छन्दो नाम तस्य पृथग् देयम् । यस्यच्छन्दसः पादेनास्य सादृश्यं तच्छन्दोनाम तस्यामेकपदायां द्विपदायां वाऽवश्यं निर्देश्यम् । प्रातिशाख्यव्याख्याकार उवटोऽप्याह—

छन्दसां मध्ये यस्यच्छन्दसः पादतः सरूपे भवतः । यदि गायत्रस्य सरूपे भवतो यदि वा त्रिष्टुभः । गायत्री द्विपदा त्रिष्टुबेकपदा । इति (उवट)

स्पष्टम् ।

छन्दः संख्या परिशिष्टे ऋग्वेदीयछन्दोगणनायाम्—

एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च ।
(छन्दः संख्यापरिशिष्ट ८)

इति कथनं न समञ्जसम्। अनिर्दिश्य छन्दोनाम केवलमेकपदाः षट् सप्तदश च द्विपदा इति कथनं न छन्दोज्ञानं कारयति। महर्षिणा तु सर्वत्र छन्दोनामानि निर्दिष्टानि।

पिङ्गलसूत्रेष्वपि द्विपदामध्ये द्विपदा विराट् परिगणिता—

तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम्।　　(पिङ्गल ३। १६ ॥)

अस्यायमर्थः—यस्यां जागतगायत्रपादौ भवतः सा तृतीयमर्थात् विराट् द्विपदा गायत्री छन्दः। पिङ्गलसूत्रेषु तृतीयाध्याये 'गायत्र्या वसवः' 'जगत्या आदित्याः' 'विराजो दिश' इति सूत्रत्रयमध्ये तृतीयं 'विराजो दिशः' अतः तृतीय-शब्देन विराडुच्यते। जगतीशब्दो द्वादशसंख्यावाचको गायत्रीशब्दश्चाष्टसंख्यामाह[1]।

(वेङ्कटमाधवस्य ऋक्संख्या)

वेङ्कटमाधव ऋग्वेदभाष्ये पञ्चमाष्टकस्य पञ्चमाध्यायभूमिकाश्लोकेषु ऋक्संख्या-माह—

शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया।
द्वे च यान्यतिरिच्यन्ते द्विपदाश्चात्र संगताः॥
पृथग् यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका।
चतुःशतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम्॥

अस्यायमर्थः—मया वेङ्कटमाधवेन द्वे च यान्यतिरिच्यन्ते अर्थाद् द्व्यधिकं चतुः-शतादधिकं चायुतं दशसहस्रं गणितम्। ऋग्वेदे १०४०२ ऋचः परिगणिताः। अत्र द्विपदाश्चतुष्पदीकृता वर्तन्ते। यदा तु द्विपदानां पृथक् गणना कृता तदा १०४८० ऋचो भवन्ति। अस्य सांकेतिकं वाक्यं ग्रहवानयम् इति वेङ्कटमाधवमतम्।

नव्यमते १०५५२ ऋचः। तत्र १७ नित्यद्विपदाः। १४० नैमित्तिकद्विपदाः। नित्यद्विपदाश्चतुष्पदा न कर्तुं शक्यन्ते तासां विषमसंख्यादिस्थितेः। १४० नैमित्तिक-द्विपदा यदा चतुष्पदाः संपाद्यन्ते तदा ७० संख्या न्यूना भवति। १०५५२ ÷ ७०=१०४८२ ऋचो भवन्ति ततोऽपि खिलऋचां ८० संख्या यदा व्यवकलिता तदा १०४८२ ÷ ८०=१०४०२ ऋक्संख्या भवति। एषा वेङ्कटमाधवस्य चतुष्पदा-पक्षे ऋक्संख्या। द्विपदापक्षे द्विपदानां पृथक् गणनायां ७० संख्यैवाधिका भवेत्

१—'आद्यं चतुष्पाद्तुभिः' पिङ्गल ३। ८ ॥ इति गायत्र्या अधिकारः।

१४० नैमित्तिकद्विपदा एव चतुष्पदीकृता आसन् न तु १७ नित्यद्विपदा अपि। तदा १०४७२ ऋक्संख्या स्यान्नतु १०४८० संख्या। वेङ्कटमाधवोक्ता १०४८० द्विपदाकृता ऋक्संख्या चिन्त्या।

(छन्दःसंख्यायाम् ऋक्संख्या)

छन्दःसंख्यायां छन्दोऽनुसारमृक्संख्या परिगणिता तथाहि—

"एकपञ्चाशद् ऋग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके।
सहस्रद्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु॥ १॥
त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत् तथोष्णिहः।
अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पञ्चाशत् पञ्चसंयुता॥ २॥
बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः।
शतानि त्रीणि पङ्क्तीनां द्वादशाभ्यधिकानि तु॥ ३॥
पञ्चाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोऽधिकाः।
सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेयं तु शतद्वयम्॥ ४॥
चत्वारिंशत् तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम्।
जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम्॥ ५॥
दशैवातिजगत्यो ऽपि तथा सप्त न संशयः।
शक्वर्यो ऽपि तथैवोक्तास्तथा नव विचक्षणैः॥ ६॥
नव चैवातिशक्वर्यः षडष्टयः प्रकीर्तिताः।
अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टिऋचः स्मृताः॥ ७॥
धृतिद्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च।
एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च॥ ८॥
प्रगाथा बार्हता ये ऽत्र तेषां शतमुदाहृतम्।
चतुर्नवतिरेवोक्तास्तद्वद् द्व्यृचास्त्वसंशयः॥ ९॥
काकुभानां तु पञ्चाशद् विज्ञेया पञ्चसंयुता।
महाबार्हत एवैक एवं सार्धं शतद्वयम्॥ १०॥

एवं दश सहस्राणि शतानां तु चतुष्टयम् ।
ऋचां द्व्यधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ११ ॥"

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदे २४५१ गायत्र्यः । ३४१ उष्णिहः । ८५५ अनुष्टुभः । १८१ बृहत्यः । ३१२ पङ्क्तयः । ४२५३ त्रिष्टुभः । १३४८ जगत्यः । १७ अतिजगत्यः । १९ शक्वर्यः । ६ अतिशक्वर्यः । ६ अष्टयः । ८४ अत्यष्टयः । २ धृतीः । १ अतिधृतिः । ६ एकपदाः । १७ द्विपदाः । १९४ बार्हतप्रगाथाः । ५५ काकुभप्रगाथाः । १ महाबार्हतप्रगाथः । एते प्रगाथा द्वृचा ऋग्द्वयसमुदाया इत्यर्थः १९४+५५+१=२५० सार्धशतद्वयं सर्वे प्रगाथाः सन्ति तेषां द्विगुणनेन ५०० ऋचो भवन्ति । एवं ऋग्वेदे १०४०२ ऋचः ।

नव्यमते द्विपदापक्षे १०५५२ ऋक्संख्या । १०५५२ ऋक्संख्यायां १४० नैमित्तिकद्विपदा यदा चतुष्पदाः संपाद्यन्ते तदा ७० संख्या न्यूना भवति । १०५५२ ÷ ७०=१०४८२ ऋक्संख्या । तत्रापि ८० खिलऋचो व्यवकलिताः स्युस्तदा १०४८२ ÷ ८०=१०४०२ ऋक्संख्या ।

(महीदासस्य ऋक्संख्या)

चरणव्यूहटीकाकारमहीदासमते—ऽर्धर्चपक्षे—१०४९६ ऋक्संख्या । तथा चोक्तम्—

अथाध्ययने ऋक्संख्योच्यते । षण्णवत्याधिकचतुःशतदशसहस्राणीति १०४९६ ॥

(चरणव्यूह पृ० २१)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदे त्रीणि त्रीणि अर्धर्चा ऋचः ९४ सन्ति । पूर्वनिर्दिष्टायां १०४०२ ऋक्संख्यायां ९४ संख्यासंकलनेन १०४९६ ऋक्संख्या भवति ।

चरणव्यूहटीकाकारमहीदासमते द्विपदापक्षे १०५५२ ऋचः । तथाचोक्तम्—

ऋग्द्वयसमुदायः प्रगाथो भवति । तत्र पूर्वस्या ऋचो यच्छन्दस्तेन छन्दसा प्रगाथस्य नामकरणं जायते । यथा बार्हते प्रगाथे द्वे ऋचौ तत्र प्रथमा ऋक् बृहतीछन्दस्का द्वितीया ऋक् सतोबृहतीछन्दस्का तत्र बृहत्या नामकरणेन बार्हतः प्रगाथः । काकुभप्रगाथे प्रथमा ऋक् ककुप् द्वितीया ऋक् सतोबृहती तत्र ककुभा नामकरणेन काकुभः प्रगाथः । महाबार्हतप्रगाथे प्रथमा ऋक् महाबृहती द्वितीया ऋक् महासतोबृहती तत्र महाबृहत्या नामकरणेन महाबार्हतः प्रगाथः । (द्र० शब्दानु० ४ । २ । ५५ ॥)

बालखिल्यसहिता सर्वानुक्रमणीगमन्त्ररूपी ऋक्संख्योच्यते। द्विपदाब्धाशदधिकपञ्चशतदशसहस्राणि। बालखिल्यव्यतिरिक्ता संख्या तु द्विसप्तत्यधिकचतुःशतदशसहस्र ऋक्—१०४७२ ॥

(चरणव्यूह पृ० १७)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदे द्विपदापक्षे बालखिल्यसहिता १०५५२ ऋक्संख्या। बालखिल्यरहिता १०४७२ ऋक्संख्या।

(कात्यायनमतम्)

ऋग्वेदसर्वानुक्रमणीकारकात्यायनमते—१०५५२ ऋक्संख्या।

(सत्यव्रतसामश्रमिणो मतम्)

सत्यव्रतसामश्रमिमते १०५२२ ऋक्संख्या तथा चोक्तं तेन—

अस्मत्परिगणनयात्वत्र बालखिल्यसहिता १०५२२ ऋचः सन्ति।

(ऐतरेयालोचनम् पृष्ठ १४३)

(पारायण ऋक्संख्या)

पारायणविधौ १०५८१ ऋक्संख्या। तथा चोक्तम्—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारायणविधौ खलु ॥
पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः।
मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति पुनः पुनः ॥

(लौगाक्षिस्मृतिः)

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

(अनुवाकानुक्रमणी)

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥

(चरणव्यूह पृ० १४)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य सर्वशाखासूत्रगता ऋचो दश सहस्रं पञ्चशतमशीतिस्तथैकः पादः 'भद्रं नो अपि वातय मनः' ऋ० १०। २०। १॥ इत्येकपदा। एवं १०५८१ पारायणसंख्या वर्ण्यते।

१०५२२—महर्षेरियं निर्विवादमृक्संख्या। तत्समालोचनं बाललीलामात्रमिति पूर्वं प्रपञ्चितम्।

१०५५२—केचित्—पृश्वा न तायुमित्यादि षट्सूक्तगतास्त्रिंशच्चतुष्पदाः षष्टिर्द्विपदाः कृत्वा गणयन्ति तदा त्रिंशत्संख्याधिका भवति १०५२२+३०=१०५५२ ऋक्संख्या।

१०४७२—अन्ये—वालखिल्यसूक्तानां या ८० ऋचः सन्ति ताः १०५५२ ऋक्संख्याया व्यवकलयन्ति तेषां ५०५५२÷८०=१०४७२ ऋक्संख्या।

१०४८२—अपरे तु—या ६७ द्विपादवत्य ऋचः सन्ति तत्र सप्तदश (१७) तु नित्या द्विपदास्ताश्चतुष्पदाः कर्तुं न शक्यन्ते शिष्टा या अशीतिः (८०) द्विपदास्ताश्चतुष्पदाः कुर्वन्ति तदा तेषां चत्वारिंशत्संख्या न्यूना भवति। १०५२२÷४०=१०४८२ ऋक्संख्या। ६७ द्विपदावत्यऋचः ६०–६४ पृष्ठे प्रपञ्चिताः।

१०४०२—इतरे—१०४८२ ऋक्संख्याया ८० बालखिल्यऋचो व्यवकलयन्ति तेषां १०४८२÷८०=१०४०२ ऋक्संख्या।

१०४६६—महीदासस्तु १०४०२ ऋक्संख्यायां ६४ त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचो याः सन्ति ताः द्विगुणाः कृत्वा संकलयति तस्य १०४०२ +६४=१०४६६ ऋक्संख्या।

१०४१७—शाकलचरणान्तर्गतशैशिरीयशाखाया ऋक्संख्या।

१०४१९—शाकलचरणान्तर्गता वर्गानुसारं पञ्चशाखा संख्या। अत्र संज्ञानसूक्तस्य पञ्चदश ऋचः संमिलिताः।

१०४०४—संज्ञानसूक्तं विना १०४०४ ऋक्संख्या शाखान्तरकृता

१०४४२—मैकडानलमहोदयस्य खिलवर्जमियं संख्या। खिलसंकलने १०४४२+८०=१०५२२ संख्या भवति।

१०४८०—वेङ्कटमाधवस्य द्विपदापक्षे विचारणीय ऋक्संख्या ।

१०५६६—महीदासस्य द्विपदापक्षे ऽर्धर्चपक्षे च । १०४०२+७०+९४=१०५६६ ।

१०५८१—पारायणसंख्या । अथवा महीदासानुसारम्—
१०४९६ ऋक्संख्यायां नैमित्तिकद्विपदां सप्तति (७०) संख्याया संकलनेन १०४९६+७०=१०५६६ ऋक्संख्या । तत्रापि संज्ञानसूक्तस्य पञ्चदश (१५) संख्या संकलिता क्रियेत, तदा १०५६६÷१५=१०५८१ ऋक्संख्या भवति । परन्तु संज्ञानसूक्तस्य पञ्चदश संख्या संकलते संज्ञानसूक्तस्य चत्वारो वर्गा अपि संकलिताः स्युस्तदा वर्गसंख्या २००६+४=२०१० स्यात् । अनुवाकानुक्रमण्यां खिलवर्जं २००६ वर्गसंख्या ।

(मैक्डानलमहोदयस्य ऋक्संख्या)

मैक्डानलमहोदय ऋक्सर्वानुक्रमणीभूमिकायामृक्संख्यामाह । तथाहि—

The grand total of Verses in the Śākal recension of Rigveda resulting from the addition of the totals for each Mandal is thus 10442. Which is the exact sum I obtain by adding up the aggregates of each metre, where as the same calculation for the aggregates of the Khandah—Saṅkhyā produce only 10402. Dayanand Saraswati, though his totals for each would give only 10521, states the grand total to be 10589. My total by counting the dvipadās (127) twice would be 10569, only eleven less than the figure of the Anuvākānukramaṇí. I think it is not at all improbable that the apparent inconsistencies in the numerical statement for this ancient index will be removed by taking into consideration all the Verses of Rigveda which are repeated. If this should prove to be the case it will indeed be one of the most remarkable fact in the history of literature that a people should have preserved its sacred book without adding chiefly by means of oral tradition, the subjoined table shows the distribution of the metres in detail.

अस्यायमर्थः—प्रतिमण्डलान्तर्गतमन्त्राणां परिगणनेनोपलब्धः शाकल-शाखाया ऋग्वेदस्य मन्त्राणां बृहद्योगः १०४४२ इति संपद्यते । स एव मम छन्दसां परिगणनेन चाप्यते । परं छन्दःसंख्याग्रन्थस्य परिगणनेन स १०४०२ इति संजायते । दयानन्दसरस्वतीस्वामिना यद्यपि मण्डलाधारेण संकलिते बृहद्योगे १०५२१ इति सत्यपि १०५८९ इति समग्रो योगः स्वीकृतः । मम योगे १२७ द्विपदानां द्विः परिगणनेन १०५६९ [क] संख्या संपद्यते । सा चानुवाकानुक्रमण्यां निर्दिष्टायाः संख्यातो ११ संख्या न्यूना भवति [ख] । मन्ये ऋग्वेदस्य द्विरावृत्तानां मन्त्राणां विषये गवेषणया प्राचीनतमायां सूच्यां [ग] संख्यागतस्य स्पष्टविरोधस्य परिहरणं नासंभवम् । यदीदमेव तत्त्वं निश्चीयते तदा साहित्यस्येतिहासे महद् वैचित्र्यमिदं यत् सन्ति ते ऽपि जना यैः स्वपवित्रग्रन्थो रटनसंप्रदायमुखेन तथा रक्षितो यथा नैकस्यापि न्यूनताऽधिकता वा समजनि । संलग्नेन चित्रेण छन्दो ऽनुसारमृचां विभागो ज्ञेयः ।

(ऋक्सर्वानुक्रमणी मैकडानल भूमिका पृष्ठ १७, १८)

क. १०४४२+१२७=१०५६९ मैकडानलसंख्या । अयुक्तमेतत् । चतुष्पदा द्विपदाः कृत्वा द्विर्गण्यन्ते न तु द्विपदा अपि द्विगुणीक्रियन्ते ।

ख. पारायणसंख्या १०५८० एकश्चपादः । १०५६९+११=१०५८० संख्या ।

ग. छन्दःसंख्यायाम् ।

(चित्रम् २१)

Mandal	G.	U.	A.	B.	P.	T.	J.	Atij	S.	Atis	A.	Aty	D.	Ati-dh.	DV.	EK.	B.Pr	K.Pr	MPr	Total
I	472	21	117	5	61	742	356	—	—	5	4	80	1	1	31	—	80	—	—	1976
II	37	—	14	1	—	[1] 230	[2] 142	—	—	4	1	—	—	—	—	—	—	—	—	429
III	104	10	27	19	2	399	50	—	—	—	—	—	—	—	—	—	6	—	—	617
IV	[3] 119	[4] 2	27	—	—	[5] 403	33	1	1	—	1	—	1	—	—	1	—	—	—	[5] 589
V	79	[6] 19	155	6	54	[7] 284	103	11	[8] 1	—	—	—	—	—	4	[9] 3	4	4	—	[10] 727
VI	137	9	45	14	5	478	[11] 39	1	[12] 6	1	—	—	—	—	3	[13] 1	20	4	2	[14] 765
VII	61	1	44	4	1	586	39	—	1	—	—	—	—	—	40		64	—	—	841
VIII	[15] 733	22	[16] 112	[17] 89	[18] 33	81	65	3	7	—	—	—	—	—	13	—	[19] 188	84	—	[20] 1656
IX	600	42	55	10	20	149	166	—	—	—	—	3	—	—	27	—	22	14	—	[21] 1108
X	108	12	260	32	72	901	351	—	4	—	—	—	—	—	9	1	4	—	—	1754
Total	2450	344	856	180	248	4253	1344	16	20	10	6	83	2	1	127	6	388	106	2	10442

(1) Khaudogn. 229 (2) Kh 143 (3) Kh 120 (4) Kh 1 (5) the total of Kh is 588, 402T, 2S and no Ekpada. The explanation is that a tristubh and the following ekpada are here considered a Sakvari it is the same in mandals V and VI.

(6) Omitted in kh (7) kh 281 (8) kh 5 (9) none kh, (10) kh 724 see note 5 (11) kh 40 (12) kh 7 (13) none kh (14) kh 764 (15) kh 717 (16) kh 104. the difference in these cases is exactly made up for by 8 Anushtummukhas (=8 an and 16 gay). (cp. Sarv introd. 116) which though not mentioned in the Kh. Sankhya are given in Sarv VIII 69 and 74 (17) kh 98. (18) kh 35 (19) kh 19 (=38) (20) Dayan Sarasv 1776 (21)

मैकडानलमहोदयस्य छन्दोऽनुसारं प्रतिमण्डलम् ऋक्संख्यायामार्षा द्विपदाश्चतुष्पदीकृता। अन्या द्विपदा एव सर्वा अपौरुषेयाः। वालखिल्यवर्जमियं १०४४२ संख्या। वालखिल्यऋचोऽशीतिः (८०) तासां सङ्कलनेन १०४४२ + ८० = १०५२२ ऋक्संख्या संपद्यते ऋषिसंमता। छन्दःसंख्यापरिशिष्टे तु षष्टिरार्षा द्विपदा अपि चतुष्पदीकृताः, अपौरुषेयेषु च सप्तनवतिद्विपदासु अशीतिः द्विपदाश्चतुष्पदीकृता गड्डलिकाप्रवाहेण। अन्या सप्तदश (१७) नित्या द्विपदास्तन्मतेनावशिष्यन्त एव। तस्माद् अपौरुषेयानामशीतिद्विपदामपि चतुष्पदीकरणेन छन्दःसंख्यायां चत्वारिंशत् संख्या न्यूना भवति। १०४४२÷४०=१०४०२ छन्दःसंख्याया ऋक्संख्या संपद्यते।

मैकडानलमहोदयस्य सर्वयोग ऋषिसम्मतो वालखिल्यवर्जम्। परं द्विपदामधिकृत्य छन्दःसंख्यामीमांसाऽसंगता। तथाहि—

This short index must be considered a parisishta to the khandosnukramani. For the latter, though stating the number of verses in each metre besides the aggregate number of verses of all metres for every mandal, does not supply the totals of every metre for the whole Rigveda. This omission the khandah–Sankyā as I have entitled it, supplies, it is obviously wrong in two items, the number of Panktis being states to be 312 instead of only 248 (see index of metres Appendix III) and that of the dvipadas as 17 instead of 127. The latter error may be due to the calculations of this index being based on totals in figures, as in the khandosnukramani (see above) and being written in words after the 2 of 127 had dropped out. The remaining total agree very nearly with those I have arrived at by adding up the aggregates of metres in each mandal. My aggregates of all verses contained in each Mandal, tally both with those of khandosnukramaṇí (excepting three slight variations which will be explained below).

अस्यायमर्थः—छन्दःसंख्या नाम्नीयं संक्षिप्ता सूची छन्दोऽनुक्रमण्याः परिशिष्टमित्यवधार्यते। यद्यपि छन्दोऽनुक्रमणी प्रतिमण्डलान्तर्गतानां प्रत्येकछन्दसां संख्यां सर्वेषां च छन्दसां योगं प्रतिपादयति तथापि समग्रस्य ऋग्वेदस्य सर्वयोग-

स्तत्र नोपलभ्यते । इयं त्रुटिश्छन्दःसंख्याख्यपरिशिष्टेन पूर्यते । तत्र स्पष्टं द्वे स्खलने भवतः । तथाहि—प्रथमं तावत् २४८ पङ्क्तीनां स्थाने ३१२ योगः प्रदर्शितः । द्वितीयं तावत् १२७ द्विपदानां स्थाने १७ द्विपदा निर्दिष्टाः । द्वितीये स्खलने अस्याः सूच्याः संख्यानिर्देशे १२७ स्थाने १७ इत्यत्र मध्यवर्तिनः २ इत्यङ्कस्य भ्रेषः समजनीति संभाव्यते । शेषो योग प्रतिमण्डलान्तर्गतानां छन्दसां परिगणनेन मदुपलब्धयोगेन प्रायः संवदति । स एव च मया विवरणचित्रे प्रदर्शितः। मम प्रतिमण्डलान्तर्गतानां मन्त्राणां योगश्छन्दोऽनुक्रमण्या योगेन (त्रीन् भेदानपहाय येषां विवरणं तत्र टिप्पण्यां प्रदर्शितम्) संवदति ।

(मैक्डानल ऋक्सर्वानुक्रमणीभूमिका पृष्ठ १७, १८)

वस्तुतस्तु छन्दः संख्यापरिशिष्टे सर्वा द्विपदाश्चतुष्पदीकृता आर्षा अपौरुषेयाश्च ततस्तत्रोक्ता नित्यद्विपदासंख्या तन्मतेन यथार्थैव । मैकडानलमहोदयेन प्रथममण्डलस्य 'पश्वा न तायुं०' ऋ० १ । ६५—७० षट्सूक्तानां षष्टिरार्षा द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्यैकत्रिंशत् (३१) गणिताः । चतुष्पदीभूता अपि तेन महात्मना द्विपदाकोष्ठे निवेशिताः । कात्यायनानुसारं ता एकषष्टिरेव द्विपदा गणनीयास्ततः सर्वयोगः कात्यायनस्य १०४४२+३०=१०४७२ वालखिल्यवर्जं भवति । बालखिल्यानामपि कात्यायनेन ऋषिदैवतच्छन्दांसि निर्दिष्टानीत्युक्तं प्राक् । (द्र० पृ० ५०—५१)

तत्रैकादश बालखिल्यसूक्तानि तत्राशीतिः (८०) ऋचः । ततः कात्यायनस्य सर्वयोग १०४७२+८०=१०५५२ भवति । छन्दःसंख्यायां १०४०२ सर्वयोगः । खिलवर्जमियं संख्या सर्वा द्विपदाश्च चतुष्पदीकृत्य छन्दः संख्यायां परिगणितास्तस्मात् १०५५२÷८०=१०४७२÷७०=१०४०२ संख्या प्रकारभेदपरैव । कात्यायनोक्तदिशा बालखिल्यसूक्तेषु सप्त (७) गायत्र्यः, द्वौ (२) अनुष्टभौ, एका (१) पङ्क्तिः, सप्त (७) त्रिष्टुभः, सप्त (७) जगत्यः ,२८+२=५६ षट्पञ्चाशत् बार्हता प्रगाथाः, एवं ७+२+१+७+७+५६=ऋचो भवन्ति।

मैकडानलमहोदयस्यान्तिमो विचारो यः परिवर्तितः सोऽधोलिखितप्रकारेण ज्ञेयः—

I am unable to look into the Question why the two dvipadas of V. 24. are doubled in the text of sarvanukramaṇi (१,२।३,४।।) unless it is intended to express that they are treated as sacrificial

and not as recited dvipadas (cf. commentary on introduction 12. 10. where 1, 65 is quoted). In any case it seems wrong to re-double the two dvipadas of V. 24, this would make my total 10565. the commentator of the caranvyuha, according to a marginal note. I made long ago in my edition of sarvanukramaṇi gives the total 10552. only 13 less than my total (counting the valkhilyas); in another place in the same com. 10566 is given as the total, counting the 140 NAIMITTIKADVIPADAS, only 1 more than my corrected total. If the odd pada is here counted as 1 verse, the total would be exactly the same.

The question of the treatment of the 94 verses consisting of 3 Ardharchas should be taken into consideration in calculating totals: when sacrificial, 3 ARDHARCHAS count as one verse; if recited, as two verses.

अस्यायमर्थः—अहमिदमवबोद्धुमसमर्थो यत् कथं पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशतिसूक्तस्य द्वे द्विपदे सर्वानुक्रमण्यां द्विगुणीकृते। द्विपदा हि प्रयोगे द्विगुणीक्रियन्ते। अध्ययने न द्विगुणीक्रियन्ते। सर्वथा हि ऋ० ५। २४ सूक्तस्य द्विपदयोर्द्विगुणीकरणमशुद्धमेव। तथा मम योगः १०५६५ संपद्यते[क]। चरणव्यूहटीकाकार ऋचां सर्वयोगं १०५५२ संख्यां निर्दिशति यथा मया पूर्वम् ऋक्सर्वानुक्रमणीपूर्वसंस्करणे प्रदर्शितम्। अयं योगो मम १०५६५ योगे १३ संख्या न्यूना। १०५६५ ÷ १३= १०५५२। अयं योगो वालखिल्यसहितः। पुनश्चायं चरणव्यूहटीकाकारो द्वितीयस्थाने १०५६६ संख्यामपि निदर्शयति। अत्र मम योगादेका संख्या ऽधिका। १०५६५+१=१०५६६। अयं योगस्तदा भवति यदा १४० नैमित्तिकद्विपदानां प्रत्येकमेका संख्या गणिता स्यान् नित्यद्विपदां च।

या हि ९४ संख्याः त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचः सन्ति ता यदि प्रयोगे वर्तन्ते तदा एका ऋक्। यदा चाध्ययने तदा द्वे ऋचाविति ज्ञेयम्।

(मैकडानल पत्र from Oxford Dated 8-8-1919)

मैकडानलमहोदयेन दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः १०५२१ ऋक्संख्या निर्दिष्टा

क. न तु १०५६६ संख्या यथा मया पूर्वं लिखिताऽऽसीदित्यभिप्रायो मैक्डानलस्य। १०५६६ ÷ १=१०५६५।

सा तु १०५२२ ज्ञेया । तत्राष्टममण्डलस्य विंशतिसूक्तस्य ऋक्संख्या षट्त्रिंशत् (३६) मुद्रिता सा तु षड्विंशतिः (२६) ज्ञेया । तत्र योगेऽपि १७२६ स्थाने १७१६ संख्या बोध्या, अत्र हि दशाधिका संख्या संकलिता । तथा च नवम-मण्डलस्य योगेऽपि कस्यापि सूक्तस्यैकादशसंख्याऽसंकलितैव, तत्संख्याऽपि १०९७ संख्यायाः स्थाने ११०८ संख्या मन्तव्या । इदं सर्वप्रथमं मैकडानल-महोदयो निरदिशत् । तथाहि—

and with the statements of Dayanand Saraswati in his Rigvedbhashya (P. P. 1—8) except in Mandals VIII and IX, but in these two cases my total agree with those of khandoऽnukramani in this former case the cause of error is evident, as hymn 20 of Mandal VIII is stated to have 36 verses, where it has 26.

अस्यायमर्थः—मम ऋक्संख्यायोगो दयानन्दसरस्वतीस्वामिन ऋग्भाष्ये १—८ पृष्ठे उपक्षिप्तेन विवरणेन च संवदति । केवलं अष्टमनवममण्डलयोर्नि-संवदति । परमेतयोर्मण्डलयोर्विषये मम योगश्छन्दोऽनुक्रमण्यां यथा निर्दिष्टं तथैव । दयानन्दसरस्वतीस्वामिन ऋग्भाष्यविवरणे ऽष्टमे मण्डले भ्रान्त्याः कारणं स्पष्टं यथा हि तत्र विंशतितमे सूक्ते २६ मन्त्रसंख्यायाः स्थाने ३६ मन्त्रसंख्या प्रतिपादिता[1]।

(मैकडानल सर्वानुक्रमणीभूमिका पृष्ठ १७, १८)

महर्षेर्भाष्ये या हि ऋग्वेदस्य १०५८९ सर्वयोगसंख्या मुद्रिता दृश्यते तत्कारणं लिपिदोषं मन्यन्ते । पारायणविधया ऽपि च व्याख्यातुं शक्यते । यथा शौनकस्य—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥

इतिवदिदमपि वक्तुं पार्यते—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
नवाशीतिर्ऋचश्चैव पारणं संप्रकीर्तितम् ॥

१—मैकडानलमहोदयेन स्वविवरणकोष्ठे नवममण्डलस्य ११०८ मन्त्रसंख्या मुद्रिता । टिप्पणे च दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो नवम मण्डलस्य १०९७ मन्त्रसंख्या प्रदर्शिता । तत्रैकस्य सूक्तस्यैकादशसंख्या ऽसंकलितेत्युक्तं प्राक् । १०९७ + ११ = ११०८ ।

(चित्रम् २२)

छन्दः	छन्दःसंख्या	मैकडानलः	कात्यायनः खिलवर्जम्	कात्यायन-वालखिल्य-छन्दांसि	कात्यायन-सर्वछन्दांसि
गायत्री	२४५१	२४५०	२४५०	७	२४५७
उष्णिक्	३४१	३४४	३४४		३४४
अनुष्टुप्	८५५	८५६	८५६	२	८५८
बृहती	१८१	१८०	१८०		१८०
पङ्क्तिः	३१२	३१८	३१८	१	३१९
त्रिष्टुप्	४२५३	४२५३	४२५३	७	४२६०
जगती	१३४८	१३४४	१३४४	७	१३५१
अतिजगती	१७	१६	१६		१६
शक्वरी	१९	२०	२०		२०
अतिशक्वरी	९	१०	१०		१०
अष्टिः	६	६	६		६
अत्यष्टिः	८४	८३	८३		८३
धृतिः	२	२	२		२
अतिधृतिः	१	१	१		१
द्विपदाः	१७	१२७	१५७		१५७
एकपदाः	६	६	६		६
बार्हतप्रगाथाः	३८८	३८८	३८८	५६	४४४
ककुप्प्रगाथाः	११०	१०६	१०६		१०६
महाबार्हतप्रगाथाः	२	२	२		२
सर्वयोगः	१०४०२	१०४४२	१०४७२	८०	१०५५२

(वर्गानुसारं महीदासस्य ऋग्वेदस्य शाकलचरणस्य
पञ्चशाखाया ऋक्संख्या)

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः ।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम् ॥
सांख्याश्वलायनौ चैव मण्डूका वाष्कलास्तथा ।
बह्वृचा ऋषयः सर्वे पञ्चैते ह्येकवादिनः ॥
एकर्चे एक (१) वर्गश्च, एकश्च (१) नवकस्तथा ।
द्वौ (२) वर्गौ द्व्चौ ज्ञेयौ ऋक्त्रयस्य शतं (१००) मतम् ॥
चतुर्ऋचां पञ्चसप्तत्यधिकं च शतं (१७५) तथा ।
पञ्चर्चं तु द्विशतकं सहस्रं रुद्र (१२११) संयुतम् ॥
पञ्चचत्वार्यधिकं तु षड्चां तु शतत्रयम् (३४५) ।
सप्तऋचां शतं ज्ञेयं विंशतिश्चाधिका (१२०) स्मृताः ॥
अष्ट ऋचां तु पञ्चाशत् पञ्चाधिकाः (५५) तथैव च ।
दशाधिकसहस्रद्वय (२०१०) वर्गाः पञ्चशाखासु निश्चिताः ॥
वर्गाः संज्ञानसूक्तस्य चत्वारश्चात्र मीलिताः ।
एवं पारायणे प्रोक्ता ऋचां संख्या न न्यूनतः ॥
(चरणव्यूह पृष्ठ २३-२५)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदप्रादुर्भावानन्तरं प्रथमं प्रयत्नतोऽभ्यस्य शाकलेन महर्षिणा ऋक्समूह ऋग्वेदः प्रचारितः । तदनन्तरं शाङ्खायनाऽऽश्वलायनमण्डूकवाष्कलैर्महर्षिभिः ऋग्वेदः प्रचारितः । सर्व एवैते पञ्च ऋग्वेदिनो महर्षय एकवादिनः पञ्चस्वपि शाकलशाङ्खायनाश्वलायनमण्डूकवाष्कलशाखासु ऋक्संख्या समानैव । साङ्ख्य इति शाङ्खायनशाखा ।

पञ्चस्वपि शाखासु एकर्चे एको वर्गः । एकस्मिन् वर्गे एकैव ऋक् यथा 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' ऋ० अष्टक १, अध्याय ७, वर्ग ७। नवकोनवर्चोऽपि वर्ग एक एव। यथा 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः' अष्टक ७, अध्याय ६, वर्ग ५। द्वयोर्वर्गयोर्द्वौ द्वौ ऋचौ । तृचाः शत (१००) वर्गाः । चतुर्ऋचा एकशतं पञ्चसप्ततिश्च (१५७) वर्गाः । पञ्चर्चा एकसहस्रं द्वे शते एकादश च (१२११) वर्गाः।

एकादश रुद्रा इति रुद्रशब्द एकादशवाचकः। षड्चाः त्रिशतं पञ्चचत्वारिंशच्च (३४५) वर्गाः। अङ्कानां वामतो गतिरिति पञ्चचत्वारींत्युक्रम्। सप्तर्चा एकशतं विंशतिश्च (१२०) वर्गाः। अष्टर्चाः पञ्चपञ्चाशत् (५५) वर्गाः।

पञ्चशाखासु सहस्रद्वयं दश च (२०१०) वर्गाः सन्ति। अत्र अस्यां वर्ग-संख्यायां संज्ञानसूक्तस्य चत्वारो वर्गाः संमिलिताः। ऋग्वेदे २०२४ वर्गाः सन्तीत्युक्तं प्राक् तत्राष्टादश (१८) वर्गाः खिलसूक्तानाम्, खिलवर्जं २००६ वर्गा भवन्ति। २००६ वर्गसंख्यायां चत्वारो वर्गाः संज्ञानसूक्तस्य संकलिताः २००६+४=२०१० वर्गाः पञ्चसु शाखासु भवन्ति। एवमियमेव पञ्चशाखापारायणसंख्या। न न्यूनतः पूर्णत इत्यर्थः।

संज्ञानमुशनाऽवदत् संज्ञानं वरुणो ऽवदत्।
संज्ञानमिन्द्रश्चाग्निश्च संज्ञानं सविता ऽवदत्॥

इत्यादि पञ्चदशर्चं संज्ञानसूक्तम्।

(चित्रम् २३)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्वृचौ	२	४
३ तृचाः	१००	३००
४ चतुर्ऋचाः	१७५	७००
५ पञ्चर्चाः	१२११	६०५५
६ षड्चाः	३४५	२०७०
७ सप्तर्चाः	१२०	८४०
८ अष्टर्चाः	५५	४४०
९ नवर्चाः	१	९
योगः	२०१० वर्गाः	१०४१९ ऋचः

१०४०२ ऋक्संख्यायां संज्ञानसूक्तस्य पञ्चदश ऋचः संमिलिता ऋग्द्वयं च शाखाकृतम्। १०४०२+१५+२=१०४१९ ऋचः पञ्चशाखासु सन्तीति महीदास-मतम्। १०४०२ ऋक्संख्या तु पूर्वं प्रपञ्चिता।

(वर्गानुसारं शौनकस्य शैशिरीयशाखाया ऋक्संख्या)

एकर्चं एकवर्गः (१) स्यादेकश्च (१) नवकस्तथा ।
द्वौ (२) वर्गौ द्वृचौ ज्ञेयौ न्यूनं तृचशतं (६७) स्मृतम् ॥
चतुष्कं शतमेकश्च चत्वारः सप्ततिः (१७४) तथा ।
पञ्चकानां सहस्रं तु द्वे च सप्तोत्तरे शते (१२०७) ॥
त्रीणि शतानि षट्कानां चत्वारिंशत् षट् च (३४६) वर्गाः ।
शतमूनविंशतिः(११६) सप्तकानां न्यूना षष्टिः (५६)अष्टकानाम् ॥

(शौनकानुक्रमणी ४०—४२)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेद एकर्चं एको (१) वर्गः । नवकः नवर्चश्च एको (१) वर्गः । द्वृचौ द्वौ (२) वर्गौ । तृचाः न्यूनशतं (६७) वर्गाः । चतुर्ऋचा एकशतं चतुः सप्ततिश्च (१४७) वर्गाः । पञ्चर्चा एकसहस्रं द्वे शते सप्त च (१२०७) वर्गाः । षड्चाः त्रीणि शतानि षट्चत्वारिंशत् (३४६) वर्गाः । सप्तर्चाः एकशतमेकोनविंशतिश्च (११६) वर्गाः । अष्टर्चा एकोनषष्टिः (५६) वर्गाः ।

(चित्रम् २४)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्वृचौ	२	४
३ तृचाः	६७	२६१
४ चतुर्ऋचाः	१७४	६९६
५ पञ्चर्चाः	१२०७	६०३५
६ षड्चाः	३४६	२०७६
७ सप्तर्चाः	११६	८३३
८ अष्टर्चाः	५६	४७२
६ नवर्चः	१	६
योगः	२००६	१०४१७ ऋचः

१०४०२ ऋक्संख्यायां पञ्चदश (१५) ऋचः शैशिरीयशाखायाः । १०४०२ +१५=१०४१७ ऋक्संख्या ।

(वर्गानुसारं वेङ्कटमाधवस्य ऋक्संख्या)

एकर्चे एको (१) वर्गः स्यात्, द्वृचौ द्वौ (२), नवकावुभौ (२) ।,
एकोनं स्यात् त्रिकशतं (९९), चतुष्कं पञ्चसप्ततिः ॥
अधिकं च शतं वर्गाः (१७५), चतुःपञ्चाशत् (५४) अष्टकाः ।,
एकविंशशतं प्राहुः (१२१) सप्तकानां च वैदिकाः ॥,
शतानि त्रीणि षट्कानां चत्वारिंशत् त्रयः (३४३) तथा ।,
पञ्चकानां सहस्रं च द्वे शते नवकं (१२०९) तथा ॥,

(माधवानुक्रमणी ५।५।२३—२५)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदे एकर्चे एको (१) वर्गः । द्वृचौ द्वौ (२) वर्गौ । नवकौ उभौ=ऋग्वेदे द्वौ वर्गावेतादृशौ यत्र प्रत्येकं नव नव ऋचः सन्ति । त्रिकाः तृचा एकोनं शतं (९९) वर्गाः। चतुष्काः चतुर्ऋचा एकशतं पञ्चसप्ततिश्च (१७५) वर्गाः । अष्टका अष्टर्चाः चतुःपञ्चाशत् (५४) वर्गाः। सप्तकाः सप्तर्चाः एकशतम् एकविंशतिश्च (१२१) वर्गाः । षट्काः षड्चाः त्रिशतं त्रिचत्वारिंशच्च (३४३) वर्गाः । पञ्चर्चा एकसहस्रं द्वे शते नव च (१२०९) वर्गाः ।

(चित्रम् २५)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्वृचौ	२	४
३ तृचाः	९९	२९७
४ चतुर्ऋचाः	१७५	७००
५ पञ्चर्चाः	१२०९	६०४५
६ षड्चाः	३४३	२०५८
७ सप्तर्चाः	१२१	८४७
८ अष्टर्चाः	५४	४३२
९ नवर्चौ	२	१८
योगः	२००९	१०४०२ ऋचः

खिलवर्जमियं संख्या । १४० नैमित्तिकद्विपदाश्च चतुष्पदीकृताः ।

(वर्गानुसारं महर्षेर्ऋक्संख्या)

प्रदीपकर्तुः श्लोकाः

एकर्चे एक (१) वर्गः स्यादेकश्च (१) नवकस्तथा ।
द्वादशर्चस्तथा (१) ज्ञेयो द्वृचो नैव दृश्यते (०) ॥१॥
शतं (१००) तृचाश्चतुष्का वा एकाशीत्याधिकं शतम् (१८१)।
पञ्चर्चा द्विशतं प्रोक्तं सहस्रं षोडशान्वितम् (१२१६) ॥२॥
द्विचत्वारिंशदाख्याताः षड्चास्तु शतत्रयम् (३४२) ।
सप्तर्चा हि तथैवोक्ता द्वाविंशत्यधिकं शतम् (१२२) ॥३॥
अष्टर्चाः पञ्चपञ्चाशत् (५५), दशर्चाः पञ्च (५) वै मताः ।
एकादशऋचां वर्गो द्वृचवन्नैव (०) विद्यते ॥४॥
द्विसहस्रमृचां वर्गा गणिता परमार्षिणा ।
प्राजापत्यश्रुतौ नित्याश्चत्वारो विंशतिः (२०२४) तथा ॥५॥
द्वाविंशतिः शतं पञ्च सहस्रं दश (१०५२२) वा ऋचः ।
दयानन्देन सन्दृष्टाः सुसमाप्तवचोयुजः ॥६॥

(चित्रम् २६)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या		वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१	एकर्चः	१	१
२	द्वृचः	×	×
३	तृचाः	१००	३००
४	चतुर्ऋचाः	१८१	७२४
५	पञ्चर्चाः	१२१६	६०८०
६	षड्चाः	३४२	२०५२
७	सप्तर्चाः	१२२	८५४
८	अष्टर्चाः	५५	४४०
९	नवर्चाः	१	९
१०	दशर्चाः	५	५०
११	एकादशर्चाः	×	×
१२	द्वादशर्चः	१	१२
	योगः	२०२४ वर्गाः	१०५२२ ऋचः

१४० नैमित्तिकद्विपदावस्थायां वालखिल्यसाहिता प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या

(चित्रम् २७)

प्रतिवर्गम् ऋक्	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्व्चः	×	×
३ तृचाः	१००	३००
४ चतुर्ऋचाः	१८१	७२४
५ पञ्चर्चाः	१२२१	६०५५
६ षड्चाः	३४१	२०४६
७ सप्तर्चाः	१२२	८५४
८ अष्टर्चाः	५५	४४०
६ नवर्चाः	१	६
१० दशर्चाः	१०	१००
११ एकादशर्चः	१	११
१२ द्वादशर्चः	१	१२
योगः	२०२४	१०५५२

१४० नैमित्तिकद्विपदानां ७० चतुष्पदावस्थायां वालखिल्यसहिता प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या

(चित्रम् २८)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्वृचौ	२	४
३ तृचाः	१०१	३०३
४ चतुर्ऋचाः	१८०	७२०
५ पञ्चर्चाः	१२२०	६१००
६ षड्चाः	३४३	२०५८
७ सप्तर्चाः	१२१	८४७
८ अष्टर्चाः	५५	४४०
९ नवर्चः	१	९
१० दशर्चः	×	×
११ एकादशर्चः	×	×
१२ द्वादशर्चः	×	×
योगः	२०२४	१०४८२

१४० नैमित्तिकद्विपदानां ७० चतुष्पदावस्थायां वालखिल्यरहिता प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या

(चित्रम् २६)

प्रतिवर्गम् ऋक्संख्या	वर्गसंख्या	संकलने समस्त ऋक्संख्या
१ एकर्चः	१	१
२ द्वृचौ	२	४
३ तृचाः	६६	२६७
४ चतुर्ऋचाः	१७४	६९६
५ पञ्चर्चाः	१२१०	६०५०
६ षड्चाः	३४३	२०५८
७ सप्तर्चाः	१२१	८७४
८ अष्टर्चाः	५५	४४०
९ नवर्चः	१	९
१० दशर्चः	×	×
११ एकादशर्चः	×	×
१२ द्वादशर्चाः	×	×
योगः	२००६	१०४०२

१४० नैमित्तिकद्विपदावस्थायां बालखिल्यसहिता प्रत्यष्टकं संपूर्णा वर्गसंख्या

(चित्रम् ३०)

अष्टकम्	एकर्चः	द्वृचाः	तृचाः	चतुर्ऋचाः	पञ्चर्चाः	षड्चाः	सप्तर्चाः	अष्टर्चाः	नवर्चाः	दशर्चाः	एकादशर्चाः	द्वादशर्चाः	वर्गयोगः
१	१	+	१२	२२	१७३	४२	५	४	+	५	१	+	२६५
२	+	+	१७	१५	१२४	४६	१२	७	+	+	+	+	२२१
३	+	+	४	१६	१३५	४१	२०	६	+	+	+	+	२२५
४	+	+	१२	२६	१५८	२६	१५	१०	+	+	+	+	२५०
५	+	+	१३	१७	१३८	४०	२०	७	+	३	+	+	२३८
६	+	+	११	२८	२०७	५८	१६	१०	+	१	+	+	३३१
७	+	+	८	३६	१५६	३३	१०	२	१	१	+	१	२४८
८	+	+	२३	२१	१२	५२	२४	१	+	+	+	+	२४६
योगः	१	+	१००	१८१	१२११	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२०२४
बालखिल्यान्तर्गताः वर्गाः	+	+	२	६	१०	+	+	+	+	+	+	+	१८
बालखिल्यातिरिक्ता वर्गाः	१	+	९८	१७५	१२०१	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२००६

महर्षेर्वर्गानुसारम् ऋग्वेदस्य प्रत्यष्टकं सम्पूर्णा वर्गसंख्या

(चित्रम् ३१)

अष्टकम्	एकर्चः	द्वृचः	तृचाः	चतुर्ऋचाः	पञ्चर्चाः	षड्चाः	सप्तर्चाः	अष्टर्चाः	नवर्चाः	दशर्चाः	एकादशर्चाः	द्वादशर्चाः	योगः
१	१:	—	१२	२२	१७८	४३	५	४	—	—	—	—	२६५
२	—	—	१७	१५	१२४	४६	१२	७	—	—	—	—	२२१
३	—	—	४	१६	१३५	४१	२०	६	—	—	—	—	२२५
४	—	—	१२	२६	१५८	२६	१५	१०	—	—	—	—	२५०
५	—	—	१३	१७	१३८	४०	२०	७	—	३	—	—	२३८
६	—	—	११	२८	२०७	५८	१६	१०	—	१	—	—	३३१
७	—	—	८	३६	१५६	३३	१०	२	१	१	—	१	२४८
८	—	—	२३	२१	१२०	५२	२४	६	—	—	—	—	२४६
वर्गयोगः	१	—	१००	१८१	१२१६	३४२	१२२	५५	१	५	—	१	२०२४
ऋग्योगः	१	—	३००	७२४	६०८०	२०५२	८५४	४४०	९	५०	—	१२	१०५२२

दयानन्दसरस्वती–कात्यायन–वेङ्कटमाधवानां मण्डलानुवाकसूक्तऋक्संख्या

(चित्रम् ३२)

	दयानन्दसरस्वती				कात्यायनः		वेङ्कटमाधवः	
	मण्डलम्	अनुवाकाः	सूक्तानि	ऋचः	सूक्तानि	ऋचः	सूक्तानि	ऋचः
	१	२४	१९१	१९७६	१९१	क २००६	१९१	१९७६
	२	४	४३	४२९	४३	४२९	४३	४२९
	३	५	६२	६१७	६२	६१७	६२	६१७
	४	५	५८	५८९	५८	५८९	५८	५८९
	५	६	८७	७२७	८७	७२७	८७	ख ७२५
	६	६	७५	७६५	७५	७६५	७५	७६५
	७	६	१०४	८४१	१०४	८४१	१०४	ग ८२३
	८	१०	१०३	१७१६	१०३	१७१६	घ ९२	ङ १६३१
	९	७	११४	११०८	११४	११०८	११४	च १०९७
	१०	१२	१९१	१७५४	१९१	१७५४	१९१	छ १७५०
पूर्णानुवाकसंख्या		८५						
पूर्णसूक्तसंख्या			१०२८		१०२८		झ १०१७	
पूर्णऋक्संख्या				१०५२२		ज १०५५२		ञ १०५०२

क. ऋ० १।१९१–७० पश्वा न तायुं०' इत्यादि षट् सूक्तेषु वर्तमानास्त्रिंशच्चतुष्पदाः कात्यायनमते षष्टिर्द्विपदा इति त्रिंशत्संख्या तन्मतेनाधिका भवति १९७६+३०=२००६। वेङ्कटमाधवस्तु सर्वा द्विपदाश्चतुष्पदा. करोति।

ख. ऋ० ५।२४ सूक्ते वर्तमाना चतस्रः सहद्विपदा वेङ्कटमाधवो द्वे चतुष्पदे करोति ततस्तन्मतेन संख्याद्वयं न्यूनं भवति। ७२७ ÷ २ = ७२५।

ग. ऋग्वेदे सप्तममण्डले चत्वारिंशद् द्विपदाः। तत्र चत्वारस्तु नित्या द्विपदास्ताश्चतुष्पदा न कर्तुं शक्यन्ते। द्र० पृ० ९८। शिष्टाः षट्त्रिंशद् द्विपदाः वेङ्कटमाधवेन चतुष्पदाः क्रियन्ते ततस्तन्मतेनाष्टादशसंख्या न्यूना भवति। ८४१ ÷ १८ = ८२३।

घ. ऋग्वेदेऽष्टममण्डले एकादश ४९–५९ सूक्तानि बालखिल्यसूक्तानि। वेङ्कटमाधवस्य बालखिल्यवर्जमियं संख्या १०३ ÷ ११ = ९२।

(ऋग्वेदे ऽक्षरादिसंख्या)

अर्द्धर्चानां सहस्राणामेकाविंशतिकं तथा ।
शतद्वयं तु द्वात्रिंशत् सपादं मुनिभिः पुरा ॥४४॥
शाकल्यदृष्टे पदमेकलक्षमेकं सार्द्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम् ।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि ॥४५॥
एकं च शतसहस्रं दश च सहस्राणि सप्त शतानि ।
चर्चापदानि ज्ञेयानि पदानि चान्यानि चत्वारि ॥
चत्वारि वाव शतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि ।
द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि ॥

(शौनकानुक्रमणी)

अस्यायमर्थः—एकविंशतिसहस्रं द्विशतं द्वात्रिंशच्च (२१२३२) अर्द्धर्चाः पादश्चैकः ऋग्वेदे मुनिभिः पुरा दृष्टमिति शेषः । अथ—एकलक्षं, सार्धं च= पञ्चाशत् सहस्रं त्रिसहस्रयुक्तं त्रिपञ्चाशत् सहस्रमित्यर्थः, शतानि चाष्टौ अष्टशतमित्यर्थः, दशकद्वयं=विंशतिः, षट् च—एकं लक्षं त्रिपञ्चाशत् सहस्रं अष्टौ शतं

ङ. ऋग्वेदे ऽष्टममण्डले बालखिल्यसूक्तेष्वशीतिः (८०) ऋचः । बालखिल्यवर्जमष्टममण्डलस्य १७१६ ÷ ८० = १६३६ ऋक्संख्या । तत्राष्टममण्डले ऋ० ८।२६।१–१० दश द्विपदाः । वेङ्कटमाधवो दश द्विपदाः पञ्च चतुष्पदाः करोति ततस्तस्य पञ्चसंख्या ऽन्या न्यूना भवति । १६३६ ÷ ५ = १६३१ वेङ्कटमाधवस्याष्टममण्डलस्य ऋक्संख्या ।

च. ऋग्वेदे नवममण्डले १०९ सूक्ते १–२२ द्वाविंशतिर्द्विपदाः । वेङ्कटमाधवस्ताश्चतुष्पदाः करोति ततस्तस्यैकादशसंख्या न्यूना भवति ११०८ ÷ ११ = १०९७ नवममण्डलस्य ऋक्संख्या तन्मतेन ।

छ. ऋग्वेदे दशममण्डले ऋ० १०।१५७।१–४; ऋ० १०।१७२।१–४ ऋचोऽष्टौ द्विपदाः । वेङ्कटमाधवस्ताश्चतुष्पदाः करोति ततस्तस्य चतुःसंख्या न्यूना भवति १७५४ ÷ ४ = १७५० ।

ज. ऋ० १।६५–७० सूक्तेषु वर्तमानास्त्रिंशच्चतुष्पदाः कात्यायनादिभिः षष्टिर्द्विपदाः क्रियन्ते । ततस्तेषां त्रिंशत् संख्या ऽधिका भवति १०५२२+३० = १०५५२ ।

झ. ऋ० ८।४९–५९ एकादश बालखिल्यसूक्तानि । वेङ्कटमाधवस्य बालखिल्यवर्जमियं सूक्तसंख्या १०२८ ÷ ११ = १०१७ ।

ञ. नव्यमतानुसारं १०५५२ ऋक्संख्यायां १४० नैमित्तिकद्विपदाः वेङ्कटमाधवस्ताश्चतुष्पदाः करोति ततः ७० संख्या न्यूना भवति १०५५२ ÷ ७० = १०४८२ । तत्रापि ८० बालखिल्यऋचः बालखिल्यवर्जम् १०४८२ ÷ ८० = १०४०२ ऋक्संख्या ।

षड्विंशतिश्च (१, ५३, ८२६,) शाकल्यदृष्टे शाकलकृते पदपाठे चर्चितानि अभ्यस्तानि पदपाठे द्विरावृत्तानि पदानीत्यर्थः । ४५ ॥ क्रमसंख्यामाह एकं शत-सहस्रम्=एकलक्षमित्यर्थः दश सहस्राणि सप्त शतानि चत्वारि च (१, १०,७०४) चर्चापदानि=क्रमरूपेणाभ्यस्तानि पदानि ऋग्वेदे सन्ति । क्रमसंख्येत्यर्थः ।

चत्वारि शतसहस्राणि=चत्वारि लक्षाणीत्यर्थः द्वात्रिंशत्सहस्राणि (४३२०००) अक्षराणि ऋग्वेद इति शौनकमतम् ।

तथा च शतपथ ब्राह्मणम्—

स ऋचो व्यौहद् द्वादश बृहती सहस्राणि एतावत्यो ह्यृचो याः प्रजापतिसृष्टाः ।

(शत० ब्रा० १०।४।२।२३॥)

अस्यायमर्थः—षट्त्रिंशदक्षरा बृहती तस्या द्वादशसहस्रेण गुणनेन ३६× १२०००=४३२००० अक्षराणि भवन्ति । एषा ऽक्षरसंख्या प्रजापतिसृष्टानामृचां भवति । मीमांस्यमिदं सर्वं ।

मतमतान्तराणि प्रदर्शितानि । महर्षेर्ऋक्संख्यासिद्धान्तश्च साधितः ।

अथ ऋचां महर्षिभाष्यं व्याख्यास्यते—

इत्युपक्रमणिका

आर्यभाषा

जिस ऋग्वेद की व्याख्या आगे की जायेगी उस में दस हजार पांच सौ बाईस (१०५२२) ऋचाएं (मन्त्र) हैं ऐसा निर्देश महर्षि ने अपनी तालिकाओं में किया है। ऋग्वेद में कितने मन्त्र हैं इस सम्बन्ध में अनेक मत है उस मतभेद के नीचे लिखे कारण हैं।

१—ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में ४९—५९ तक ग्यारह सूक्त बालखिल्य सूक्त कहे जाते हैं उनमें ८० मन्त्र हैं। कुछ लोग इन ८० मन्त्रों को ऋग्वेद में नहीं मानते उनके मत में ८० संख्या कम होजाती है।

२—ऋग्वेद में ६४ मन्त्र 'त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचः' कहे जाते हैं। कुछ लोग इन ६४ मन्त्रों को जिन में प्रत्येक में तीन तीन पाद हैं दो पाद का एक मन्त्र बनाते हैं और एक पाद का पृथक् एक मन्त्र बनाते हैं। इस प्रकार एक एक मन्त्र के दो दो मन्त्र होजाते हैं। तदनुसार ६४ संख्या बढ़ जाती है।

३—ऋग्वेद में कुछ मन्त्र द्विपदा कहे जाते हैं। कुछ लोग उन द्विपदा ऋचाओं को दो दो मन्त्रों का एक एक चतुष्पदा मन्त्र बना लेते हैं। यदि ऋग्वेद में १४० द्विपदाएं चतुष्पदा बना दी जावें तो १४० मन्त्रों के ७० मन्त्र बन जावेंगे। ऐसी स्थिति में ७० संख्या कम स्वतः हो जावेगी।

४—कुछ ग्रन्थों में जो ऋग्वेद की भिन्न भिन्न मन्त्र संख्या लिखी पाई जाती है उसका यह भी कारण है कि मूल ऋग्वेद में १०५२२ मन्त्र हैं पर ऋग्वेद की विभिन्न शाखाओं में मन्त्रसंख्या कम-बढ़ अवश्य है अतः वह मन्त्रसंख्या ऋग्वेद की न होकर ऋग्वेद की किसी शाखा की मन्त्रसंख्या है। इत्यादि कारणों से ऋक्संख्या में मत भेद पाये जाते हैं इन सब को आगे विस्तार से वर्णन किया जाता है।

(बालखिल्य ऋचाओं के कारण मन्त्रसंख्या में भेद)

ऋग्वेद में जो बालखिल्य ऋचाएं हैं उनको पृष्ठ ४८—४९ पर चित्रसंख्या १४,१५ में देखो। बालखिल्यों के ११ सूक्त हैं १८ वर्ग हैं जिनमें ८० ऋचाएं हैं। नवीनों (याज्ञिकों) के मतानुसार ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र हैं। कुछ लोग इन ८० ऋचाओं को ऋग्वेद में नहीं गिनते हैं अतः यदि १०५५२ में से ८० ऋचाएं कम करदी जावें तो १०५५२-८०= १०४७२ ऋक्संख्या होती है। यह मत महीदास का है कि ऋग्वेद की बालखिल्य ऋचाओं को छोड़ कर १०४७२ मन्त्र संख्या है। परन्तु महर्षि बालखिल्य ऋचाओं को भी ऋग्वेद के अन्तर्गत ही मानते हैं। उसके कारण नीचे लिखे वर्णन किये जाते हैं।

क. ऋग्वेद का पदपाठ[1] शाकल्य ऋषि ने किया है। शाकल्य ने जिस प्रकार ऋग्वेद के अन्य सब मन्त्रों का पदपाठ किया है उसी प्रकार जो बालखिल्य ऋचाएं

१—मन्त्रों के प्रत्येक शब्द को अलग पदच्छेद करके सस्वर दिखाना और उस में यदि समास आदि है तो उस में अवग्रह चिह्न ऽ दिखाना इत्यादि बातें पदपाठ में होती हैं।

ऋग्वेद की कही जाती हैं उनका भी पदपाठ शाकल्य ने किया है। इससे स्पष्ट है कि शाकल्य की दृष्टि में वालखिल्य ऋचाएं ऋग्वेद के अन्तर्गत हैं। वालखिल्य ऋचा का पदपाठ पृष्ठ ५० पर देखो।

चरणव्यूह में भी लिखा है कि जिन मन्त्रों का पदपाठ नहीं होता है वे खिलमन्त्र कहाते हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ५० पर देखो। अतः ये वालखिल्य ऋचाएं खिल अर्थात् परिशिष्ट नहीं है प्रत्युत मूल ऋग्वेद के अन्तर्गत ही हैं।

ख. कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के सब मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं। उस ऋक्सर्वानुक्रमणी में जिस प्रकार अन्य मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द दिखाए हैं उसी प्रकार जो वालखिल्य ऋचाएं अस्सी (८०) कही जाती हैं उन सब के भी ऋषि, देवता और छन्द कात्यायन ने लिखे हैं। इस से भी स्पष्ट है कि कात्यायन की दृष्टि में ये वालखिल्य ऋचाएं ऋग्वेद के अन्तर्गत है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ५०–५१ पर देखो।

ग. ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण में वालखिल्य ऋचाएं विद्यमान हैं। यह भी यही सिद्ध करता है कि वालखिल्य ऋचाएं ऋग्वेद का भाग हैं क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का है। ऋग्वेद की ऋचाओं का विनियोग आदि ऐतरेयब्राह्मण में है। ऋग्वेद का भाग होने से ही ऐतरेयब्राह्मण में वालखिल्य ऋचाओं का वर्णन है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ५२ पर देखो।

घ समस्त ऋषिपरम्परा में वालखिल्यऋचाएं समानरूप से पाई जाती हैं।

(१) ब्राह्मण[1] ग्रन्थों में अपने वेद के मन्त्र प्रतीकमात्र दिये जाते हैं तथा अन्य वेदों के मन्त्र संपूर्ण लिखे जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण क्योंकि ऋग्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है अतः ऋग्वेद के जिस प्रकार अन्य मन्त्र प्रतीकमात्र लिखे हैं संपूर्ण उद्धृत नहीं हैं उसी प्रकार वालखिल्य ऋचाएं भी प्रतीकमात्र ही लिखी हैं। यदि ये वालखिल्य ऋचाएं ऋग्वेद का भाग न होती तो वालखिल्य ऋचाओं को संपूर्ण उद्धृत किया जाता।

(२) कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में वालखिल्य ऋचाओं के भी ऋषि, देवता और छन्द दिखाये हैं यह बात हम पूर्व लिख ही चुके हैं।

(३) वालखिल्य ऋचाओं का वर्णन जिस प्रकार ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण में है उसी प्रकार यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में, सामवेद के ब्राह्मण ताण्ड्य महाब्राह्मण में और अथर्व के ब्राह्मण गोपथब्राह्मण में भी वालखिल्य ऋचाएं पाई जाती हैं। इस प्रकार चारों वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों में वालखिल्यऋचाओं की सत्ता है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ५३ में देखो।

ङ. महर्षि साक्षाद्द्रष्टा भी थे अतः उन्हें इस बात का साक्षात्कार था कि ऋग्वेद के अन्तर्गत ही वालखिल्य ऋचाएं हैं।

१—ब्रह्म अर्थात् वेद के व्याख्यानग्रन्थ को ब्राह्मणग्रन्थ कहते हैं।

(बालखिल्य नाम का कारण)

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ४६ से ५६ तक ग्यारह सूक्तों को बालखिल्य सूक्त कहते हैं। इन ग्यारह सूक्तों के ८० मन्त्र बालखिल्य मन्त्र कहे जाते हैं। इन मन्त्रों के अर्थद्रष्टा ऋषियों का नाम बालखिल्य हुआ। कुछ लोग इनको खिल भी कहते हैं। इन सब के बालखिल्य नाम पड़ने के दो कारण शतपथ ब्राह्मण में लिखे हैं।

१—हरे भरे अनाजपूर्ण दो खेतों के मध्य में जो सूखा खेत हो जिसमें कुछ न हुआ हो उस सूखे खेत को संस्कृतभाषा में "खिल" कहते हैं। इसी प्रकार जब अर्थद्रष्टा ऋषि मन्त्रों के विशेष अर्थों के साक्षात्कार करने में प्रवृत्त हुए तब ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ४६ से ५६ तक सूक्तों के विशेष अर्थ कुछ समय तक साक्षात्कृत नहीं हुए उन सूक्तों से पूर्व के सूक्त और आगे के सूक्त साक्षात्कृत होगये। कुछ काल तक खिल क्षेत्र के समान ये सूक्त रहे। फिर ये भी साक्षात्कृत होगये और इनके समझने में बालमात्र ही अन्तर था जैसी कहावत है कि सींक ओट पहाड़। इस कारण इन सूक्तों का नाम बालखिल्य सूक्त पड़ा और इनकी ऋचाओं का नाम बालखिल्य ऋचा या बालखिल्य मन्त्र पड़ा और इन मन्त्रों के अर्थद्रष्टा ऋषियों को बालखिल्य ऋषि कहा जाने लगा। मन्त्रों के अर्थद्रष्टा ऋषियों के नाम मन्त्रों में वर्णित विषयों के आधार पर भी कहीं कहीं होगये हैं। चाहे उन ऋषियों के अपने निजी नाम कुछ भी रहे हों। जैसे जिन मन्त्रों के अन्त में "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" आता है उन मन्त्रों के अर्थद्रष्टा ऋषियों का नाम शिवसंकल्प ऋषि पड़ गया और वही नाम प्रचलित हुआ।

२—दूसरा कारण बालखिल्य नाम पड़ने का यह है कि बालखिल्य का अर्थ है प्राण। इन मन्त्रों में प्राण की महिमा का वर्णन है अतः इन सूक्तों और इनके मन्त्रों तथा इनके अर्थद्रष्टा ऋषियों का नाम बालखिल्य पड़ा है। मन्त्रों में जिस विषय का वर्णन होता है उसको वेद की परिभाषा में देवता कहते हैं जैसे यदि यह कहा जावे कि इस मन्त्र का यह देवता है इसका यह अर्थ समझो कि इस मन्त्र में इस विषय का वर्णन है। जैसे "ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" इन अघमर्षण मन्त्रों का देवता 'भाववृत्त' है। इसका यह अर्थ है कि इन मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति के विषय का वर्णन है।

बालखिल्य सूक्तों के देवता इस प्रकार हैं—

क. ऋ० अष्टम मण्डल के ४६ से ५३ तक सूक्तों के सब मन्त्रों का देवता 'इन्द्र' है। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र का अर्थ प्राण किया है।

ख. ऋ० ८।५४ सूक्त के १,२,५—८ मन्त्रों का भी देवता 'इन्द्र' है।

ग. ऋ० ८।५४ सूक्त के ३, ४, मन्त्रों का देवता 'विश्वे देवाः' है। शतपथ मे विश्वे देवाः का अर्थ प्राण है।

घ. ऋ० ८।५५ सूक्त का देवता 'प्रस्कण्व की दानस्तुति' है। प्रस्कण्व का अर्थ है कण्व का पुत्र। कण्व का अर्थ मेधावी है। और वेद में पुत्र का अर्थ अत्यन्त है। कण्व—मेधावी का पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी। जैसे आज कल यह कहा जाता है कि यह तो उसका भी बाप है अर्थात् उससे बढ़ कर है वैसे ही वेद में इस प्रकार कहा जाता है कि यह उसका भी बेटा है। अतः प्रस्कण्व का अर्थ अत्यन्त मेधावी होता है। प्राणायाम से ही अत्यन्त मेधावी बन सकता है।

ङ. ऋ० ८।५६।१—४ मन्त्रों का देवता 'प्रस्कण्व की दानस्तुति' ही है।

च. ऋ० ८।५६।५ मन्त्र का देवता 'अग्नि और सूर्य' है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में अग्नि और सूर्य का अर्थ प्राण किया है।

छ. ऋ० ८।५७ सूक्त का देवता 'अश्विनौ' है। निरुक्त में प्राण और अपान को अश्विनौ कहा है।

ज. ऋ० ८।५८।१ मन्त्र का देवता 'ऋत्विजः' है। ऐतरेयब्राह्मण में ऋत्विजः का अर्थ प्राण किया है।

झ. ऋ० ८।५८।२, ३ मन्त्र का देवता 'विश्वे देवाः' है। देखो ऊपर ग.।

ञ. ऋ० ८।५९ सूक्त का देवता 'इन्द्रावरुणौ' है। महर्षि ने ऋ० ५।४१।१ में इन्द्रवरुण का अर्थ प्राण और उदान किया है।

इस प्रकार वालखिल्य ११ सूक्तों में प्राणमहिमा विषय का वर्णन है। पृष्ठ १०९, ११० में जो हमने लिखा है इन सब के संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ५४, ५५ में देखो।

वालखिल्य सूक्तों पर महर्षि का न विस्तृतभाष्य है और नाहीं संस्कृत और आर्यभाषाभाष्य ही है। केवल महर्षिकृत चतुर्वेदविषयसूची में वालखिल्य सूक्तों के सब ही मन्त्रों का विषय निर्देश अवश्य है उसका सहारा लेकर वालखिल्य प्रथम ऋचा की व्याख्या करने का साहस करता हूं जिस से यह स्पष्ट हो जायगा कि इन मन्त्रों में प्राण की महिमा का वर्णन होने से ही इन ८० मन्त्रों का नाम वालखिल्य पड़ा है।

ओ३म्। अ॒भि प्र वः॑ सु॒राध॑स॒मिन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे।
यो ज॑रि॒तृभ्यो॑ म॒घवा॑ पु॑रू॒वसुः॑ स॒हस्रे॑णेव॒ शिक्ष॑ति ॥
ऋ० ८।४९।१॥

अन्वयः—(हे साधक ! त्वम्) वः सुराधसम् इन्द्रम् अभि अर्च यथा विदे (शिष्यः अर्चति)। मघवा पुरुवसुः यः जरितृभ्यः सहस्रेण इव शिक्षति।

पदार्थान्वयभाषा—हे साधक ! तू (वः) अपने (सुराधसम्) विद्या और योगादि धन जिस से प्राप्त होता है उस (इन्द्रम्) प्राण को (अभि अर्च) लक्ष्य करके सत्कार

कर अर्थात् प्राण का संयम कर। (यथा विदे) जिस प्रकार विद्वान् गुरु के लिये शिष्य आदर भाव रखता है।

(मघवा) जिस प्राण के संयम करने से विद्या योगादि धन प्राप्त होता है और (पुरुवसुः) बहुत जीवन देने वाला (यः) जो प्राण (जरितृभ्यः) वृद्धों के लिये अथवा योगसिद्धि को जानने वालों के लिये (सहस्रेण इव) आयु को अवश्य ही (शिक्षति) देता है।

पदार्थ के संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ५५ पर देखो। इसी शैली से सब वालखिल्य ऋचाओं का अर्थ करना चाहिये।

जो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वालखिल्य नाम के ऋषि थे उन्होंने इन मन्त्रों को बनाया है अतः मन्त्रकर्ता ऋषियों के नाम पर इन ऋचाओं का नाम वालखिल्य ऋचा पड़ा है। और ये परिशिष्ट हैं। ये मन्त्र ऋग्वेद के अन्तर्गत नहीं है। इन ८० मन्त्रों को निकाल कर ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या गिननी चाहिये। ये सब बातें असत्य हैं। उपर्युक्त सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि वालखिल्य ऋचाएं ऋग्वेद के अन्तर्गत ही हैं। अतः वालखिल्य ऋचाओं सहित ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या १०५२२ है।

(२)

(त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचाओं के कारण मन्त्रसंख्या में भेद)

ऋग्वेद के विभिन्न अष्टकों में त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचा कही जाती है। देखो पृष्ठ ५६-५८ ॥ ये ऋचाएं ९४ हैं। इन में हर ऋचा में तीन तीन पूर्ण विराम हैं। देखो पृष्ठ ५६ पर एक त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचा उधृत है। महीदास यज्ञ में तो इस प्रत्येक को एक ही ऋचा मानता है पर अध्ययनकाल में एक एक ऋचा की दो दो ऋचा बनाता है। ऋचा के तीन पूर्ण विरामों में से दो पूर्ण विरामों की एक ऋचा और तीसरे पूर्ण विराम की दूसरी ऋचा महीदास बनाता है। इस प्रकार महीदास ९४ मन्त्रों को १८८ मन्त्र बना लेता है। इस प्रकार ९४ मन्त्र अधिक बन जाते हैं।

नवीनों के अनुसार ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र हैं। यदि ८० वालखिल्य मन्त्रों की गणना न की जावे तो १०५५२ ÷ ८० = १०४७२ मन्त्र रह जाते हैं। और जो नवीनों के मतानुसार १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं है उन को चतुष्पदा बना लिया जावे तो ७० संख्या और कम हो जावेगी। १०४७२ ÷ ७० = १०४०२ इस संख्या में ९४ संख्या त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचाओं की दुगनी की हुई यदि जोड़ी जावे तो १०४०२+९४=१०४९६ मन्त्र संख्या महीदास के मत में त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा पक्ष में होती है।

वास्तव में तो ऋग्वेद की ऋक्संख्या में से न वालखिल्य ऋचाओं को निकालना चाहिये और न त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चा ऋचाओं को दुगना ही करना चाहिये। १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा बनाया जाता है यह पक्ष भी वैदिक परम्पराओं को न समझने के कारण से ही है।

अब आगे द्विपदाओं के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया जाता है।

(३)

(द्विपदाओं के कारण मन्त्रसंख्या में भेद)

संस्कृत साहित्य के श्लोकों में चार चार पाद होते हैं परन्तु वेद के मन्त्र कोई एक ही पाद वाले हैं, कुछ मन्त्रों में दो पाद हैं, बहुत से मन्त्रों में तीन पाद चार पाद पांच पाद हैं इत्यादि नाना प्रकार के मन्त्र हैं।

(एकपदा)

सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक पाद वाली ऋचाएं केवल छः ६ हैं। संस्कृत प्रमाण और ऋचाएं पृष्ठ ५६-६० पर चित्र सं० १६ में देखो। इनमें से भी **"भद्रं नो अपि वातय मनः"** ऋ० १०।२०।१।। यह एक एकपदा ऋचा सूक्त के आदि में आती है और अन्य पांच एकपदा ऋचाएं सूक्तों के मध्य में हैं। उन पांच ऋचाओं को कुछ आचार्य पृथक् ऋचा न मान कर उन से पूर्ववर्ती ऋचा का अन्त भाग मानते हैं। उनके मत में एक ही ऋचा एक पाद वाली है। सूक्त के आदि में होने से यह एकपदा ऋचा किसी अन्य ऋचा का अन्त भाग नहीं बन सकती क्योंकि उस से पूर्व उस सूक्त में कोई ऋचा है ही नहीं। परन्तु महर्षि उन पांचों को भी पृथक् ऋचा ही रखते हैं जैसी ऋषि परम्परा है। यदि उन पांच एकपाद वाली ऋचाओं को उनसे पूर्व वाली ऋचाओं का अन्त भाग मान लें तो ऋग्वेद की ऋक् संख्या में पांच संख्या कम हो जावेगी।

दो पाद वाली ऋचाओं के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। द्विपदाओं की वस्तु स्थिति महर्षि ही समझ सके। गड्डलिका प्रवाह से द्विपदाओं के सम्बन्ध में कुछ ऐसे विचार फैल गये हैं जिन से न केवल देश विदेश के वैदिक विद्वान् ही बहके प्रत्युत अपने को आर्य विद्वान् कहने वाले भी मिथ्या भ्रान्ति में पड़ गये। अतः द्विपदाओं के सम्बन्ध में अब विस्तृत विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

(द्विपदा)

ऋग्वेद में दो पाद वाली ऋचाएं केवल ६७ हैं। देखो पृष्ठ ६०-६४ पर चित्र संख्या १७। उस चित्र में हम ने प्रत्येक द्विपदा का पता दिया है और प्रत्येक द्विपदा की अक्षर संख्या तथा महर्षि का बताया छन्द नाम प्रत्येक द्विपदा का लिख दिया है। कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के सब मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द दिये हैं परन्तु इन द्विपदाओं का छन्द द्विपदा विराट् ही लिख कर छोड़ दिया वैसा ही हम ने चित्र में दे दिया है इस सम्बन्ध में आगे लिखा जावेगा।

महर्षि द्वारा स्थापित वैदिकयन्त्रालय अजमेर मुद्रित ऋग्वेद में इन ६७ मन्त्रों पर ही दो दो पाद पर मन्त्रसंख्या दी है। ऋ० १।६५—७० तक ६ सूक्तों में प्रत्येक में पांच पांच मन्त्र हैं परन्तु अन्तिम ७० सूक्त में ६ मन्त्र हैं। इन ३१ मन्त्रों में ३० मन्त्र चार चार पाद वाले हैं अन्तिम ऋ० १।७०।६ मन्त्र दो पाद वाला है। प० सातवलेकरजी मुद्रित ऋग्वेद में उन चार पाद वाले तीस मन्त्रों को दो दो पाद वाला बना

कर ६० मन्त्र कर लिये हैं इस प्रकार ऋग्वेद की १०५२२ ऋक्संख्या में तीस ऋचाएं अधिक होजाती हैं १०५२२+३०=१०५५२ ऋक्संख्या इन के मत में होती है। महर्षि ने इनको चतुष्पदा ही माना है और ये मन्त्र संख्या में ३० हैं ६० नहीं। देखो पृष्ठ ६५—६७ पर चित्र संख्या १८।

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के २४ सूक्त में चार ही ऋचाएं हैं ये सहद्विपदा कहाती हैं अतः इन में सहसंख्या वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित ऋग्वेद में पड़ी है। अर्थात् दो मन्त्र लिख कर १, २ इकट्ठी संख्या दी है फिर दो मन्त्र लिख कर ३, ४ संख्या इकट्ठी डाली है। इसका अभिप्राय यह है कि इन ऋचाओं का साक्षात्कार दो दो का इकट्ठा मिल कर ही होने योग्य है अतः ये सहद्विपदा कहाती हैं। इन चार मन्त्रों पर इस प्रकार सहसंख्या सब भाष्यकार आदि डालते चले आये हैं। यह एक परम्परा रही है।

प० सातवलेकर जी ने ऋग्वेद में प्रायः सब द्विपदाओं में दो दो पादों पर भी मन्त्रसंख्या डाली है और उन को चार चार पाद वाला बना कर चतुष्पदा पर भी संख्या डाली है। जो ऋचाएं सूक्त के अन्त में विषमसंख्या आदि में होने के कारण उस के आगे कोई और ऋचा न होने से चतुष्पदा बन ही नहीं सकती उस पर केवल दो पाद पर ही संख्या डाली है। और प० सातवलेकर जी ने ऋ. ५। २४ की चार ऋचाओं पर सहसंख्या न डाल कर दो दो पादों पर भी संख्या डाली है और चार चार पादों पर भी। यह एक अनोखा प्रकार उनका है।

(अन्य मत)

इस १०५५२ ऋक्संख्या को अन्य लोग बड़े अभिमान के साथ वर्णन करते हैं और ये लोग सब ऋषि मुनि आचार्य और विद्वानों पर आक्षेप करते हैं कि ये सब लोग द्विपदाओं के स्वरूप को नहीं समझते थे। इन अन्यों का कहना है कि "स्वामी दयानन्दसरस्वती को ऋग्वेद की सही ऋक्संख्या का ज्ञान नहीं था और न उन्हें यह पता था कि द्विपदाओं पर संख्या किस प्रकार डाली जाती है। वास्तव में द्विपदाओं के स्वरूप को स्वामी दयानन्दजी समझते ही न थे। उन्हों ने तो केवल पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर की नक़ल कर दी है। प्रायः आजकल लोग पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करते हैं।

वैदिकमुनि स्वामी हरप्रसाद, आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी और वैदिकपदानुकोष-संपादक वैदिक विद्वान् प० विश्वबन्धुशास्त्री को भी मैक्समूलर से ही भ्रान्ति हुई। इस समय कोई भी द्विपदाओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता है।"

उपर्युक्त प्रकार से अन्य लोग सब की निन्दा करते हैं और अपना पक्ष ये लोग इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि—

"१—द्विपदा दो प्रकार की हैं। संपूर्ण १५७ द्विपदाओं में १७ नित्यद्विपदा हैं और १४० नैमित्तिकद्विपदा हैं। देखो पृष्ठ ६७, ६८ पर चित्र सं. १६, २०। चरणव्यूह

टीका पृष्ठ ६८ में नैमित्तिक द्विपदाओं का उल्लेख है संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ६९ पर देखो। और नित्य द्विपदाओं का वर्णन उपलेख सूत्रों में है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ६९, ७० पर देखो।

२—मैक्समूलर का यह अक्षम्य अपराध है कि उस ने द्विपदाओं पर तीन प्रकार की संख्या डाली है।

(१) ऋ. १।६५—७० की 'पश्वा न तायुं॰' इत्यादि ६० द्विपदाओं पर चतुष्पदा बनाकर चतुष्पदा पर संख्या डाली है

(२) ऋ. ५।२४ सूक्त की द्विपदाओं पर सहसंख्या डाली है अर्थात् दो द्विपदा लिख कर १, २ संख्या इकट्ठी डाली है फिर दो द्विपदा लिखकर ३, ४ संख्या इकट्ठी डाल दी है। देखो पृष्ठ ७०।

(३) अन्य सब द्विपदाओं पर द्विपदासंख्या ही डाल रखी है।

३—कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में तथा उस के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने तथा चरणव्यूह टीकाकार महीदास ने लिखा है कि—

"दो दो द्विपदाओं को एक एक चतुष्पदा बना कर अध्ययन करना चाहिये। परन्तु शंसन काल—प्रयोग काल—यज्ञ में द्विपदाओं का ही विनियोग है। अतः "पश्वा न तायुं॰" इत्यादि ऋ॰ १।६५ सूक्त में शंसन काल में दश ऋचाएं द्विपदा रूप में मानी जायेंगी और अध्ययन काल में इन सूक्तों में पांच पांच ऋचाएं मानी जावेंगी" संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ७१ पर देखो।

४—कात्यायन अनुक्रमणी में "नित्य द्विपदा" शब्द का प्रयोग भी है।

अतः वस्तुस्थिति इस प्रकार समझनी चाहिए कि द्विपदाएं दो प्रकार की होती हैं एक नित्य द्विपदा और दूसरी नैमित्तिक द्विपदा। अध्ययन काल में सब १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बना लेना चाहिये जिनकी ७० चतुष्पदा बनेंगी। तब ऋक्संख्या में ७० संख्या कम हो जावेगी १०५५२–७०=१०४८२ मन्त्रसंख्या अध्ययन काल में होगी। नित्य द्विपदाएं जो १७ संख्या में हैं वे तो सदा द्विपदा ही रहेंगी। क्योंकि वे विषम संख्या आदि में होने से कोई अन्य ऋचा है नहीं जिस के साथ चतुष्पदा बने। जैसे ऋ. १।७० सूक्त में ११ ऋचाएं हैं। १० ऋचाओं की तो पांच चतुष्पदा बन जावेंगी पर ११वीं ऋचा अकेली है वह तो द्विपदा ही रहेगी। अतः या तो सब द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाना चाहिये या सब को द्विपदा रखना चाहिये। मैक्समूलर ने "पश्वा न तायुं॰" आदि ऋ॰ १।६५—७० तक की ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बना कर छाप दिया अन्यों को द्विपदा ही रहने दिया यह अर्द्धजरती न्याय ही है। इस के अतिरिक्त ऋ॰ ५।२४ की चार द्विपदाओं पर सहसंख्या डाल दी। मैक्समूलर की यह भ्रान्ति उस तक ही सीमित न रही प्रत्युत स्वामी दयानन्द आदि ने भी बिना सोचे इस की नक़ल की।" यह पण्डितम्मन्य अन्य लोगों का मत है। अब इसका उत्तर सुनिये।

(अन्यमतनिराकरण)

द्विपदाएं तीन प्रकार की हैं। १—आर्ष द्विपदाएं। २—अपौरुषेय द्विपदाएं। ३—अपौरुषेयसहद्विपदाएं।

क. हमें विचार इस रूप में करना है कि अपौरुषेयअवस्था में कौन मन्त्र द्विपदारूप में है और कौन चतुष्पदा रूप में है। अध्येता लोक द्विपदाओं को चतुष्पदा करलें या यज्ञ में विनियोग वाले चतुष्पदा को द्विपदा करलें इस आधार पर ऋक्संख्या की गणना नहीं होती है। यज्ञों में तो मन्त्रखण्डों का भी विनियोग करते हैं। जैसे 'इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑स्थ०' से लेकर 'प॒शून् पा॑हि' तक एक मन्त्र यजुर्वेद का है। विनियोग वालों ने इ॒षे त्वा॑। ऊ॒र्जे त्वा॑। वा॒यव॑ स्थ। इत्यादि अनेक मन्त्र बना कर विनियोग किया और पूरे मन्त्र का नाम कण्डिका रख दिया। जब यजुर्वेद के मन्त्रों की गणना होगी तब मन्त्र खण्ड गिने जावेंगे या पूरा मन्त्र एक मन्त्र गिना जावेगा। यजुर्वेद का यह पहला मन्त्र है यह एक ही मन्त्र गिना जावेगा। जैसा वेदर्षि वेदव्यास ने महाभारत में लिखा है कि—

पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः।

(महाभारत शान्ति पर्व ३४४। २१॥)

अर्थ—यजुर्वेद के प्रथममन्त्र में ही पशुहिंसा का निवारण किया गया है। पशुहिंसा निवारण "प॒शून पा॑हि" वाक्य से होता है। अतः यदि 'इ॒षे त्वा॑' से लेकर "प॒शून् पा॑हि" तक एक मन्त्र माना जावे तभी तो यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र से पशुहिंसा का निवारण होगा। अतः वेदव्यास के मत में यह कण्डिका नहीं प्रत्युत मन्त्र है। लाहौर में अनुसन्धान का कार्य करते हुए अचानक यह वेदव्यासवचन दृष्टि में आया तब वहाँ मैंने अपने साथियों को अङ्कित करा दिया था। अतः मन्त्रों की स्थिति देखने से और ऋषि परम्परा का अनुसरण करते हुए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ६७ मन्त्र ही दो पाद वाले अपौरुषेय अवस्था में हैं "प॒श्वा न ता॒युं०" आदि ऋ० १।६५—७० सूक्त तक की ६० ऋचाएं अपौरुषेय अवस्था में ३० चतुष्पदा ही हैं। विनियोग वालों ने उन ३० चतुष्पदाओं को ६० द्विपदा बना कर विनियुक्त किया। अतः ३० चतुष्पदाओं की बनी उन ६० द्विपदाओं को हम आर्ष द्विपदा ही कहेंगे वे अपौरुषेय द्विपदा नहीं हैं। इन सूक्तों की प्रथम ऋचा को हम उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

ओ३म्। प॒श्वा न ता॒युं गुहा॒ चत॑न्तं॒ नमो॑ युजा॒नं नमो॒ वह॑न्तम्।
स॒जोषा॒ धीराः॑ प॒दैरनु॑ ग्म॒न्नुप॑ त्वा सीद॒न् विश्वे॒ यज॑त्राः॥

(ऋ० १। ६५। १॥)

अर्थ—हे भगवन् ! (पश्वा) खोये हुए पशु के पादचिह्न आदि के द्वारा (न) जिस प्रकार खोजने वाले (तायुम्) चोर को वैसे ही (सजोषाः) समान प्रीति वाले (धीराः) विद्वान् (विश्वे) सब (यजत्राः) उपासक लोग (नमो युजानम्) भक्तों को देने के लिये भोग्य पदार्थों को धारण करने वाले (नमो वहन्तम्) नमस्कार को स्वीकार करने वाले (गुहा चतन्तम्) सब पदार्थों के मध्य में तथा सब के अन्तःकरणों में विद्यमान (त्वा) तुझ को (पदैः) प्रत्यक्ष आप के गुणों और सृष्टि नियमों से (अनुग्मन्) विचार के पश्चात् प्राप्त कर लेते हैं और उपासना करने लगते हैं।

यह पूरा इस मन्त्र का वाक्यार्थ है। पर यदि यहां अपौरुषेय अवस्था में इस को द्विपदा माना जावे तो प्रथम दो पादों का तो इतना ही अर्थ है कि—"खोये हुये पशु के पादचिह्न आदि से जिस प्रकार चोर को वैसे सब भोग्य पदार्थों के धारण करने वाले नमस्कार को स्वीकार करने वाले सब पदार्थों या अन्तःकरण में वर्तमान तुझ को" बस इतना ही क्या मन्त्र हो सकता है कि जिस में न कर्ता है न क्रिया। पर जो अपौरुषेय अवस्था मे द्विपदा हैं उन की यह स्थिति नहीं है। अपौरुषेय द्विपदा का भी एक मन्त्र उदाहरण रूप में हम दिखाते हैं।

ओ३म्। अग्ने भवं सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम्।
ऋ० ७।१७।१॥

अर्थ—हे (अग्ने) अग्नि के समान विद्वन् आप (सुषमिधा) जिस प्रकार समिधा से अग्नि प्रदीप्त होता है उसी प्रकार सुन्दर समिधा के समान धर्माचरण ब्रह्मचर्य सुशीलता पुरुषार्थ आदि गुणों से (समिद्धः) प्रदीप्त (भव) हूजिये। (उत) और जिस प्रकार वह प्रदीप्त अग्नि (उर्विया) पृथिवी के साथ (बर्हिः) जल को आच्छादित करता है उसी प्रकार आप विद्या से प्रकाशित होकर जिज्ञासुओं के हृदयों में विद्या को (विस्तृणीताम्) विस्तृत करो।

यह मन्त्र द्विपदा के रूप में पूर्ण अर्थ वाला है। इस को अन्य द्विपदा के साथ चतुष्पदा करने का क्या उद्देश्य हो सकता है। अतः जो मन्त्र द्विपदा रूप में पूर्ण अर्थ वाला है वह अपौरुषेय अवस्था में द्विपदा रूप में ही मन्त्र है। परन्तु जो चतुष्पदा रूप में ही पूर्ण अर्थ वाला है वह अपौरुषेय दशा में चतुष्पदा रूप में ही मन्त्र है। इस सिद्धान्त के आधार पर "पश्वा न तायुं०" आदि ३० मन्त्र अपौरुषेय दशा में चतुष्पदा रूप में ही एक मन्त्र हैं उनको ६० द्विपदा विनियोग वाले बनालें पर मन्त्र तो वे ३० ही हैं।

ख. ऋग्वेद के हस्तलेखों में अथवा सायण आदि भाष्यों के हस्तलेखों में कहीं भी अपौरुषेय द्विपदाओं में चतुष्पदा बना कर मन्त्रसंख्या नहीं डाली गई है।

ग. ऋग्वेद के भाष्यकार सायण आदि "पश्वा न तायुं०" आदि को चतुष्पदा के रूप में ही ऋचा मानते हैं। इन्दौर बागल कोटा आदि से जो सायण भाष्य

के हस्तलेख प्राप्त हुए हैं उन में नीचेलिखे प्रकार पाठ पाया जाता है।

तत्र प्रथमामृचमाह—पश्वा न तायुं⋯विश्वे यजत्राः॥

द्वितीयामृचमाह—ऋतस्य देवा अनुव्रता⋯सुजातम्॥

तृतीयामृचमाह—पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी⋯क ईं वराते॥

चतुर्थीमृचमाह—जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम्⋯रोमा पृथिव्याः॥

पञ्चमीमृचमाह—श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन्⋯विभुर्दूरेभाः॥

(सायणभाष्य ऋ. १।६५।१—५॥)

यहां सायण चतुष्पदा पूरी को एक ऋचा मान रहा है। परन्तु अपौरुषेय द्विपदाओं पर वह दो पादों पर ही "तत्र प्रथमा।" "अथ द्वितीया।" अथ तृतीया इत्यादि लिखता है।

शकाब्द १८१० में जो राजाराम शिवराम संपादित सायण ऋग्वेद भाष्य बम्बई में छपा था उसमें यह पाठ छपे भी थे। पर मैक्समूलर ने अपने छापे सायणभाष्य में से इन पाठों को उड़ा दिया। वैदिकसंशोधन मण्डल पूना वालों ने जो ऋग्वेद का सायण भाष्य मुद्रित किया वह मैक्समूलर के द्वितीयसंस्करण की प्रतिलिपिमात्र है। मैंने पूना जाकर वैदिकसंशोधनमण्डल पूना के विद्वानों को यह बात कही तब उन लोगों ने अपने यहां संगृहीत सायण भाष्य के हस्तलेख निकाल कर देखे उन में ऊपर लिखे पाठ सायणभाष्य के हस्तलेखों में विद्यमान थे।

घ. सब द्विपदाओं को चतुष्पदा भी कर देना चाहिये और सर्वत्र द्विपदा संख्या और चतुष्पदा संख्या भी आंख मीच कर लगा देनी चाहिये यह अभूतपूर्व निराला ही मूल ऋग्वेद संपादन करने का प्रकार प० सातवलेकरजी का है। पर प० सातवलेकरजी भी ऋ. ७।३४ की द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाने में चौकड़ी भूल गये उसका कारण यह है कि अन्य सब सूक्तों में तो एक ही देवता पूरे सूक्त का है वहां तो सब को चतुष्पदा करते चले गये पर ऋ. ७।३४ में २५ ऋचा हैं उस में आरम्भ में २१ ऋचाएं द्विपदा हैं। इन २१ ऋचाओं में पन्द्रहवीं ऋचा का "विश्वे देवा" देवता है और सोलहवीं ऋचा का 'अहि' देवता है। सत्तरहवीं ऋचा का "अहिर्बुध्न्य" देवता है और अठारहवीं ऋचा का "विश्वे देवाः" देवता है। यदि यहां की द्विपदाएं भी चतुष्पदा बनाई जावें तो १५ और १६ ऋचा चतुष्पदा बनेगी ये दोनों पृथक् पृथक् देवता वाली हैं। वैसे ही १७ और १८ ऋचा को मिला कर चतुष्पदा बनेगी ये दोनों भी पृथक् पृथक देवता वाली हैं। अतः प० सातवलेकरजी ने इस पूरे सूक्त की द्विपदाओं को दो के डर से अन्यों को भी चतुष्पदा नहीं बनाया।

मैक्समूलर ने अपने जीवनकाल में ही ऋग्वेदभाष्य के दो संस्करण निकाले। प्रथम संस्करण सन् १८४६ ई० में लन्दन में छपा और दूसरा संस्करण सन् १८९० ई० में लन्दन में ही छपा था। हम ने दोनों संस्करणों के मुखपृष्ठों को पृष्ठ ७३ पर छाप दिया है। मैक्समूलर की मृत्यु १ नवम्बर सन् १९०० को हुई। मैक्समूलर के द्वितीय संस्करण में "पश्वा न तायुं०" आदि मन्त्रों पर सहसंख्या दे डाली है चतुष्पदा संख्या नहीं। वैदिकसंशोधनमण्डल पूना वालों ने इसकी भी प्रतिलिपि जैसी की तैसी करदी। अतः वैदिक यन्त्रालय अजमेर वाले मैक्समूलर की प्रतिलिपि नहीं कर रहे हैं प्रत्युत वैदिकसंशोधनमण्डल पूना वाले मैक्समूलर की प्रतिलिपि कर रहे हैं। मैक्समूलर का प्रथम संस्करण ठीक था। वास्तव में तो द्वितीयसंस्करण संपादन करते समय मैक्समूलर को ही भ्रान्ति हुई थी। मैक्समूलरसंपादित मूल ऋग्वेद और पदपाठ में तथा सायणभाष्य के प्रथमसंस्करण में ऋ० १।६५—७० सूक्त की "पश्वा न तायुं०" आदि ऋचाओं पर चतुष्पदा पर ही संख्या पड़ी है।

ङ. सायण ने "पश्वा न तायुं०" इत्यादि सूक्तों के प्रारम्भ में लिखा है कि "पश्वा न तायुं०" आदि छै सूक्तों में जो यज्ञ में द्विपदा बना दी गई हैं उनकी अध्ययन काल में चतुष्पदा बना कर एक ऋचा माननी चाहिये क्योंकि दो द्विपदाओं को मिला कर ही मन्त्र का अर्थ पूरा होता है। ऋ० १।७० सूक्त जिसमें ११ द्विपदा बनाई गई हैं इन अयुतसंख्या वाली द्विपदाओं में सब को तो चतुष्पदा बना लिया जावेगा पर अन्तिम जो एक द्विपदा ११ वीं है वह तो द्विपदा ही रहेगी। हां यज्ञकाल में उन का आश्वलायन में ११ द्विपदा रूप में विनियोग अवश्य है।" संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ७५ पर देखो।

सायण का यह कहना केवल इन्हीं छै सूक्तों के बारे में है नकि अन्य अपौरुषेय द्विपदाओं के बारे में भी। क्योंकि अन्य द्विपदाओं में दो द्विपदा मिलकर मन्त्रार्थ पूरा होता हो ऐसी बात नहीं है वे अपौरुषेय द्विपदाएं द्विपदा रूप में ही पूर्ण मन्त्रार्थ वाली हैं। सायण कहता है कि दो द्विपदाओं का मिल कर ही अर्थ पूरा होता है ऐसी तो आर्ष द्विपदाएं ही हैं इसके अतिरिक्त सायण यह भी कहता है कि विषम संख्या वाली द्विपदाओं में जो एक शेष रह जाती है वह द्विपदा ही रहेगी। यदि सब द्विपदाओं को चतुष्पदा बनालो ऐसा सायण का मत होता तो वह यह कहता कि विषम संख्या वाली द्विपदाओं में जो शेष द्विपदाएं रह जाती हैं वे सब द्विपदा ही रहेंगी। बहुवचन से निर्देश होना चाहिये एकवचन क्यों है। ऋ० १।७०। में ११ आर्ष द्विपदाएं हैं उनकी पांच चतुष्पदा बनती हैं और एक द्विपदा शेष रह जाती है।

अब यह स्पष्ट होगया कि "पश्वा न तायुं०" आदि छै सूक्तों की द्विपदाएं विनियोजक ऋषियों की की हुई हैं पर वास्तव में वे अपौरुषेयावस्था में चतुष्पदा हैं।

अतः वे ३० चतुष्पदा ऋक्संख्या में गिनी जावेंगी अन्य सब ६७ द्विपदाएं अपौरुषेयावस्था में द्विपदा रूप में ही मन्त्र हैं अतः वहां उनकी चतुष्पदा बना कर गणना नहीं होगी प्रत्युत द्विपदा रूप में ही उनकी गणना होगी।

(निरुक्त के याज्ञिक अर्थ में द्विपदा)

प्रश्न—निरुक्त में "पश्वा न तायुं०" आदि सूक्तों की ऋचाओं को यास्क ने तो द्विपदा ही माना है चतुष्पदा नहीं क्योंकि ऋ० १।६६।७—६ की तीन ऋचाएं यास्क ने उदाहरण रूप में निरुक्त १०।२१ में दी हैं। महर्षिसंमत चतुष्पदा के हिसाब से वह $1\frac{1}{2}$ मन्त्र है तीन नहीं। पर यास्क लिखता है कि "तमेता ऋचो ऽनु प्रवदन्ति" निरुक्त १०।२१॥) अर्थात्—यम का अर्थ अग्नि भी है इस बात को ये अगली ऋचाएं बताती हैं। यहां "ऋचः" यह बहुवचन तभी बन सकता है जब उन को तीन मन्त्र द्विपदा रूप में माना जावे। फिर यास्क ने स्पष्ट भी उनको "इति द्विपदा" लिखकर द्विपदा नाम स्पष्ट भी उनका लिख दिया है। संस्कृत प्रमाण देखो पृष्ठ ७६॥ अतः यास्क के मत में तो "पश्वा न तायुं०" आदि ऋ० १।६५—७० तक की ऋचाएं द्विपदाएं ही हैं अतः उनकी ६० संख्या बनती हैं ३० नहीं। ६० द्विपदा के हिसाब से तो ऋक्संख्या १०५५२ ही ठीक है।

उत्तर—यह ठीक है। पर यास्क ने याज्ञिक अर्थ के दृष्टिकोण से उन्हें द्विपदा कहा है। यज्ञ में—प्रयोग में—शंसन में ये द्विपदा बनाई जाती हैं अतः हमने उनका नाम आर्षद्विपदा रखा ही है पर अपौरुषेयावस्था में वे ऋचाएं चतुष्पदा ही हैं। देखो यास्क की व्याख्या इस प्रकार है—

ओ३म्। सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका ॥
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥

अर्थ—अग्नि की ज्वाला (सृष्टा सेना इव) सेनापति से आज्ञा दी हुई सेना के समान शत्रुओं को (अमम्) भय (दधाति) देती है। और अपनों को (अमम्) बल (दधाति) देती है। (अस्तुः) अस्त्रों से प्रहार करने वाले के (दिद्युत् न) शक्ति नामक अस्त्र के समान है (त्वेषप्रतीका[1]) जिसके देखने से शत्रुओं को भय उत्पन्न होता है, और अपनों में बल पैदा होता है, जिस से सेनापति का यश होता है, जो महान् दर्शन वाली और जो प्रदीप्त दर्शन वाली है (यमो ह जातः) जो कुछ उत्पन्न होचुका है वह अग्नि है (यमो जनित्वम्) जो उत्पन्न होगा वह भी अग्नि है क्योंकि सब पदार्थों की उत्पत्ति अग्नि के ही अधीन है अथवा जोड़े के रूप में अग्नि उत्पन्न हुआ और जोड़े के रूप में अग्नि उत्पन्न होगा क्योंकि ऐसा कहा गया है कि इन्द्र और अग्नि जोड़े के रूप में पैदा हुए थे[2]।

१—प्रतीक का अर्थ है दर्शन और त्वेष शब्द के अर्थ भय, बल, यश, महान् और प्रदीप्त हैं।

२—ऋ० "यमाविहेह मातरा०" ऋ०६।५९।२॥

(कनीनां जारः) यह अग्नि कन्याओं के कन्यात्व को दूर करने वाला है क्योंकि विवाह में अग्नि में लाजाहोम होने पर वे कन्या से वधू बन जाती हैं। (जनीनां पतिः) और यह अग्नि स्त्रियों का पालक है। क्योंकि स्वस्वामिभाव से जिस यज्ञ का स्वामी पति है उस यज्ञ की स्वामिनी उसकी पत्नी भी हो जाती है उस यज्ञ के सम्बन्ध से स्त्री अग्निप्रधान होती है क्योंकि अग्नि के समीप स्त्रियां जायात्व का व्रत लेती हैं इत्यादि।

इस प्रकार प्रातरनुवाक और आश्विन कर्म में इन द्विपदाओं का विनियोग है वहां उस अर्थ में ये द्विपदा हैं। पर वास्तव में अपौरुषेयावस्था में ये चतुष्पदा रूप में ही ऋचा हैं। यज्ञ में विनियोग के अतिरिक्त पूर्ण अर्थ इस ऋचा का इस प्रकार है।

(महर्षिभाष्यानुसारिणी व्याख्या)

जो सेनापति (यमः) नियम में रखने वाला (ह) निश्चित रूप से है। (जातः) प्रकट रूप में विद्यमान है। (यमः) सब पर पूर्ण रूप से नियम करने वाला है और (जनित्वम्) पिता के समान वर्तमान है। (कनीनाम्) कन्या के समान वर्तमान रात्रियों के (जारः) नाश करने वाले सूर्य के समान वर्तमान है। और जो सेनापति (जनीनाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालक है वह (सृष्टा) सुशिक्षित (सेना इव) विजय कराने वाली सेना के समान है और (अस्तुः) शस्त्रास्त्र चलाने वाले के (त्वेषप्रतीका) अपने प्रकाश से प्रकट हुई (दिद्युत् न) बिजली के समान जो अस्त्र शस्त्र हैं उनके समान सेनापति (अमम्) अपरिपक्व विज्ञान वाले मनुष्य को (दधाति) अपने संरक्षण में धारण करता है और उसके दुःख अज्ञान आदि को नष्ट करता है।

इस प्रकार चतुष्पदा ऋचा का अर्थ महर्षि ने किया है। इन अपौरुषेय चतुष्पदा ऋचाओं को विनियोजकों ने द्विपदा बनाकर विनियोग किया और उसी प्रक्रिया से उन का व्याख्यान किया। क्योंकि ये "पश्वा न तायुं०" आदि ऋचाएं अपौरुषेयावस्था में चतुष्पदा हैं अतः वे संख्या में ३० हैं ६० नहीं और ऋक्संख्या १०५२२ ही ठीक है।

(सहद्विपदाओं में इकट्ठी संख्या डालने का कारण)

अन्यों का जो यह कहना है कि ऋ० ५।२४ की ४ द्विपदाओं में दो दो मन्त्रों में इकट्ठी संख्या डालना व्यर्थ है जैसी कि मैक्समूलर की नक़ल करके स्वामी दयानन्दजी ने सहसंख्या डाल दी है। सहसंख्या का प्रकार देखो पृष्ठ ७०। यह आक्षेप भी अज्ञान के कारण ही है। जिस प्रकार वेङ्कट माधव ने सहासन ऋषियों का वर्णन किया है उसी प्रकार सहद्विपदाएं भी हैं। संस्कृत प्रमाण देखो पृष्ठ ७८। ये ऋ० ५।२४ की चार द्विपदाएं इस प्रकार की हैं जो पृथक् पृथक् चारों द्विपदाएं अपने में सुसमाप्त वाक्यार्थ वाली होती हुई भी इन दो दो के अर्थ का साक्षात्कार साथ होने योग्य ही है। अतः ये सहद्विपदा कहाती हैं।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि चारों वेदों में कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो कई स्थानों पर आते हैं। उन समान मन्त्रों में कहीं ऋषि भिन्न है कहीं देवता भिन्न है कहीं प्रकरण आदि भिन्न हैं। इसके कारण समान दीखने वाले मन्त्रों का भी अर्थसाक्षात्कार और उनके साक्षात्कार की स्थिति पृथक् पृथक् है।

क्योंकि ये सहद्विपदाएं हैं अतः सायण ने भी अपने भाष्य में इनको सहद्विपदा के रूप में ही उल्लेख किया है—

तत्रेमे प्रथमद्वितीये। अथ तृतीयाचतुर्थ्यौ।

ऋ० सायणभाष्य ५।२४।१—४॥

अर्थात्—ये दो ऋचाएं पहली दूसरी हैं। तथा ये दो ऋचाएं तीसरी चौथी हैं।

इस प्रकार सायण ने सहनिर्देश किया है। आश्चर्य है कि सायण के ऋग्वेदभाष्य के हस्तलेखों में विद्यमान भी ये पाठ मैक्समूलर ने अपने सायणभाष्य के संस्करणों से निकाल दिये और मैक्समूलर का अनुकरण करके वैदिकसंशोधनमण्डल पूना वालों ने भी उन पाठों को छोड़ दिया। परन्तु राजाराम शिवराम संपादित १८१० शकाब्द मुंबई मुद्रित ऋग्वेद सायणभाष्य में ये पाठ छपे भी थे। यद्यपि मैक्समूलर ने सायणभाष्य से ये पाठ निकाल दिये हैं तथापि न समझते हुए भी मैक्समूलर ने अपने संपादित मूल ऋग्वेद और पदपाठ तथा सायणभाष्य के अपने दोनों संस्करणों में भी इन चार द्विपदाओं पर सहसंख्या ही डाली है जैसी कि हस्तलेखों में सहसंख्या थी। परन्तु इस को न समझ कर मैक्समूलर ने 'पश्वा न तायुं०' ऋ० १।६५—७० की चतुष्पदाओं पर भी सायणभाष्य द्वितीयसंस्करण में सहसंख्या डाल दी। यद्यपि मैक्समूलर ने सायणभाष्य के प्रथम संस्करण और मूल ऋग्वेद तथा पदपाठ में "पश्वा न तायुं०" मन्त्रों पर चतुष्पदा संख्या ही डाली है सहसंख्या नहीं। आश्चर्य है कि इसका भी अनुकरण वैदिक संशोधन मण्डल पूना वालों ने कर लिया। अतः अन्यों को यह कहना चाहिये था कि वैदिकसंशोधनमण्डल पूना वालों ने मैक्समूलरसंपादित सायणभाष्य के द्वितीयसंस्करण का अन्धानुकरण कर दिया। महर्षि के मोक्षधाम पधारने पर मैक्समूलर के सायणभाष्य का द्वितीयसंस्करण प्रकाशित हुआ था। मैक्समूलर का सायणभाष्य प्रथम संस्करण तथा मूल ऋग्वेद और पदपाठ महर्षि जीवन काल में मुद्रित हुआ था वह ही ठीक था महर्षि ने उसको देखा हो या न देखा हो ऋषिपरम्परागत बात दोनों जगह है।

अतः क्योंकि द्विपदाएं तीन प्रकार की हैं। एक आर्ष द्विपदाएं जो अपौरुषेयावस्था में चतुष्पदा वाली ऋचाओं को ऋषियों ने द्विपदा बनाया उन आर्ष द्विपदाओं पर अपौरुषेयावस्था की चतुष्पदा संख्या ही डालनी चाहिये। और दूसरी अपौरुषेय द्विपदा हैं उन पर द्विपदा पर ही मन्त्र संख्या डालनी चाहिये और तीसरी जो सहद्विपदाएं हैं उन पर सहसंख्या ही डालनी उचित है। महर्षि समझते थे कि द्विपदाएं तीन प्रकार की हैं अतः उन्होंने द्विपदाओं के संख्याङ्कनप्रकार में तीन ढंग बर्ते यह महर्षि का ऋषित्व

है न कि अज्ञान या दूषण। यदि यह किसी को नहीं दीखता तो "नैष स्थाणोरपराधः" और कहावत भी है कि "प्रायः शुष्कस्तनी नारी कञ्चुकमेव निन्दति" "नाच न आवे आंगन टेढ़ा"।

प्रश्न—यह आप की अपनी ही कल्पना है कि द्विपदाएं तीन प्रकार की होती हैं। अभी तक तो हमने यही सुना था कि द्विपदाएं दो प्रकार की होती हैं १—नित्य द्विपदा और २—नैमित्तिक द्विपदा।

उत्तर—यह ठीक है। जिन की अपनी बुद्धि नहीं है वे उन बातों का संग्रह करते फिरते हैं जो दूसरे लोग कहते हैं यही उनकी पण्डिताई है वे पण्डित नहीं हैं वे संग्रहकार हैं। तुम यह बताओ कि वेदों में ऋचाओं की जो स्थिति है उसके अनुसार परिभाषाएं बनानी चाहिये या जिस प्रकार नवीनों ने अपनी प्रक्रिया निर्वाहार्थ परिभाषाएं बनाई हैं वैसा वेद को कर देना चाहिये। हम तो इसको अनुचित समझते हैं। हमने जो तीन प्रकार की द्विपदाओं का उल्लेख किया है उस विषय में वेद के अन्दर की स्थिति, बाहर के प्रमाण और हेतु तथा हस्तलेखों की स्थिति आदि विस्तार से लिख दी। अतः "पश्वा न तायुं०" आदि ऋचाएं ऋक्संख्या प्रसङ्ग में ३० ही गिनी जावेंगी ६० नहीं।

अतः ऋक्संख्या १०५२२ ही ठीक है। मैक्समूलर का भी यही मत है। सत्यव्रत सामश्रमी भी ऋग्वेद की सुनिश्चित ऋक्संख्या १०५२२ हो मानते हैं। वैदिकपदानुक्रमकोष में पते भी इसी संख्या को लेकर दिये गये हैं। और मैक्डानल महोदय भी बालखिल्यसूक्तों की ८० संख्या निकाल कर १०४४२ ऋक्संख्या बताते हैं उसमें ८० ऋचा बालखिल्य की जोड़ देने पर १०४४२+८०=१०५२२ ऋक्संख्या होजाती है। यही सही ऋक्संख्या है।

(द्विपदा विवेचन)

कात्यायन आदि ने लिखा है कि "द्विपदा में बीस अक्षर होते हैं उसको द्विपदा विराट् कहते हैं। एकपदा में उससे आधे अक्षर अर्थात् दश अक्षर होते हैं। और दो दो द्विपदाओं की चतुष्पदा बना कर अध्ययन करते हैं। विषमसंख्या वाली द्विपदाओं में जो अन्तिम एक द्विपदा रह जाती है वह द्विपदा ही रहती है। अभिप्राय यह है कि ऋग्वेद के मन्त्रों में कुछ ऋचाएं दो पाद वाली हैं और कुछ ऋचाएं एक पाद वाली हैं। दो पाद वाली ऋचाओं में बीस अक्षर हैं और एक पाद वाली ऋचाओं में दश अक्षर हैं। दो पाद वाली ऋचाओं का द्विपदा विराट् छन्द कहा जावेगा। और वे द्विपदा यज्ञ काल में हैं अध्ययनकाल में तो दो दो द्विपदा एक चतुष्पदा बना कर पढ़ी जावेंगी। परन्तु विषम संख्या होने के कारण समसंख्या तक तो सब द्विपदा चतुष्पदा बनती चली जावेंगी पर अन्तिम द्विपदा द्विपदा ही रहेगी जैसे—ऋग्वेद प्रथम मण्डल

७० सूक्त में ११ द्विपदा बनी हैं उनमें १० संख्या तक तो पांच चतुष्पदा बन जावेंगी। एक अन्तिम ग्यारहवीं द्विपदा द्विपदा ही रहेगी। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ७९ देखो।

ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार ने लिखा है कि—

"कुछ लोग तो बीस अक्षर वाली सब द्विपदाओं में पांच पांच अक्षर के चार पाद बना कर चतुष्पदा कर लेते हैं और उन का अक्षरपङ्क्ति छन्द मानते हैं।" देखो पृष्ठ ७९, ८०।

इस विषय में हमारा कहना यह है कि द्विपदा कहने से यह पता चलता है कि इस मन्त्र में दो पाद हैं। विराट् का अर्थ है कि वे दोनों पाद दश दश अक्षर के होते हैं क्योंकि विराट् शब्द का अर्थ है दश संख्या। परन्तु उस मन्त्र में छन्द क्या है यह भी तो बताना चाहिये। इसी लिये ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार ने लिखा है कि "जिसमें एक पाद हो उसे एकपदा कहते हैं और जिसमें दो पाद हों उसको द्विपदा कहते हैं। उस में देखना यह चाहिये कि इन द्विपदा या एकपदा के पाद में कितने अक्षर हैं। वह एक पाद जिस किसी छन्द के एक पाद के समान अक्षर वाला है वही छन्द द्विपदा और एकपदा में जोड़ देना चाहिये।" जैसे यदि किसी द्विपदा का पाद आठ अक्षर वाला है तो उस द्विपदा का गायत्री छन्द है क्योंकि गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। और यदि किसी द्विपदा के पाद ग्यारह अक्षर के हैं तो उस द्विपदा का छन्द त्रिष्टुप है क्योंकि त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं। अर्थात् किसी मन्त्र में छन्द बताने के लिये द्विपदा या एकपदा कह देना पर्याप्त नहीं है। उस में छन्द नाम भी बताना चाहिये। यह शौनक तथा यही उसके व्याख्याकार उवट ने भी लिखा है। दोनों संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ८० पर देखो। छन्दःसंख्या में ऋग्वेद के छन्दों की गणना है कि ऋग्वेद में २४५१ गायत्री छन्द वाले मन्त्र हैं और ३४१ मन्त्र उष्णिक् छन्द वाले हैं इत्यादि आगे लिखा जावेगा। यहां छन्दःसंख्या में लिखा है कि "ऋग्वेद में छै एकपदा हैं और १७ द्विपदा[1] हैं।" संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ८० पर देखो। यहां द्विपदा या एकपदा कहने से छन्द का ज्ञान नहीं होता है महर्षि ने तो द्विपदाओं और एकपदाओं में छन्द का नाम भी लिखा है। पिङ्गल छन्दःशास्त्र में भी गायत्री के भेदों में एक छन्द जिसमें बारह और आठ अक्षर के दो पाद हैं उस का नाम द्विपदा विराट् गायत्री है। केवल द्विपदा न लिख कर उसको गायत्री के भेदोंमें गिना है और उसका पूरा नाम द्विपदा विराट् गायत्री दिया है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ८१ पर देखो।

यह हमने प्रसङ्गानुप्रसङ्गवश द्विपदाओं के सम्बन्ध में लिखा है। इन द्विपदाओं को न समझ कर १०५५२ संख्या नवीनों ने ऋचाओं की कर ली थी उसका सप्रमाण

१— यहां अभिप्राय नित्य द्विपदाओं से है। अन्य सब द्विपदाएं तो छन्दःसंख्या के मत में चतुष्पदा कर दी जाती हैं।

विवेचन किया गया। अतः ऋग्वेद की सही ऋक्संख्या १०५२२ ही है जैसा महर्षि का अभिमत सिद्धान्त है।

(वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या)

वेङ्कटमाधव ने अपने ऋग्वेदभाष्य में पञ्चमाष्टक के पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में लिखा है कि—

"मुझ वेङ्कटमाधव ने स्वयं ऋग्वेद के मन्त्रों की १०४०२ गणना की है। इस गणना में सब नैमित्तिकद्विपदा चतुष्पदा करके मन्त्रसंख्या गिनी गई है। और यदि नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा न बनाया जावे तो द्विपदावस्था में ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या १०४८० होगी।" यह वेङ्कटमाधव का मत है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ८१ पर देखो।

नव्यमतानुसार ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र हैं। उनके मतानुसार नैमित्तिकद्विपदाओं की संख्या १४० है। यदि ये १४० द्विपदाएं चतुष्पदा कर दी जावें तो ७० संख्या कम हो जावेगी। १०५५२–७०=१०४८२। और इसमें से भी ८० ऋचाएं वालखिल्यसूक्तों की निकाल दी जावें तो १०४८२–८०=१०४०२ ऋक्संख्या वेङ्कटमाधव के अनुसार रहती है। पर वेङ्कटमाधव ने जो यह लिखा है कि द्विपदाओं को चतुष्पदा यदि न बनाया जावे तो ऋक्संख्या १०४८० होगी यह असत्य है। क्योंकि १४० नैमित्तिक द्विपदा यदि चतुष्पदा न बनाई जावें तो ७० संख्या ही अधिक हो सकती है। १०४०२+७०=१०४७२ ऋक्संख्या द्विपदापक्ष में बन सकती है क्योंकि १७ नित्य द्विपदाएं तो चतुष्पदा बन नहीं सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधव भूल से १७ नित्यद्विपदाओं को कल्पना से चतुष्पदा करके ८ संख्या और अधिक जोड़ बैठा है। १०४७२+८=१०४८० संख्या था उसे ध्यान रहा।

बालखिल्य ऋचाओं को ऋग्वेद में न जोड़ना और द्विपदाओं की संख्या १४०+ १७=१५७ मानना यह सब अज्ञानवश है यह हम विस्तार से पूर्व लिख चुके हैं।

(छन्दःसंख्या परिशिष्ट की ऋक्संख्या)

छन्दःसंख्या नामक ऋग्वेद के परिशिष्ट में ऋग्वेद के छन्दों की गणना इस प्रकार की है—

ऋग्वेद में	२४५१	गायत्रीछन्दवाले मन्त्र हैं।		ऋग्वेद में	४२५३	त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्र	
„	३४१	उष्णिक्	„ „	„	१३४८	जगती	„ „
„	८५५	अनुष्टुप्	„ „	„	१७	अतिजगती	„ „
„	१८१	बृहती	„ „	„	१९	शक्वरी	„ „
„	३१२	पङ्क्ति	„ „	„	६	अतिशक्वरी	„ „

ऋग्वेद में	६	अष्टि छन्द वाले मन्त्र हैं।		
"	८४	अत्यष्टि	"	"
"	२	धृति	"	"
"	१	अतिधृति	"	"
"	६	एकपदा	"	"
"	१७	द्विपदा	"	"

ऋग्वेद में १९४ बार्हत प्रगाथ हैं
" ५५ काकुभ प्रगाथ हैं
" १ महाबार्हतप्रगाथ हैं

प्रगाथों की संख्या का योग २५० होता है। दो दो मन्त्रों का एक प्रगाथ होता[1] है। अतः २५०×२=५०० संख्या ऋचाओं की होती है।

इन सब का योग १०४०२ है। यह संख्या भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझो। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ८२—८३ पर देखो।

(महीदास की ऋक्संख्या)

चरणव्यूह के टीकाकार महीदास के मत में अर्द्धर्च पक्ष में १०४९६ ऋक्संख्या है। और उस के मत में द्विपदा पक्ष में १०५५२ ऋक्संख्या है। और वालखिल्य रहित १०४७२ संख्या उस के मत में है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ८३—८४ पर देखो।

पूर्वोक्तप्रकार से ही १०४०२ ऋक्संख्या समझो। उस संख्या में ९४ अर्द्धर्चों को और जोड़ो तो ऋक्संख्या १०४०२+९४=१०४९६ होती है। ऋग्वेद में कुछ मन्त्र त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्च कहाते हैं उनको महीदास अध्ययन काल में एक एक के दो दो मन्त्र बनाता है अतः ९४ संख्या अधिक हो जाती है। त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्च दुगने किस प्रकार बनाये जाते हैं यह हम पृष्ठ १११ पर लिख चुके हैं।

(कात्यायन की ऋक्संख्या)

ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी में जिस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों का वर्णन किया है उस के अनुसार कात्यायन के मत में ऋग्वेद की ऋक्संख्या १०५५२ है।

(सत्यव्रतसामश्रमी की ऋक्संख्या)

सत्यव्रतसामश्रमी ने ऐतरेयालोचन नाम के ग्रन्थ में विस्तार से कई वार ऋग्वेद की ऋक्संख्या लिखी है। वहां सत्यव्रतसामश्रमी लिखते हैं कि मेरे निश्चय के अनुसार ऋग्वेद की ऋक्संख्या १०५२२ सुनिश्चित है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ८४ पर देखो।

यही महर्षि को भी अभिमत है।

1—दो ऋचाओं के समूह को प्रगाथ कहते हैं। उन दोनों ऋचाओं में पहली ऋचा का जो छन्द होता है उस पर प्रगाथ का नाम पड़ता है। जैसे बार्हत में जो दो ऋचा होती है उनमें प्रथम ऋचा का छन्द बृहती और दूसरी ऋचा का छन्द सतोबृहती है पर प्रथम छन्द बृहती पर नाम पड़ेगा उस प्रगाथ को बार्हतप्रगाथ कहेंगे। इसी प्रकार काकुभप्रगाथ में पहली ऋचा का छन्द ककुप् और दूसरी का छन्द सतोबृहती। महाबार्हतप्रगाथ में पहली ऋचा का छन्द महाबृहती और दूसरी ऋचा का छन्द महासतोबृहती होता है। देखो शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) ४। २। ५५॥

(पारायणसंख्या)

लौगाक्षिस्मृति, अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदिमें ऋग्वेद की पारायण संख्या १०५८१ लिखी है। पारायणसंख्या का अभिप्राय उन लोगों का यह है कि ऋग्वेद में जितने मन्त्र हैं उन में ऋग्वेद की शाखाओं में कुछ मन्त्र कम बढ़ हैं तथा च कुछ मन्त्र सूत्र ग्रन्थों के हैं। उन बढ़े हुए शाखा और सूत्र ग्रन्थों के सब मन्त्रों को जोड़ लिया जावे तो ऋग्वेद की पारायणसंख्या १०५८१ है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ ८४ पर देखो।

महर्षि ने ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ में जो तालिका दी है उसके अनुसार तो ऋग्वेद की ऋक्संख्या १०५२२ है यह हम विस्तार से लिख चुके हैं। परन्तु उस तालिका के बाद महर्षि के वेदभाष्य में तालिकाओं के अन्त में पूर्ण योग १०५८९ लिखा है वह पारायणसंख्या के दृष्टिकोण से है या क्या यह हम नहीं बता सकते हैं।

(पूर्वोक्त सब वर्णन के अनुसार ऋग्वेद की ऋक्संख्या के सब मत इस प्रकार हैं)

१०५२२—यह संख्या महर्षि संमत है और यही संख्या ठीक भी है। इस संख्या की समालोचना करना बाललीलामात्र ही है।

१०५५२—नव्य लोग पृश्वा न तायुं० आदि ३० चतुष्पदा ऋचाओं को भी ६०द्विपदा कर लेते हैं अतः उन के यहां ३० संख्या अधिक हो जाती है १०५२२+३०=१०५५२।

१०४७२—कुछ लोग बालखिल्यों को ऋक्संख्या में नहीं गिनते अतः उन के मत में ८० संख्या कम हो जाती है। १०५५२–८०=१०४७२ ऋक्संख्या उनके मत में है।

१०४८२—ऋग्वेद में १०५२२ ऋचाएं हैं। उनमें ९७ जो द्विपदा हैं उनमें से १७ नित्य द्विपदा तो चतुष्पदा हो नहीं सकतीं शेष ८० द्विपदाओं को चतुष्पदा करने से ४० संख्या कम हो जावेगी १०५२२–४०= १०४८२ ऋक्संख्या होती है।

१०४०२—उस १०४८२ ऋक्संख्या से ८० बालखिल्य ऋचाओं को कुछ लोग निकाल देते हैं उनके यहां १०४८२–८०=१०४०२ ऋक्संख्या होती है।

१०४६६—महीदास १०४०२ ऋक्संख्या में त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चाओं की संख्या दुगनी करके ६४ संख्या जोड़ता है अतः उसके मत में १०४०२+ ६४=१०४६६ ऋक्संख्या होती है।

१०४१७—ऋग्वेद के शाकल चरण[1] के अन्तर्गत शैशिरीय शाखा की यह ऋक्संख्या है।

१०४१९—ऋग्वेद के शाकल चरणान्तर्गत पांच[2] शाखाओं की यह ऋक्संख्या है। इसमें संज्ञानसूक्त की १५ ऋचाएं सम्मिलित हैं। संज्ञान सूक्त देखो पृष्ठ ९५।

१०४०४—यह संख्या किसी अन्य शाखा की है।

१०४४२—मैकडानल महोदय ऋग्वेद की ऋक्संख्या वालखिल्यों के बिना १०४४२ ही मानते हैं। उन में यदि ८० ऋचाएं वालखिल्यों की जोड़ी जावें तो १०४४२+८०=१०५२२ ऋक्संख्या होजाती है यही महर्षि को अभिमत है।

१०४८०—यह वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या द्विपदापक्ष में है जो विचारणीय है।

१०५६६—महीदास के मत में यह संख्या इस प्रकार है कि १०४०२ ऋचाओं में ७० संख्या तो नैमित्तिक द्विपदाओं की दुगनी करके जोड़ो और ९४ संख्या त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चाओं की जोड़ो तो १०४०२+७०+९४=१०५६६ ऋक्संख्या होती है। ×

१०५८१—यह ऋग्वेद की पारायण संख्या है। अथवा महीदास ने यह भी लिखा है कि १०४९६ ऋक्संख्या में नैमित्तिक द्विपदाओं की ७० संख्या द्विपदा करके और जोड़ो तथा च १५ ऋचाएं संज्ञानसूक्त की जोड़ो तो १०४९६+७०+१५=१०५८१ ऋक्संख्या इस प्रकार भी बन जाती है। परन्तु यहां विचारणीय यह है कि ऋग्वेद में २०२४ वर्ग हैं। उनमें से यदि वालखिल्य ऋचाएं नहीं गिनी जाती हैं तो बालखिल्यों के १८ वर्ग भी नहीं गिने जावेंगे तदनुसार २००६ वर्ग अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार बनते हैं। संज्ञानसूक्त तो

1—ऋग्वेद का पहला विभाग चरण है फिर चरणों के विभाग शाखा हैं।

2—१-शाकल, २-शाङ्खायन, ३-अश्वलायन, ४-मण्डूक, ५-वाष्कल।

× १०४७२—वैदिकसंपत्ति।

१०४२४ और १०४६७ रामगोविन्द त्रिवेदी, गौरीनाथ झा।

१०४७२—गोपाल हरि देशमुख।

परिशिष्ट है उसके चार वर्ग पृथक् हैं यदि संज्ञानसूक्त की ऋचाएं जोड़ी जावेंगी तो उसके ४ वर्ग भी वर्गसंख्या में जुड़ेंगे अतः फिर वर्गसंख्या भी वालखिल्यों के बिना २०१० माननी पड़ेगी । अनुवाकानुक्रमणी में वालखिल्य को छोड़ कर वर्गसंख्या २००६ ही है ।

वेङ्कटमाधव इस पारायण संख्या को अशुद्ध बताता है वह लिखता है कि—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ॥

अर्थ—दस हजार पांच सौ अस्सी और एक पाद[1] अर्थात् १०५८१ ऋक्संख्या कहना ठीक नहीं है ।

(मैकडानल की ऋक्संख्या)

मैकडानलमहोदय ने ऋक्सर्वानुक्रमणी की अपनी भूमिका के पृष्ठ १७, १८ में लिखा है कि—

"ऋग्वेद की शाकलशाखा के मन्त्रों का बृहद्योग जो प्रति मण्डल के हिसाब से मैंने किया उसकी १०४४२ संख्या होती है । और यही ऋक्संख्या छन्दों की गणना करने से बनती है परन्तु छन्दःसंख्या का योग १०४०२ है । दयानन्दसरस्वती ने जो प्रतिमण्डल संख्या लिखी है उसका योग[2] १०५२१ होता है पर दयानन्दसरस्वती ने बृहद्योग १०५८९ लिखा है । और यदि मैं द्विपदाओं को दुगनी गिनूं जो कि संख्या में १२७ हैं[3] तो मेरा योग १२७ और अधिक

१—एक पाद का अर्थ है एकपदा ऋचा जो कि ऋग्वेद १० । २० । १ में है "भद्रं नो अपि वातय मनः" यह वेङ्कटमाधव ने पञ्चमाष्टक के पञ्चमाध्याय के भूमिका श्लोक २१ में लिखा है ।

२—१०५२२ महर्षि का योग समझना चाहिये ।

३—द्विपदाएं केवल ९७ हैं देखो पृष्ठ ६०—६४ । मैकडानल ऋ. १।६५—७० की ३० चतुष्पदाओं को द्विपदा समझ बैठा और द्विपदाओं का योग ९७ + ३०=१२७ मान बैठा । जो लोग ऋ. १।६५—७० की चतुष्पदाओं को द्विपदा मानते हैं वे उन ३० चतुष्पदाओं की ६० द्विपदा करके गणना ९७+६०=१५७ द्विपदाओं की करते हैं न कि रखना तो उन्हें ३० चतुष्पदा और गणना करना ३० द्विपदा के रूप में यह स्पष्ट भूल मैकडानल की है । यदि उन ३० चतुष्पदाओं को द्विपदा करना है तो उनकी संख्या भी ६० रखनी चाहिये जैसा नव्य लोग करते हैं ।

होकर १०४४२+१२७=१०५६६ होता है इस संख्या में केवल ११ संख्या उससे कम है जो जोड़ ऋक्सर्वानुक्रमणी का है। १०५८० ऋक्सर्वानुक्रमणी की पारायण संख्या है १०५८०–११=१०५६६।

मेरा विचार है कि ऋग्वेद की द्विपदा की हुई ऋचाओं पर यदि अनुसन्धान किया जावे तो यह जो स्पष्ट विरोध छन्दःसंख्या का है वह ठीक हो सकता है। यदि ऐसा होजावे तो साहित्य के इतिहास में यह आश्चर्यजनक बात होगी कि संसार में मनुष्य किस प्रकार अपने ग्रन्थों को केवल रटने के रूप में स्मरण कर के इतना सुरक्षित रखते रहे कि जिसमें एक संख्या भी इधर उधर न हुई। मेरी टेबल जिसमें छन्दों के अनुसार गणना की है साथ में दी हुई है।" (इसके लिये देखो पृष्ठ ८८ चित्र सं० २१) अंग्रेजी प्रमाण पृष्ठ ८६ पर देखो।

(ऋक्सर्वानुक्रमणी भूमिका)

मैकडानल की जो १०४४२ ऋक्संख्या है वह ठीक है क्योंकि यह ऋक्संख्या बालखिल्यों को छोड़ कर है। यदि बालखिल्य सूक्तों की ८० ऋचाएं इसमें सम्मिलित करली जावें तो १०४४२+८०=१०५२२ ऋक्संख्या महर्षिसंमत ही होती है अतः मैकडानल की इस ऋक्संख्या और महर्षि की ऋक्संख्या में वास्तविक कोई भेद नहीं है। मैकडानल भी ऋ. १।६५—७० की ऋचाओं को चतुष्पदा मानता है वह ठीक है जिसकी सिद्धि हम विस्तार से कर चुके हैं। छन्दःसंख्या में तो ६७ द्विपदाओं में से ८० द्विपदा चतुष्पदा करके जोड़ी गई हैं अतः ४० संख्या छन्दःसंख्या में कम है

इसके अतिरिक्त यह एक और भूल है कि ऋ. १।६५—७० की ३० चतुष्पदाओं को द्विपदा बना कर ६० तो गिना जा सकता है पर शेष जो ६७ स्वयं द्विपदा है उनको फिर दुगना करना तो भयंकर अज्ञान है। अतः १०४४२ संख्या में ऋ. १।६५—७० की ३० चतुष्पदाओं को केवल दुगना करके ३० अधिक जोड़ कर १०४४२+३०=१०४७२ संख्या बालखिल्य के बिना करनी चाहिये थी जैसा नव्य लोग करते हैं। उनकी संख्या ८० बालखिल्य सहित १०४७२+८ =१५५२ होती ही है। इसी प्रकार महर्षि की १०५२१ संख्या और महर्षि की बृहत्संख्या १०५८६ का समाधान करना १४० नैमित्तिक द्विपदाओं की संख्या अधिक करके जोड़ना और ऋ. ५।२४ की दो संख्या कम करके १०५२१+७०=१०५६१–२=१०५८६ संख्या बनाना भी वैसा ही है क्योंकि १४० नैमित्तिक द्विपदाएं जब कि द्विपदा रूप में हैं तो उसमें ७० संख्या और अधिक नहीं बनती द्विपदा फिर दुगनी नहीं होती हैं तथा च ऋ. ५।२४ की ४ द्विपदाएं द्विपदा रूप में जब स्वयं हैं तो उन की दो संख्या किस आधार पर कम हों। क्या उन चार द्विपदाओं को दो चतुष्पदा बनाया जावेगा और द्विपदाओं को और भी डबल द्विपदा किया जावेगा।

१०४४२-४०=१०४०२। ६७ द्विपदाओं में ८० द्विपदा ही चतुष्पदा की जा सकती १७ नित्य द्विपदा तो द्विपदा ही रहती हैं।

मैकडानल की समालोचना जो छन्दःसंख्या की ऋक्संख्या के सम्बन्ध में है अज्ञानमूलक है। मैकडानल महोदय लिखते हैं कि—

"छन्दःसंख्या नाम की संक्षिप्त सूची छन्दोनुक्रमणी का परिशिष्ट समझ चाहिये क्योंकि छन्दोऽनुक्रमणी यह तो बताती है कि ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल कौन कौन छन्द संख्या में कितने हैं पर समग्र ऋग्वेद की ऋचाओं का पूर्ण कितना है यह बात छन्दःसंख्या से मालूम होती है। परन्तु इस छन्दःसंख्या दो भूलें स्पष्ट हैं प्रथम तो यह कि ऋग्वेद में पङ्क्तिछन्द वाले सब मन्त्र २४ हैं न कि ३१२ जैसा छन्दःसंख्या बताती है। दूसरी यह कि द्विपदाएं[1] १२७ हैं न १७ जैसा छन्दःसंख्या में लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि १२७ द्विपदा संख्या लिखते समय मध्यवर्ती २ का अङ्क लिखने में रह गया और १२७ का १७ बन गया। शेष सब छन्दों का योग छन्दःसंख्या का और मेरा प्रायः एक ही है जै कि चित्र[2] में मैंने दिखा दिया है। प्रतिमण्डल के अनुसार जो मैंने ऋग्वेद के मन्त्रों का योग किया है वह (तीन स्थानों को छोड़ कर जैसा मैंने टिप्पणी में दर्शाया है) छन्दोनुक्रमणी के समान ही है।" अंग्रेजी प्रमाण पृष्ठ ८९ पर देखो।
(ऋक्सर्वानुक्रमणी भूमिका)

मैकडानल की यह अद्भुत कल्पना कि १२७ लिखते समय २ का अङ्क लिखने से रह गया असत्य ही है क्योंकि छन्दःसंख्या में ६० आर्ष द्विपदाएं और ८० अनार्षेय द्विपदाएं सब १४० को चतुष्पदा करके ७० गिना गया है अतः शेष द्विपदाएं १७ ही हैं जो उनके मतानुसार नित्य द्विपदा कहाती हैं। तदनुसार छन्दःसंख्या में १७ द्विपदा ठीक ही है। तदनुसार छन्दःसंख्या की १०४०२ ऋक्संख्या वालखिल्यों को छोड़ कर ही है। परन्तु वालखिल्यों के भी ऋषि देवता और छन्द कात्यायन ने लिखे हैं यह हम विस्तार से पृष्ठ ५०—५१ पर दर्शा चुके हैं। वहां ११ सूक्त वालखिल्य ऋचाओं के हैं जिनमें ८० ऋचाएं इस प्रकार हैं कि वालखिल्य ऋचाओं में ७ गायत्री, २ अनुष्टुप्, १ पङ्क्ति, ७ त्रिष्टुप्, ७ जगती हैं और २८×२=५६ [3]बार्हतप्रगाथ हैं ७+२+१+७+७+५६=८० ऋचाएं हैं।

१—१२७ द्विपदाएं समझना मैकडानल की भूल है यह पूर्व लिखा जा चुका है। देखो पृष्ठ १२८ का टिप्पण सं० ३।

२—देखो पृष्ठ ८८ चित्र सं० २१।

३—प्रगाथ में दो दो ऋचाएं होती हैं अतः २८ प्रगाथों की ५६ ऋचाएं हुईं।

मैकडानल महोदय का पत्र जो उसने आक्सफोर्ड से ता० ८-८-१९१६ को लिखा था उस से पता चलता है कि एक और परिवर्तन मैकडानल के ऋक्संख्या के सम्बन्ध में हुआ है उसका पत्र इस प्रकार है कि—

"मैं यह नहीं समझ सकता कि ऋ० ५।२४ की दो द्विपदाओं को ऋक्-सर्वानुक्रमणी में क्यों दुगना करके जोड़ा गया है[1]। द्विपदाएं यज्ञकाल में की जाती हैं अध्ययनकाल में तो वे द्विपदाएं चतुष्पदा कर ली जाती हैं। सर्वथा ऋ० ५।२४ की दो द्विपदाओं को दुगना करना अशुद्ध है। अतः अब मेरा योग[2] १०५६५ होगा। चरणव्यूह का टीकाकार महीदास सब ऋचाओं का योग १०५५२ बताता है जैसा कि मैंने पहिले ऋक्सर्वानुक्रमणी के संस्करण में बताया था इस ऋक्संख्या में वालखिल्य की ८० ऋचाएं सम्मिलित हैं। उसी चरणव्यूह टीकाकार महीदास ने दूसरे स्थान पर ऋक्संख्या १०५६६ लिखी है। इस संख्या में १४० नैमित्तिक द्विपदा द्विपदारूप में महीदास ने बताई हैं। यह १०५६६ संख्या मेरी गिनी १०५६५ संख्या से एक अधिक है। नित्य द्विपदा और नैमित्तिक द्विपदा सब एक द्विपदा के रूप में गिनी जाने पर यही संख्या होती है। त्रीणि त्रीणि अर्द्धर्चाओं की स्थिति तो यह है कि यज्ञ काल में वे एक ऋचा हैं और अध्ययनकाल में वे एक एक की दो ऋचा गिनी जावेंगी।" अंग्रेजी प्रमाण पृष्ठ ६०—६१ पर देखो।

(ऋक्सर्वानुक्रमणी भूमिका)

मैकडानल के इस लेख से प्रतीत होता है कि वह फिर भी ऋ. ५।२४ की द्विपदाओं को नहीं समझ सका है।

मैकडानल ने सर्वप्रथम यह ध्यान दिलाया कि स्वामी दयानन्द की मन्त्रतालिका में दो स्थानों में मुद्रणदोष है। प्रथम यह कि ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के बीसवें सूक्त की संख्या २६ है ३६ नहीं अतः उस मण्डल का योग भी १७२६ नहीं प्रत्युत १७१६ है। दूसरे नवम मण्डल के योग में किसी सूक्त की ११ संख्या जुड़ने से रह गई है अतः नवम मण्डल के मन्त्रों का योग ११०८ है न कि १०९७। इस सम्बन्ध में मैकडानल लिखता है कि—

"मेरा ऋग्वेद के मन्त्रों का योग स्वामी दयानन्द के योग से मिलता है। जो उन्होंने अपने वेदभाष्य के १—८ पृष्ठ पर दिया है। केवल अष्टम और

1—ऋ. ५।२४ में दो द्विपदा नहीं हैं वहां तो चार द्विपदा हैं यदि मैकडानल पुस्तक खोलकर देखते तो उन्हें दीख जाता कि ऋ. ५।२४ में चार द्विपदा हैं दो नहीं, वृथा कात्यायन को दोष दे रहे हैं।

2—१०५६९-४=१०५६५।

नवम मण्डल में भेद है इन अष्टम और नवम मण्डल का मेरा योग छन्दानु-क्रमणी से मिलता है। अष्टम मण्डल में मुद्रणदोष यह है कि ऋ० ८। २० की मन्त्रसंख्या २६ के स्थान में ३६ मुद्रित हो गई है'।" अंग्रेजी प्रमाण पृष्ठ ६ पर देखो। (ऋग्वेद सर्वानुक्रमणीभूमिका)

इसी प्रकार महर्षि की मन्त्रतालिका में जो १०५८९ मन्त्रसंख्या संपूर्ण ऋग्वेद की अन्त में लिखी है उस को भी मुद्रणदोष बताया जाता है। उस का समाधान या भी हो सकता है कि वह ऋग्वेद की पारायण संख्या महर्षि की दृष्टि में हो।

ऋग्वेद में प्रत्येक छन्द कितनी संख्या में आया है यह हमने पृष्ठ ६३ पर चित्र सं. २२ में दर्शाया है वहां छन्द:संख्या और मैकडानल तथा कात्यायन का जो मतभेद है वह भी दिखा दिया है।

(४)

(महीदास की ऋग्वेद की पांच शाखाओं की वर्गानुसार ऋक्संख्या)

चरणव्यूह में लिखा है कि—

"ऋचाओं के समूह का नाम ऋग्वेद है उसको पहले शाकल ने पढ़ा फिर शाङ्खायन, आश्वलायन, मण्डूक और वाष्कल ऋषियों ने पढ़ा। इन पांचों की वर्गानुसार मन्त्रसंख्या समान ही है। तदनुसार ऋग्वेद में एक वर्ग ऐसा है जिसमें एक ही ऋचा है "जातवेदसे सुनवाम सोमं०" ऋ० अष्टक १, अध्याय ७, वर्ग ७। यह एक ऋचा का ही वर्ग है। ऋ० मण्डल १, सूक्त ९९ में यह एक ही ऋचा है। ९ ऋचाओं वाला भी एक ही वर्ग है। दो वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में दो दो ऋचाएं केवल हैं। एक सौ वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में तीन तीन ऋचाएं हैं। १७५ वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में चार चार ऋचाएं हैं। १२११ वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में पांच पांच ऋचाएं हैं। ३४५ वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में छै छै ऋचाएं हैं। १२० वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में सात सात ऋचाएं हैं। ५५ वर्ग ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में आठ आठ ऋचाएं हैं। प्रत्येक वर्ग की ऋक्-संख्या का योग संस्कृतभाग में देखो। इन पांचों शाखाओं में २०१० वर्ग हैं।" इन सब ऋचाओं का योग १०५१९ होता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ ६४ पर देखो। और चित्र सं. २३ पृष्ठ ६५ पर देखो।

१—मैकडानल ने नवम मण्डल की मन्त्रसंख्या ११०८ स्वयं लिख कर टिप्पण में १०९४ संख्या स्वामीदयानन्द की लिख दी है।

ऋग्वेद में २०२४ वर्ग हैं। उनमें १८ वर्ग बालखिल्यों के हैं अतः बालखिल्यों के बिना २००६ वर्ग होते हैं। उसमें संज्ञानसूक्त के चार वर्ग जोड़ कर वर्गसंख्या चरणव्यूह की दृष्टि में यहां २०१० होती है। यह वर्गसंख्या और मन्त्रसंख्या पांचों शाखाओं की समान है। पूर्वप्रकारानुसार जो १०४०२ ऋक्संख्या है उस में संज्ञानसूक्तों की १५ ऋचाएं जोड़ने से १०४०२+१५=१०४१७ संख्या होती है। दो मन्त्र शाखाभेद से और अधिक होकर १०४१७+२=१०४१९ ऋक्संख्या होती है।

(शौनक की वर्गानुसार शैशिरीय शाखा की ऋक्संख्या)

शौनक ने अपनी अनुक्रमणी में शैशिरीय शाखा की वर्गानुसार ऋक्संख्या इस प्रकार लिखी है कि—

"१ ऋचा वाला १ वर्ग है। २ ऋचा वाले २ वर्ग हैं।
३ ऋचा वाले ९७ वर्ग हैं। ४ ऋचा वाले १७४ वर्ग हैं।
५ ऋचा वाले १२०७ वर्ग हैं। ६ ऋचा वाले ३४६ वर्ग हैं।
७ ऋचा वाले ११९ वर्ग हैं। ८ ऋचा वाले ५९ वर्ग हैं।
९ ऋचा वाला १ वर्ग है।" इनका योग १०४१७ होता है।

प्रत्येक वर्ग की ऋक्संख्या का योग संस्कृत भाग में देखो।

संस्कृत प्रमाण और चित्र सं० २४ पृष्ठ ९६ पर देखो। ऋग्वेद में १०४०२ संख्या पूर्वोक्त प्रकार समझो उसमें १५ ऋचाएं शाखा कृत हैं। १०४०२+१५=१०४१७।

(वर्गानुसार वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या)

वेङ्कटमाधव ने ऋग्वेद की वर्गानुसार मन्त्रसंख्या इस प्रकार लिखी है कि—

"१ ऋचा वाला १ वर्ग है। २ ऋचा वाले २ वर्ग हैं।
३ ऋचा वाले ९९ वर्ग हैं। ४ ऋचा वाले १७५ वर्ग हैं।
५ ऋचा वाले १२०९ वर्ग हैं। ६ ऋचा वाले ३४३ वर्ग हैं।
७ ऋचा वाले १२१ वर्ग हैं। ८ ऋचा वाले ५४ वर्ग हैं।
९ ऋचा वाले २ वर्ग हैं।" इनका योग १०४०२ होता है।

प्रत्येक वर्ग की ऋक्संख्या का योग संस्कृत भाग में देखो।

इस संख्या में बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं और १४० नैमित्तिक-द्विपदाएं सब चतुष्पदा कर दी गई हैं। संस्कृत प्रमाण और चित्र सं० २५ पृष्ठ ९७ पर देखो।

(महर्षि की वर्गानुसार ऋक्संख्या)

ऋग्वेद की वास्तविक वर्गानुसार ऋक्संख्या महर्षिसंमत इस प्रकार है कि—

"१ ऋचा वाला १ वर्ग है।	२ ऋचा वाला कोई वर्ग नहीं है।
३ ऋचा वाले १०० वर्ग हैं।	४ ऋचा वाले १८१ वर्ग हैं।
५ ऋचा वाले १२१६ वर्ग हैं।	६ ऋचा वाले ३४२ वर्ग हैं।
७ ऋचा वाले १२२ वर्ग हैं।	८ ऋचा वाले ५५ वर्ग हैं।
६ ऋचा वाला १ वर्ग है।	१० ऋचा वाले ५ वर्ग हैं।
११ ऋचा वाला कोई वर्ग नहीं है।	१२ ऋचा वाला १ वर्ग है।"

इनका योग १०५२२ होता है।

प्रत्येक वर्ग की ऋक्संख्या का योग संस्कृत भाग में देखो। हमारे बनाये श्लोक और चित्र सं० २६ पृष्ठ ६८ पर देखो।

१४० नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदारूप में रखा जावे और बालखिल्य ऋचाओं को भी जोड़ा जावे तब उनकी वर्गानुसार ऋक्संख्या चित्र सं० २७ पृष्ठ ६६ पर देखो। इनका योग १०५५२ होता है।

१४० नैमित्तिक द्विपदाओं की ७० चतुष्पदा बना ली जावें और बालखिल्यों को भी जोड़ा जावे तो उनकी प्रतिवर्ग ऋक्संख्या चित्र सं० २८ पृष्ठ १०० पर देखो। इनका योग १०४८२ होता है।

१४० नैमित्तिक द्विपदाओं को तो ७० चतुष्पदा बना लिया जावे परन्तु बाल-खिल्य ऋचाओं को न रखा जावे तो उनकी प्रति वर्ग ऋक्संख्या चि० सं० २६ पृष्ठ १०१ पर देखो। इनका योग १०४०२ होता है।

१४० नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदावस्था में ही रखा जावे और बालखिल्यों को भी रखा जावे तो प्रत्येक अष्टक में कितने वर्ग कितनी ऋचा वाले हैं यह बात चित्र सं० ३० पृष्ठ १०२ पर देखो।

महर्षिसंमत प्रत्येक अष्टक में कितने वर्ग कितनी ऋचा वाले हैं यह चित्र सं० ३१ पृष्ठ १०३ पर देखो।

दयानन्दसरस्वती, कात्यायन और वेङ्कटमाधव की मण्डल अनुवाक और सूक्त के अनुसार ऋक्संख्या में जो भेद है उसको चित्र सं० ३२ पृष्ठ १०४ पर देखो—

(उपर्युक्त का विशेष विवरण)

१—मण्डल संख्या और अनुवाक संख्या तीनों की एक जैसी है।

२ (घ)–सूक्तसंख्या महर्षि और कात्यायन की एक है परन्तु वेङ्कटमाधव के अनुसार अष्टम मण्डल में ६२ सूक्त हैं तथा महर्षि और कात्यायन के अनुसार ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में १०३ सूक्त हैं क्योंकि बालखिल्य ऋचाओं के ११ सूक्त वेङ्कटमाधव ऋग्वेद में नहीं गिनता है अतः उसके अनुसार ११ संख्या कम हो जाती है १०३–११=६२ सूक्तसंख्या अष्टम मण्डल की होती है।

३(क) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १९१ सूक्तों में वेङ्कटमाधव और महर्षि के अनुसार १९७६ ऋचाएं हैं परन्तु कात्यायन के मत में २००६ ऋचाएं हैं। क्योंकि कात्यायन ऋ० १। ६५—७० की "पश्वा न तायुं०" आदि ३० चतुष्पदा ऋचाओं को ६० द्विपदा बनाता है अतः कात्यायन के अनुसार ३० संख्या प्रथम मण्डल में बढ़ जाती है। १९७६+३०=२००६। वेङ्कटमाधव तो सब ही द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाता है।

४(ख) ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में महर्षि और कात्यायन के अनुसार ७२७ ऋचाएं हैं परन्तु वेङ्कटमाधव के मत में ७२५ ऋचाएं पञ्चम मण्डल में हैं। क्योंकि ऋ० ५। २४ की ४ सहद्विपदाओं को वेङ्कटमाधव दो चतुष्पदा बना लेता है अतः दो संख्या पञ्चम मण्डल में उसके अनुसार कम हो जाती हैं। ७२७–२=७२५।

५(ग) ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में महर्षि और कात्यायन के अनुसार ८४१ ऋचाएं हैं परन्तु वेङ्कटमाधव के मत में ८२३ ऋचाएं सप्तम मण्डल में हैं। क्योंकि सप्तम मण्डल में ४० द्विपदा हैं। उनमें से ४ नित्य द्विपदा हैं वे तो चतुष्पदा हो नहीं सकतीं शेष ३६ द्विपदाओं को वेङ्कटमाधव १८ चतुष्पदा बना देता है अतः वेङ्कटमाधव के मतानुसार सप्तम मण्डल में १८ संख्या कम हो जाती है ८४१–१८=८२३।

६(ङ) ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में महर्षि और कात्यायन के अनुसार १७१६ ऋचाएं हैं परन्तु वेङ्कटमाधव के अनुसार १६३१ ऋचाएं अष्टम मण्डल में हैं क्योंकि ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में १० द्विपदाएं हैं वेङ्कटमाधव उनको ५ चतुष्पदा बना लेता है अतः पांच संख्या तो यह कम हो जाती है। और अष्टम मण्डल में ८० बालखिल्य ऋचाएं हैं उनको वेङ्कटमाधव ऋग्वेद में नहीं गिनता है अतः ८० संख्या और उसके अनुसार कम हो जाती है इस प्रकार अष्टम मण्डल में ८५ संख्या वेङ्कटमाधव के अनुसार न्यून है। १७१६–८५=१६३१।

७(च) ऋग्वेद के नवम मण्डल में महर्षि और कात्यायन के अनुसार ११०८ ऋचाएं हैं परन्तु वेङ्कटमाधव के अनुसार १०९७ ऋचाएं नवम मण्डल में हैं। क्योंकि नवम मण्डल में २२ द्विपदा हैं वेङ्कटमाधव उनको ११ चतुष्पदा बना लेता है अतः ११ संख्या वेङ्कटमाधव के मतानुसार न्यून हो जाती है। ११०८–११=१०९७।

८(छ) ऋग्वेद के दशम मण्डल में महर्षि और कात्यायन के अनुसार १७५४ ऋचाएं हैं परन्तु वेङ्कटमाधव के अनुसार १७५० ऋचाएं दशम मण्डल में हैं क्योंकि दशम मण्डल में ८ द्विपदा हैं वेङ्कटमाधव उनको ४ चतुष्पदा बना लेता है अतः ४ संख्या उसके अनुसार कम होजाती हैं १७५४–४=१७५०।

९(झ) महर्षि और कात्यायन के अनुसार संपूर्ण ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं परन्तु वेङ्कट-माधव ऋग्वेद में १०१७ सूक्त मानता है क्योंकि बालखिल्य ऋचाओं के ११

सूक्तों को वेङ्कटमाधव ऋग्वेद में नहीं गिनता है अतः सूक्तसंख्या उसके अनुसार ११ न्यून है। १०२८–११=१०१७।

१० (ज+ञ) महर्षि के अनुसार ऋग्वेद में १०५२२ मन्त्र हैं पर कात्यायन के अनुसार ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र हैं क्योंकि ऋ०१।६५—७० की "पश्वा न तायुं०" आदि ३० चतुष्पदाओं को कात्यायन ६० द्विपदा बना कर गिनता है अतः कात्यायन के अनुसार ३० संख्या बढ़ जाती है। १०५२२+३०=१०५५२।

वेङ्कटमाधव १०४०२ ऋचाएं ऋग्वेद में मानता है क्योंकि ऋग्वेद में जो ८० बालखिल्य ऋचाएं हैं उनको वेङ्कटमाधव ऋग्वेद के अन्तर्गत नहीं मानता है इसके अतिरिक्त उसके मतानुसार ऋग्वेद में १५७ द्विपदा हैं उन में से १७ द्विपदा तो नित्य-द्विपदा हैं वे तो चतुष्पदा बन नहीं सकती हैं। शेष सब १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को वेङ्कटमाधव ७० चतुष्पदा बना लेता है अतः ७० संख्या और उसके अनुसार कम हो जाती है अतः ८० और ७० अर्थात् १५० ऋचाएं कम होकर वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या १०५५२–१५०=१०४०२ रह जाती है।

(ऋग्वेद में अक्षरों आदि की गणना)

शौनक ने अपनी अनुक्रमणी में लिखा है कि—

"ऋग्वेद में अर्द्धर्चों की संख्या इक्कीस सहस्र दो सौ बत्तीस (२१२३२) और एक पाद है। और शाकल्य ने जो पदपाठ किया है उसमें एक लाख तथा एक लाख के आधे अर्थात् पचास सहस्र और तीन सहस्र आठ सौ छब्बीस चर्चित पद हैं अर्थात् एक लाख तिरपन सहस्र आठ सौ छब्बीस (१५३८२६) पदों की आवृत्ति शाकल्य के पदपाठ में है। तथा ऋग्वेद में क्रमपाठ में आवृत्त किये हुए = चर्चापद एक लाख दस सहस्र सात सौ चार (११०७०४) हैं और ऋग्वेद में चार लाख बत्तीस सहस्र अक्षर हैं।" यह शौनक का मत है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ १०५ पर देखो। ऐसा ही शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

"छत्तीस अक्षर का बृहती छन्द होता है उसको बारह सहस्र से गुणा करो। ३६×१२०००=४३२०००। इतने अक्षर ऋग्वेद में हैं" संस्कृत प्रमाण पृष्ठ १०६ पर देखो। यह अक्षर आदि संख्या विशेष विचार करने योग्य है।

ऋग्वेद की ऋक्संख्या के सम्बन्ध में मतमतान्तरों की विवेचना करके महर्षि का अभिमत १०५२२ ऋक्संख्या सिद्ध करदी गई। अब ऋचाओं का जो महर्षिकृत भाष्य है उसकी व्याख्या प्रारम्भ की जाती है।

॥ इत्युपक्रमणिका ॥

++卐++

चर्चितपद—पदपाठ में जो पदों की आवृत्ति की जाती है उसको चर्चितपद कहते हैं।
चर्चापद—क्रमपाठ में जो पदों की आवृत्ति होती है उसको चर्चापद कहते हैं। (देखो शौनकानुक्रमणी का षड्गुरुभाष्य)।

(महर्षिभाष्यम्)

अथादिमस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः।
अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।
तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निशब्देनेश्वरेणात्मभौतिकार्थावुपदिश्येते।

(ऋ० भा० १।१।१॥)

अस्यायमर्थः—परमेश्वरः प्रथमे मन्त्रे स्वात्मानं भौतिकं चाग्निमग्निशब्देनोपदिशति। उपलक्षणमात्रं चैतदुच्यते। बह्वर्था हि मन्त्राः।

संगतिः—यथा पिता ऽध्यापको वा स्वपुत्रं स्वशिष्यं च प्रत्युपदिशति यथा हे पुत्र! हे शिष्य! त्वं "पितः! नमस्ते, गुरो! नमस्ते" एवं वद। इत्थं तादृशानि वाक्यानि पिता ऽध्यापकश्च प्रथमं स्वयमुच्चारयतः। तथैवात्र पितृवत् कृपायमाण ईश्वरः शिक्षयति—

हे जीव! मनुष्यदेहधारिन्! त्वमेवं वद यथा—'अ॒ग्निमी॑ळेपु॒रोहि॑तम्' इत्यादि।

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥

अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रःऽहि॑तम्। य॒ज्ञस्य॑। दे॒वम्। ऋ॒त्विज॑म्। होता॑रम्। र॒त्न॒ऽधात॑मम्।

(महर्षिभाष्यम्)

अन्वयः—अहं यज्ञस्य पुरोहितमृत्विजं होतारं रत्नधातमं देवमग्निमीळे।

(ऋ० भा० १।१।१॥)

अहं स्तुतिकर्ता प्रार्थनाकर्ता चोपासकः (अग्निम्) परमेश्वरम् (ईडे) स्तुवे—स्तुतिं कुर्वे, याचे—प्रार्थनां कुर्वे च।

(ईड्धातोरनेकेऽर्थाः। यास्कव्याध्येषणयोर्विवेचनं च)

अन्वयः = अन्वितार्थ इत्यर्थ एवं सर्वत्र ज्ञेयम्।

अयमीडिर्धातुः कौत्सव्यनिघण्टावनेकार्थेषु पठितः । "ईड स्तुतौ" इति धातुपाठे । 'याचामि' इति यास्कः । तथाहि—

"अग्निमीळे ऽग्निं याचामि । ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा च"
(निरु० ७ । १५)

अस्यायमर्थः—ईडिर्धातुर्याच्ञार्थे ऽध्येषणार्थे पूजार्थे च वर्तते । याच्ञा= प्रार्थना, अध्येषणा=पौनः पुन्येनेच्छा, प्रेरणा, गुणान्वेषणं च, पूजा=संमाननम् । निरुक्तव्याख्याता दुर्गस्तु याच्ञामेवाध्येषणामाह—

ईडिर्धातुरध्येषणाकर्मा याच्ञाकर्मेह । अन्यत्र पूजाकर्मा ।
इति दुर्गः । (दुर्ग निरु० भा० ७ । १५)

दुर्गवृत्त्याश्रयेण निरुक्तव्याख्यातारो ऽपि तथैवाहुः—

अध्येषणाकर्मा याचनार्थः । "सनिस्त्वध्येषणा याच्ञा" इत्यमरः । इति मुकन्द झा ।
(राजपण्डित मुकन्द झा कृत निरुक्त टीका)

तदेतत् सर्वं निरुक्तस्यापव्याख्यानम् । कोषानभिज्ञता च । निघण्टौ "इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः" (निघ० ३ । १६ ॥) "इति चत्वारो ऽध्येषणाकर्माणः" । (निघ० ३ । २१ ॥) इति पृथगुक्तेः । शब्दानुशासनशास्त्रे ऽपि—

"विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्"
(शब्दानु० ३ । ३ । १६१ ॥)

इत्यधीष्टप्रार्थनयोः पृथगुपादानम् ।

निरुक्तोद्धरणव्याख्यायां सायणोऽप्याह—

धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायमाश्रित्य याच्ञा, अध्येषणा, पूजा अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः ।
(सायण ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

निरुक्तव्याख्याता स्कन्दश्चाह—

'ईड स्तुतौ याच्ञायां वा यद्वाऽध्येषणायाम्' ।
(स्कन्द निरु० भा० ७ । १५ ॥)

अमरकोषे[1] तु अध्येषणाया द्वौ पर्यायौ । सनिः । अध्येषणा । इति । याच्ञायाश्च चत्वारः—याच्ञा । अभिशस्तिः । याचना । अर्थना । इति ।

१—सनिस्त्वध्येषणा याच्ञा ऽभिशस्तिर्याचनार्थना । (अमरकोश २ । ३२ ॥)

अमरव्याख्यातारस्तथैव व्याचख्युः—

सनिः अध्येषणा द्वे यद् गुर्वादेः कचिदर्थे प्रार्थनया नियोजनं तत्र ॥ याच्ञा । अभिशस्तिः । याचना । अर्थना । चत्वारि याच्ञायाः ॥

(महेश्वरः अमर० टीका २ । ३२ ॥)

तथा सति याच्ञा अध्येषणा इति पृथगर्थौ ।

नन्वस्मिन् 'अग्निमीळे०' इति मन्त्रे स्तुतिरेव केवलं नात्र काचिदपि प्रार्थना । कस्मान्महर्षिः 'याचे' इत्यप्याह । सत्यम् । अस्मिन् मन्त्रे प्रार्थनाया अभावादेव स्कन्दवेङ्कटसायणारविन्दास्तदनुकारी सिद्धाञ्जनभाष्यकारो ऽरविन्दशिष्यः कपालिः विलसनादयः पाश्चात्याश्च प्रार्थनार्थं तत्यजुः । ईळे Adore इत्येवारविन्दः । ईळे Glorify इत्येव विलसनमहोदयश्च । वस्तुतस्तु स्तुतौ प्रार्थना प्रार्थनायां च स्तुतिर्निहिता । तथा चोक्तम्—

स्तुवन्तं वेद सर्वो ऽयमर्थयत्येष मामिति ।
स्तौत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं मामेष पश्यति ॥ ९ ॥
स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
भवत्युभयमेवोक्तमुभयं ह्यर्थतः समम् ॥ १० ॥

(बृहद्देवता १ । ९, १०)

अस्यायमर्थः—सर्वो जनः स्तुवन्तं स्तुतिकर्तारं वेद जानाति यथायं स्तुतिकर्ता मां मत्तः सकाशाद् अर्थयति कंचिदर्थं कामयते इति हेतोः स्तौति ॥९॥ अर्थं ब्रुवन्तं पदार्थं प्रार्थयन्तं च सर्वो जनो जानाति यदेष मां सार्थं तदर्थसम्पन्नं पश्यति मन्यते । तस्मात् स्तुवद्भिः स्तुतिविषयकैः ब्रुवद्भिः प्रार्थनाविषयकैर्वा तत्त्वप्रदर्शकैः ऋषिभिर्मन्त्रैरुभयं स्तुतिप्रार्थनात्मकं प्रोक्तं भवति । यतो हि तदुभयं परमार्थतस्तुल्यम् ॥ १० ॥ तस्य चायं प्रकारो यथा—ज्ञानस्वरूपं परमात्मानं भवन्तं स्तौमि यतो ऽहमपि भवत्कृपया ज्ञानयुक्तः स्यामिति । तेजो ऽसि तेजो मयि धेहीति यथा ।

अथ भाष्ये स्तुवे, याचे, इत्यात्मनेपदप्रयोगः किमर्थः । शृणु । परब्रह्मणः स्तुतिः प्रार्थना वा स्वात्मार्थे केवलं, न परार्थे । नह्यन्येन कृता स्तुतिः प्रार्थना वा ऽन्यस्मै फलप्रदा । तथा चाहुः—

"विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे"

(सांख्य० १ । १७ ॥)

अनुपपन्नमेतत् । महर्षिभाष्येऽप्यन्यत्र—

ईळे । स्तौमि ऋ० भा० ४।३३।१॥ यजु० भा०७।३॥

इत्यादौ परस्मैपदप्रयोगदर्शनात् । सत्यम् । उभयत्र विदुषः प्रशंसा न परमात्मनः स्तुतिः । कथं तर्हि—

अग्निमीळे ऽग्निं याचामि निरु० ७।१५॥

इति यास्कः । निरुक्तमधिदैवतमिति सिद्धान्तात् । स्याद् वा सामान्येन प्रयोगः (ईळे) स्तुवे स्तौमि वा । याचे याचामि वा ।

न च प्राकृतभाषायां 'स्तुति करते हैं' इत्येव केवलं न तत्र 'प्रार्थना करते हैं' इत्यप्यनूदितमिति वाच्यम् । प्राकृतभाषायां त्वभिप्रायमात्रं लिख्यते । तथा चोक्तं महर्षिणा भ्रान्तिनिवारणे—

"भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है"

(भ्रान्तिनिवारण शताब्दीसंस्करण भाग २ पृष्ठ ८७६)

(ईळे पदस्य पूजा ऽध्येषणार्थौ)

(अग्निम्) परमेश्वरम् (ईळे) पूजयामि । उक्तं च महर्षिणा भ्रान्तिनिवारणे—

अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है ।

(भ्रान्तिनिवारण शता० सं० भाग २ पृष्ठ ८८७)

(अग्निम्) परमेश्वरम् (ईळे) तस्य गुणान्वेषणं कुर्वे । यथोक्तं महर्षिणा ऋग्वेदस्य विस्तृते भाष्ये आध्यात्मिकार्थे—

'तस्यैवाध्यन्वेषणं कुर्वे'

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् आध्यात्मिकप्रकरणम् ऋ० १।१।१॥)

अत्र केचिदाहुः परमेश्वरः स्तुत्यो भौतिकाग्निरध्येषणीय इति योजना कार्या। तदेषा महर्षिभाष्यस्यापव्याख्या । उभयोऽप्यध्येषणीयत्वात् । यथा चोक्तं पूर्वम्—

'अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक'

(आ० नि० श० सं० भाग २ पृष्ठ ८६७)

अध्येषणाशब्दस्तु भौतिकार्थे व्याख्यास्यते । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

'(ईळे) स्तुवे याचे'

(महर्षिभाष्यम्)

'तस्यैवाध्यन्वेषणं कुर्वे'

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यमाध्यात्मिकार्थे)

'ईळे' व्याख्यातम्

अधुना ऽग्निशब्दं विस्तरतो व्याख्यास्यामः

(अग्निम्) परमेश्वरम्

१—अयमग्निशब्दः अग्रपूर्वात् 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् धातोः कर्तृकर्मोभयनिष्पन्नः ।

'अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'

(निरुक्त ७ । १४ ॥)

इत्युभयथापि दर्शनात् ।

अस्यायमर्थः—अग्निः शब्दः कस्माद् धातोः कथं वा व्युत्पाद्यते इति प्रश्ने निराह । अग्रणीर्भवति=अग्रम् आत्मानं नयतीति कर्तृसाधनः । अग्रणीः सर्वश्रेष्ठो वरुणादिशब्दवाच्यः । अग्रं प्रथमं यज्ञेषु सर्वश्रेष्ठकर्मसु प्रणीयते प्रतिपाद्यत इति कर्मसाधनः । प्रपूर्वो नयतिः प्रतिपादनार्थे ऽपि वर्तते यथा 'स एव धर्मो मनुना प्रणीतः' । अग्निशब्दस्य कर्तृकर्मोभयसाधनत्वं स्कन्दो ऽप्याह—

अग्रोपपदात् "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् यद् वा अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्तव्यार्थेषु तादर्थ्येन प्रणीयते । अग्रशब्दादेव नयतेश्च पूर्ववत् प्रत्ययः स एव । अपरभागे केवलं साधनभेदः । पूर्वं कर्तरि अधुना कर्मणि विषयभेदश्च ।

(स्कन्द निरु० भा० ७ । १४ ॥)

१— अपां प्रणयने सोमस्य प्रणयने बर्हिः प्रणयन एव नायं प्रणयनशब्दो रूढः इति भावः ।

परमेश्वर एव सर्वत्र प्रथमं स्मर्यते न भौतिको ऽग्निः । यथाह वेदर्षिर्व्यासो महाभारते भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णमुखेन—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
(गीता १७ । २४ ॥)

२—अग्निशब्दस्याग्रणीत्वनिर्वचनेनेश्वरार्थत्वं स्वऋग्वेदभाष्य आनन्दतीर्थो ऽप्याह—

अग्रणीत्वं यदग्नित्वमित्यग्रे नाम तद् भवेत् ।
एवमेवाह भगवान् निरुक्तिं बादरायणः ॥

३—अस्यवामीयसूक्तभाष्य आत्मानन्दश्च तथैवाह—

स एवाग्रणीत्वादग्निः ।

४—अग्निशब्दस्येश्वरार्थे स्मृतिरपि भवति—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
(मनु० १२ । १२३ ॥)

अस्यायमर्थः—"विद्यात् तं पुरुषं परं" इति पूर्वतो ऽनुवृत्तम् । तमेव परं पुरुषम् अग्न्यादिनामभिः कथयन्तीति ।

५—ब्राह्मणमपि चात्र भवति—

ब्रह्म ह्यग्नि । (शत० १ । ४ । २ । ११ ॥)
आत्मा वा अग्निः । (शत० १ । २ । ३ । २ ॥)
आत्मैवाग्निः । (शत० ६ । ७ । १ । २० ॥)
अग्निर्ब्रह्म । (शत० ३ । २ । २ । ७ ॥)
ब्रह्म वा अग्निः । (कौशी० ६ । १ । ५ ॥, १२ । ८ ॥)
एष वै प्रजापति र्यदग्निः । (तैत्ति० १ । १ । ५ । ५ ॥)

६—कल्पो ऽपि भवति—

इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वापि परेशमाहुः।
विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः॥

७—उपनिषदपि भवति—

प्राणो ह्यग्निः परमात्मा।

(प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्) (मैत्र्युपनिषत् ६।१६॥)

स कालो ह्यग्निः स चन्द्रमा। (कैवल्यो० ८)

तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यः। (महानारायणोप० १।७॥)

८—किमन्यैः। अग्निशब्दस्येश्वरार्थे मन्त्रवर्णा एव प्रमाणम्। इन्द्रंमित्रमित्यादि। गूढार्था हीयमृक् प्रायः सर्वैरपव्याख्याता तस्माद् विस्तरतो व्याख्यायते—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६॥)

इन्द्रम्। मित्रम्। वरुणम्। अग्निम्। आहुः। अथो इति। दिव्यः। सः। सुऽपर्णः। गरुत्मान्। एकम्। सत्। विप्राः। बहुधा। वदन्ति। अग्निम्। यमम्। मातरिश्वानम्। आहुः।

अन्वयः[1]— १—विप्राः इन्द्रं मित्रं वरुणम्—अग्निमिति बहुधाऽऽहुः अथो स दिव्यः सुपर्णो गरुत्मानस्तीति।
२—बहुधा वदन्ति एकं सद् ब्रह्म॥
३—अग्निम्—यमं मातरिश्वानं चाहुः॥

अस्मिन् मन्त्रे त्रीण्याख्यातपदानि सन्ति। आहुः। वदन्ति। आहुः। तस्मान् मन्त्रस्य त्रयोऽन्वया विहिताः। तथा चोक्तं महर्षिणा—

तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं।

(भ्रान्तिनिवारण श० सं० भा० २ पृ० ८६६)

1—महर्षिभाष्येऽस्य मन्त्रस्यान्वयो द्रष्टव्यः।

तत्र प्रथमो ऽन्वयः—विप्रा मेधाविन इन्द्रं, मित्रं, वरुणम्, अथो यः दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् सूर्यश्च यो ऽस्ति तं च 'अग्निम्' इति बहुधा ऽऽहुः। अस्यायमाशयः इन्द्रं मित्रं वरुणं सूर्यं चाग्निनाम्ना कथयन्ति। अग्निशब्द इन्द्रमित्र-वरुणसूर्यवाचकः। अग्निशब्दस्य इन्द्रमित्रवरुणसूर्या अर्था भवन्ति। इदमप्युपलक्षण-मात्रमेवोच्यते। अग्निशब्दस्य नाना ह्यर्था सन्तीत्यस्य प्रतिपादकं प्रथमं वाक्यम्। तथा चोक्तम्—

अग्निः सर्वा देवताः (ऐ० ब्रा० ६।३॥)

अस्यायमर्थः—अग्निशब्दः सर्वदेवतावाचकः।

अथ द्वितीयो ऽन्वयः—एकम्=अद्वितीयं सत्=परब्रह्म विप्राः=मेधाविनः बहुधा=बहुभिर्नामभिः वदन्ति=वर्णयन्ति। एकस्यैव सतः परमात्मनो बहूनि नामानि सन्तीत्यस्य प्रतिपादकं द्वितीयं वाक्यम्[1]।

अथ तृतीयो ऽन्वयः—अग्निं=भौतिकं वह्न्याख्यं पदार्थं—यमं मातरिश्वानमाहुः=यममातरिश्वादिनामभिः कथयन्ति। भौतिकाग्नेर्वाचका बहवः शब्दा सन्तीत्यस्य प्रतिपादकं तृतीयं वाक्यम्।

प्रथमे वाक्ये इन्द्रमित्रादयः पदार्था उद्देश्यकोटिगता अग्निशब्दश्च विधेय-प्रविष्टः। तृतीये वाक्ये ऽग्निपदार्थ उद्देश्यकोटिगतो यममातरिश्वादिशब्दाश्च विधेय-कोटिगताः। अतएवाग्निशब्दस्य मन्त्रे द्विरुच्चारणम्। प्रथमे वाक्ये ऽग्निशब्दः शब्दपरो विशेषणाभिप्रायात् तृतीयवाक्ये ऽग्निशब्दः पदार्थपरो विशेष्याभिप्रायात्। तथा चोक्तं महर्षिणा—

तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाभिप्रायात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमत-स्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो

१—अनेनैकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेद्यम्।
(ऋ० १।१।१॥ महर्षिभाष्यम्)

विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद् यथा । "इममेवाग्निं, महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्र-मित्यादि० निरु० अ० ७ खं० १८ ॥"

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका शता० सं० भाग २ पृष्ठ ६६०)

अस्यायमर्थः—किमिदं विशेष्यविशेषणाभिप्रायादिति। उच्यते—विशेष्यं वस्तु विशेषणंच शब्दः । प्रथमे वाक्ये ऽग्निशब्दः शब्दपरः, तृतीये वाक्ये ऽग्निशब्दः पदार्थपरः । अयं भावः—इन्द्रंमित्रमिति मन्त्रे प्रथमे वाक्ये तृतीये वाक्ये चाग्नि-शब्दस्योच्चारणं वर्तते तथाहि—

इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमाहुः ।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

अत्र प्रथमे वाक्ये इन्द्रमित्रवरुणसूर्याः पदार्था विशेष्याणि संज्ञिन इत्यर्थः । अग्निशब्दश्च विशेषणं संज्ञेत्यर्थः । तृतीये वाक्ये यममातरिश्वादयः शब्दा विशेषणानि संज्ञा इत्यर्थः अग्निश्च पदार्थो विशेष्यम् संज्ञीत्यर्थः । तस्मात् पूर्वार्द्धर्चगतो ऽग्निशब्दो विशेषणम् उत्तरार्द्धर्चगतो ऽग्निशब्दो विशेष्यमिति विवेकः ।

अग्निपदार्थस्य बहूनि नामानि सन्तीति तृतीयवाक्यार्थः ।
परमात्मनो बहूनि नामानि सन्तीति द्वितीयवाक्यार्थः ।
अग्निशब्दस्य बहवो ऽर्था भवन्तीति प्रथमवाक्यार्थः ।

इन्द्र-मित्र-वरुण-सूर्य पदार्थान् अग्निनाम्ना कथयन्तीत्युपलक्षणम् । तेषामिन्द्रा-दीनामपि वस्तूनां बहूनि नामानि सन्ति । तत्राग्निशब्दग्रहणमुपलक्षकम् । मन्त्रस्य त्रीनपि वाक्यार्थान् ऋ० १।१६४।४६॥ भाष्ये संजग्राह महर्षिः—

'यथाग्न्यादेरिन्द्रादीनि बहूनि नामानि सन्ति तथैकस्य परमात्मनो ऽग्न्यादीनि सहस्रशो नामानि वर्तन्ते' ॥

(महर्षिभाष्यभावार्थ ऋ० १।१६४।४६॥)

अस्मिन् भावार्थे अग्नेर्बहूनि नामानि सन्तीति तृतीयवाक्यार्थविवरणम् ।

१—चशब्दो ऽत्राध्याहर्तव्यः। इममेवाग्निं महान्तं चात्मानं।

आदिपदग्राह्याणामिन्द्रादीनां बहूनि[1] नामानि सन्तीति प्रथमवाक्यार्थविवरणम्। परमात्मनोऽग्न्यादीनि सहस्रशो नामानि वर्तन्त इति द्वितीयवाक्यार्थविवरणम्।

ततश्चेदमपि विवरीतुं शक्यते—एकं सत् अग्निम्=ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म बहुधा बहुभिर्नामभिर्वदन्ति। कानि च तानि नामानि। प्रदर्शनमात्रमाह—इन्द्रं, मित्रं, वरुणम्, अग्निं, दिव्यं, सुपर्णं, गरुत्मन्तमिति। एतच्च विवरणं सत्यार्थप्रकाशे—

(इन्द्रम्मित्रं) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं "द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः" "शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः" "यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्" "यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा" "(दिव्य) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त (सुपर्ण) जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं (गरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है[2] जो वायु के समान अनन्त बलवान् है इस लिये परमात्मा के दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान् और मातरिश्वा ये नाम हैं।

(सत्यार्थप्रकाश श० सं० भाग १ पृ० १२)

'इन्द्रं मित्रं०' मन्त्रे त्रयो वाक्यार्थाः सन्तीति स्वमतोपोद्बलकं निरुक्तसन्दर्भमुद्दधार महर्षिः—

क. अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यातः निरु० ७। १८॥

(ऋ० १। १६४। ४६॥ पदार्थः)

ख. इन्द्रं मित्रम्० ऋग्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरीममेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्।

(ऋ० भा० भू० श० सं० भाग २ पृष्ठ ३४७)

१—अतएव महर्षिभाष्ये (ऋ० १।१६४.४६॥) प्रथमे ऽन्वये "विप्रा इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमिति बहुधा ऽऽहुः। अयं भावः—इन्द्रादीनां वाचको न केवलमग्निशब्दः। अन्येऽपि बहवः शब्दा इन्द्रादीनां वाचका इति 'बहुधा' शब्दस्यार्थः प्रथमे ऽन्वये=प्रथमे वाक्ये बोध्यः।

२—(मातरिश्वा) इति पदं त्रुटितं प्रतीयते।

ग. (महान्तमेवात्मानमित्यादि०) निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है।

(आर्याभिविनय उपक्रमणिका श० सं० भा० १ पृ० ३)

अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय। "इन्द्रं मित्रं वरु० एकं सद्विप्रा ब०" इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति..........

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यं ऋ० १।१।१॥)

अयं यास्को ऽपि निरुक्ते 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचो वाक्यत्रयं कृत्वा व्याख्यातवानिति महर्षेरभिप्रायः।

ननु यास्कस्तु "ततो नु मध्यमः" "इत्यादित्यमुक्तं भवति" "अथापि ब्राह्मणं भवति। अग्निः सर्वा देवता" इत्युपक्रम्य "तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय" इत्युक्त्वा इन्द्रं मित्रमित्यृचमुदाजहार। तस्यायमभिप्रायो यद् अग्निशब्दस्य मध्यमो ऽग्निः=विद्युदर्थः। अग्निशब्दस्यादित्योऽर्थः। अग्निशब्दस्य सर्वा देवता अर्थः। अग्निशब्दस्य बहवो ऽर्था भवन्तीत्येव हि तत्र प्रस्तुतम्। परमात्मनो बहूनि नामानि सन्तीत्यस्याप्रसङ्ग एव तत्र। इन्द्रादिपदार्थानामग्न्यादिनामानि सन्तीत्यप्यप्रस्तुतमेव। कथं वाक्यत्रय्यामुपोद्बलकं निरुक्तमुद्दधार महर्षिः?

सत्यम्—निरुक्ते "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्" इति पूर्वार्द्धर्च एव तत्र[2] प्रस्तुतेन संबध्यते। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति पादद्वयमुत्तरार्धर्चगतमप्रस्तुतमेव। व्याख्याता च समस्त ऋग् भाष्यकारेण यास्केन। ततो वाक्यत्रय्यामुपोद्बलकं निरुक्तसन्दर्भमुदाजहार महर्षिः।

(अथाधुना निरुक्तसन्दर्भो व्याख्यायते)

इममेवाग्निं, महान्तं चात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति।
इन्द्रं मित्रं वरुणम् 'अग्निं' दिव्यं च गरुत्मन्तम्।

(निरु० ७।१८॥)

१—एवशब्दोऽत्र चकारार्थः।
२—तत्र निरुक्तसन्दर्भे इत्यर्थः।

निरुक्तसन्दर्भस्यान्वयः—

१—इममेवाग्निं मेधाविनो बहुधा वदन्ति ।

२—महान्तं चात्मानं मेधाविनो बहुधा वदन्ति ।

३—इन्द्रं मित्रं वरुणं दिव्यं गरुत्मन्तं च 'अग्निम्' आहुरिति शेषः।

अस्यायमर्थः—इममेवाग्निं=पार्थिवं बह्न्याख्यं पदार्थं मेधाविनो विद्वांसो बहुधा बहुभिर्नामभिर्वदन्ति । इति निरुक्तगतं प्रथमं वाक्यं मन्त्रगतस्य तृतीयवाक्यस्य "अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इत्यस्य विवरणम् । अग्नेः पदार्थस्य बहूनि नामानि सन्तीत्यर्थः ।

महान्तं चात्मानं=परमात्मानं मेधाविनो बहुधा बहुभिर्नामभिर्वदन्तीति निरुक्तगतं द्वितीयं वाक्यं मन्त्रगतस्य द्वितीयवाक्यस्य "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यस्य विवरणम् । परमात्मनो बहूनि नामानि सन्तीत्यर्थः ।

इन्द्रं मित्रं वरुणं दिव्यं गरुत्मन्तं च 'अग्निम्' आहुः । इन्द्रादीन् पदार्थान् अग्निनाम्ना कथयन्तीति निरुक्तगतं तृतीयं वाक्यं पूर्वार्द्धर्चस्य "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्" इत्यस्य विवरणम् । अग्निशब्दस्य बहवो ऽर्था भवन्तीत्यर्थः

(दुर्गव्याख्या)

इन्द्रं मित्रमृत्यृचम् इमं निरुक्तसन्दर्भं च दुर्गाचार्यो ऽपव्याख्यातवान् तथाहि—

"इन्द्रं मित्रमिति अस्यवामीय एषा । इन्द्रं मित्रं वरुणम् इत्येतैरभिधानैः अग्निमाहुः सतत्त्वविदः । अथो अपि च यो ऽयमादित्यो दिवि जायते सुपर्णः सुपतनः गरुत्मान् गरणवान् स्तुतिभिस्तद्वान् रसानां वा गरिता आदित्यः । अयमपि स एवाग्निरित्याहुः । किं बहुना । इममेवाग्निम् एकं महान्तमात्मानम् अनन्यत्वेन पश्यन्तो विप्रा मेधाविन आत्मविदो बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमित्येवम् । अन्यैश्चाभिधानैः ।"

(दुर्ग० निरु० भा० ७ । १ ॥)

दुर्गस्यायमभिप्रायः—

१—अग्नेः इन्द्रमित्रवरुणनामानि सन्ति

२—यो ऽयं सूर्यः सोग्निरेवास्ति

३—अयमग्निर्महानात्मा तम् अग्नियममातरिश्वादिनामभिः कथयन्ति।

आख्यातत्रयस्य तथा ऽग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणस्य कारणमजानन्, किमत्र प्रस्तुतमित्यप्यपश्यन्, उद्देश्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेदिति न्यायं चोल्लङ्घयन्, दुर्गो महान्तमात्मानं परब्रह्म विस्मृत्य अग्निमेव महान्तमात्मानं मन्यमान ऋचमपव्याख्याति। अग्निशब्दस्य विद्युदर्थः, अग्निशब्दस्य सूर्यो ऽर्थः, अग्निशब्दस्य सर्वा देवता अर्थः=अग्निशब्दः सर्वदेवतावाचक इति प्रस्तुतं तु दुर्गभाष्ये ऽदृष्टमेव। अग्नेर्बहूनि नामानि, अयं च सूर्यो ऽग्निरेवेत्युभयमप्रस्तुतमेव। वाक्ये चोद्देश्यस्य प्रथमोपादानं भवति तत उत्तरं विधेय उपादीयते। इन्द्रं मित्रं वरुणम् इत्युद्देश्यकोटिगतस्य मन्त्रे प्रथमोपादानम् तत उत्तरम् 'अग्निमाहु इति विधेयोपादानम्'।

दुर्गवृत्तौ तु 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' इति विधेयकोटौ प्रक्षिप्तम् अग्निमित्युद्देश्यकक्षायां निवेशितम्। अतएवाह दुर्गः अग्निम् इन्द्रमित्रवरुणाभिधानैः कथयन्ति। तदसत्। इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निनाम्ना कथयन्ति न तु अग्निम् इन्द्रमित्रवरुणनाम्ना ऽऽहुरिति। पुनश्च दुर्गः अग्निशब्दं विधेयं मत्वा सूर्यं चोद्देश्यं कृत्वा व्याख्याति सूर्यम् अग्निनाम्नाऽऽहुरिति। इममेवाग्निम् अग्निनाम्ना कथयन्ति इति दुर्गवचोऽपि विचित्रमेव। अग्निम् 'अग्निः' इति कथयन्ति किमत्र वैशिष्ट्यम्। दुर्गाश्रयेण व्याख्यातॄणां मुकुन्द झा सीतारामशास्त्र्यादीनां तु का कथा।

(स्कन्दव्याख्या)

इन्द्रं मित्रमित्यृचम् इमं निरुक्तसन्दर्भं च स्कन्दः सविस्तरं प्रशस्तकल्पं व्याख्यातवान् तत्रापि विचार्यते—

"दीर्घतमसः। इन्द्रं मित्रं वरुणं चाग्निमाहुः। अग्निशब्देन ब्रुवन्तीत्यर्थः। परस्तात् तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। अथ शब्दश्चार्थे। पश्चायं दिव्यो दिवि भवः सुपर्णः रश्मिनामैतत्। अन्तर्णीतमत्वर्थः

सुपर्णवानित्यर्थः । शोभनं वा पतनं गमनं यस्य स सुपतनः सुपर्णः आदित्यः । गरुत्मान् गरुत् गरणं भौमानां रसानां रश्मिभिर्गरणं तद्वान् छान्दसत्वात् त भावः गरितेत्यर्थः । अथवा गुर्वात्मा सन् गरुत्मान् । सः द्वितीयार्थे प्रथमा तं चाग्निमाहुरिति सम्बन्धः ।"

(स्कन्द निरु० भा० ७ । १८ ॥)

स्कन्दस्यायमभिप्रायः—इन्द्रं मित्रं वरुणं सूर्यं च अग्निशब्देन ब्रुवन्ति । अग्नि-शब्दस्य इन्द्रमित्रवरुणसूर्या अर्थाः । अग्निशब्दस्येत्येतानर्थान् पूर्वार्द्धर्च आह । अत आह यास्कः तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनायेति । इति पूर्वार्द्धर्चं सम्यग् व्याख्या-तवान् स्कन्दः ।

अथ प्रकरणप्राप्तमुत्तरार्द्धर्चं यास्कव्याख्यातं स्कन्दो विवरीतुं प्रयतते ।

परे ऽर्धर्चे भिन्नं वाक्यम् । किं च एकं सत् कारणमात्माख्यं वस्तु विप्राः मेधाविनः बहुधा बहुभिः प्रकारैर्वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं चाहु-रिति प्रदर्शनमात्रं चेदम् । सर्वैर्हि शब्दैस्तेन तेन विकारात्मनावास्थितः कारणात्मैवोच्यते । एवमस्या ऋचः पूर्वार्द्धर्चे इन्द्रादयो ऽग्निशब्देनो-च्यन्ते इत्येतदाह । परः सर्वशब्दकारणात्मेति ।

(स्कन्द निरु० ७ । १८ ॥)

स्कन्दस्यायमभिप्रायः—संपूर्णे उत्तरार्द्धर्चे "एकं सद्विप्रा बहुधा वद-न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इत्येतस्मिन् एकं महावाक्यम् तद् यथा—विप्रा एकं सत् बहुधा वदन्ति किं तदिति प्रश्न आह अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु-रिति संपूर्ण उत्तरार्द्धर्चः सर्वशब्दकारणात्मानमाहेति । एषा स्कन्दस्यापव्याख्या वस्तुतस्तु उत्तरार्द्धर्चे वाक्यद्वयं वर्तते—

१—विप्रा एकं सत् बहुधा वदन्ति ।

२—अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

इति पूर्वं व्याख्यातम् । अथ स्कन्दो दुर्गव्याख्यामाक्षिपति—

कस्मात् पुनः पूर्वार्द्धर्चं एवं न व्याख्यायते—इन्द्रं मित्रं वरुण-

मग्निमेवाहुरिति । उच्यते । एवं व्याख्यायमाने इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिः प्रदर्शिता स्यात् नाग्निशब्दस्येन्द्रादिषु । अग्निशब्दस्य देवतान्तरेष्वपि प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थमस्या ऋच इहोपादानम् ।

(स्कन्द निरु० ७ । १८ ॥)

स्कन्दस्यायमभिप्रायः—इन्द्रमित्रवरुणनामानि अग्नेरेव इति व्याख्या पूर्वार्द्धर्चस्य कथं न क्रियते[1] । तत्रोत्तरमाह स्कन्दः । यद्येवं व्याख्या पूर्वार्द्धर्चस्य क्रियेत तदा तु इन्द्रमित्रवरुणशब्दा अभिधानानि स्युः अग्निश्चार्थः स्यात् । अग्नेरभिधानस्य नाना ह्यर्था भवन्त्येतद् दृढयितुम् इन्द्रंमित्रमित्यृक् उदाह्रियते । न तु इन्द्रादिशब्दानामग्निरर्थो भवतीत्येतत् प्रतिपाद्यते । एषा स्कन्दकृता दुर्गस्य समीक्षा प्रशस्या ।

पुनश्च स्कन्दो दुर्गमाक्षिपति—

ततश्चेममेवाग्निमित्यादिना न समुदायनिर्वचनं । किं तर्हि ? परस्यैवार्धर्चस्य 'बहुधा वदन्ति' इत्येतस्य विवरणम् । कथं ? एवशब्दो ह्यवधारणार्थे । महान्तमित्येतस्माच्च परो द्रष्टव्यः । यो ऽप्यग्निशब्दात् । एकमात्मानमित्यात्मशब्दो वस्तुवचनः..............

एवं तु परार्धशेषतया सर्वस्मिन् भाष्ये योज्यमाने 'अग्निः सर्वा देवता' इति प्रकृतोदाहरणविषयत्वं भाष्ये न प्रदर्शितं स्यात् । तस्मादिदमेवाग्निमित्यादि वदन्त्यन्तं भाष्यं परार्धर्चस्योदाहरणप्रकारेण विवरणम् । अग्नि चेमं यमं च मातरिश्वानं चेत्येवमादिभिर्वदन्तीति । इन्द्रं मित्रमित्यादि तु पूर्वार्धर्चविवरणमेव द्रष्टव्यम् ।

(स्कन्द निरु० भा० ७ । १८ ॥)

स्कन्दस्यायमभिप्रायः—यः कश्चिद् व्याख्याता[2] 'इन्द्रं मित्रम्' इति समस्तामृचं तद्व्याख्यानभूतम् इममेवाग्निं महान्तमात्मानं बहुधा मेधाविनो वद-

१—एषा दुर्गव्याख्या सा च पूर्वं प्रदीपकारेण समालोचितैव ।

२—इयमपि दुर्गसमीक्षा । दुर्गो हि निरुक्तवृत्तौ समस्तामृचं सर्वं निरुक्तसन्दर्भंचैकवाक्यतामापादयति ।

न्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्" इत्येतं सर्वं निरुक्तसन्दर्भं चैकवाक्यतामापादयति तदसत् । निरुक्ते हि 'इममेवाग्निम् महान्तमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति' इत्येष भागः उत्तरार्धर्चस्य 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इत्येतस्य विवरणम् । "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्" इत्यन्तिमो निरुक्तभागः पूर्वार्धर्चस्य 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्' इत्येतस्य विवरणम् । सर्वस्मिन् निरुक्तभाष्य एकवाक्यतया योज्यमाने तु अस्यैवाग्नेर्महत आत्मन इन्द्रादीनि बहूनि नामानि सन्तीत्यर्थः स्यात् । तच्च प्रस्तुतोदाहरणं न स्यात् । अग्नेर्बहवो ऽर्था इत्येव हि निरुक्ते प्रस्तुतम् । न त्वग्नेर्बहूनि नामानि प्रस्तूयन्ते । तस्मात् समुदायनिर्वचनव्याख्या ऽपव्याख्या । वस्तुतस्तु 'इममेवाग्निम्' इत्यादौ निरुक्ते योऽयमेवशब्दः सः निरुक्तवाक्ये ऽग्निशब्दात् परभूतात् 'महान्तम्' इत्येतस्मात् परो ऽन्वेतव्यः । आत्मशब्दश्च वस्तुवचनः । ततश्च 'महान्तमेव इममग्निं बहुधा मेधाविनो वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुरिति । इति स्कन्दमतम् ।

अत्र हि एकवाक्यताविषया दुर्गसम्बन्धिनी स्कन्दकृता समीक्षा तु प्रशस्ता परं स्कन्दः उत्तरार्धर्चमेकं वाक्यं मन्यते । एव शब्दं च महान्तमित्येतस्मात् परमुपदिशति तदसत् । उत्तरार्धर्चे वाक्यद्वयमित्युक्तं प्राक् । एवशब्दश्च यथास्थितमेव 'इममेवाग्निम्' इत्यनेन भौतिकाग्निमाह । इममेवाग्निं भौतिकमित्यर्थः महान्तं चात्मानं परमात्मानम् उभयमपि मेधाविनो बहुभिर्नामभिर्वदन्ति । महर्षिसंमतैषा व्याख्यैव सत्यार्थप्रदर्शिनी । आख्यातत्रयम् अग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणं च न जानाति न च समाधत्ते स्कन्दो ऽपि ।

ननु "अग्निं चेमं यमं च मातरिश्वानं चेत्येवमादिभिर्वदन्तीति" इत्येतत् स्कन्दभाष्ये तृतीयाख्यातपरमेव प्रतीयते । कथमिदमुच्यते भवता 'आख्यातत्रयम् अग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणं च न जानाति न च समाधत्ते स्कन्दो ऽपीति' उच्यते–स्कन्दः "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यस्य पूरकम् "अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति चतुर्थं पाद मन्यते । अतएव स आह—

१—परे ऽर्धर्चे भिन्नं वाक्यं किं च एकं सत् कारणमात्माख्यं वस्तु विप्रा मेधाविनो बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं चाहुरिति प्रदर्शनमात्रं चेदम् ।

२—परः सर्वशब्दकारणात्मेति ।

३—एवं व्याख्यायमाने इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिः प्रदर्शिता स्यात् ।

४—तस्मादिममेवाग्निमित्यादि वदन्त्यन्तं भाष्यं परार्धर्चस्य उदाहरणप्रकारेण विवरणम् अग्निं चेमं यमं च मातरिश्वानं चेत्येवमादिभिर्वदन्तीति ।

अयमाशयः—उत्तरार्धर्चः सम्पूर्णः सर्वशब्दकारणात्मानमाह । तस्योदाहरण-प्रदर्शनमिदम् अग्निं यमं मातरिश्वानमिति ।

अस्मिन् स्कन्दव्याख्याने नाख्यातत्रयस्य गतिः । 'अग्निं चेमं यमं च मातरिश्वानं च' इत्यस्यार्थस्तु—

इमं महान्तमात्मानम् अग्निं च यमं च मातरिश्वानं चाहुरिति । अन्यथा सन्द-र्भान्तराणां का व्याख्या स्यात् । अथ चाह स्कन्दः "इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृतिः प्रदर्शिता स्यात्"। यदि तृतीयाख्यातरहस्यं स्कन्दो जानाति तदा का हानि-र्यदि इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिः प्रदर्शिता स्यात् । तृतीयाख्यातस्यायमेवार्थो यथा भौतिकाग्निं यममातरिश्वादिनामभिः कथयन्तीति । यमादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिरिति । तस्मात् सत्यमुक्तम् आख्यातत्रयम् अग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणं न जानाति न च समा-धत्ते स्कन्द इति । उभयथा वा व्याख्यातं स्यात् ।

(निरुक्तपाठान्तराणि)

निरुक्तस्य सन्दिग्धपाठो ऽपि भ्रान्तिकारणम् । बहवो निरुक्तहस्तलेखाश्चकार-रहितमेव निरुक्तपाठं लिखन्ति । संपादयन्ति च संपादकास्तादृशमेव । "इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानम्" इति । निरुक्तपाठान्तराणि त्वित्थम्—

क. "इममेवाग्निं महान्तं चात्मानम्"—अयं शुद्धः पाठः निरुक्तप्रधान-संपादकस्य डा० लक्ष्मणस्वरूपस्य । राजवाड़े महोदयस्य च पाठान्तरम् ।

ख. इममेवाग्निं महान्तमेवात्मान०"–महर्षिसंगृहीहस्तलेखपाठो यज्ञाऽऽर्याभिविनयोपक्रमणिकायाम्।

अत्र द्वितीय एवशब्दश्चकारार्थः।

ग. "इममेवाग्निं महान्तमेकमात्मानम्"—स्कन्दपाठः, राजवाडे अनुमितदुर्गपाठश्च।

घ. "इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्"—डा. लक्ष्मणस्वरूपपाठान्तरम्।[1]

ङ. "इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानम्" सायणपाठः राजवाडे पाठश्च।

तत्र "इममेवाग्निं महान्तं चात्मानम्" इत्येव साधीयान् पाठः।

"इममेवाग्निं महान्तमेवात्मानम्" इति वा प्रशस्यतरः पाठः। अत्र द्वितीय एवकारश्चकारार्थः। निरुक्तहस्तलेखाश्च प्रायः पञ्चशतवर्षाभ्यन्तर' लिखिता एवोपलभ्यन्ते। तत्र सांप्रदायिकैश्चकारपाठो लोपित इत्यनुमीयते। दृष्टिपथं नायाति तादृशानां सांप्रतमपि। दुर्गस्कन्दसायणादिपार्श्वे ऽपि चकाररहितपाठ एवासीदिति प्रतीयते। चकाररहितनिरुक्तपाठाङ्गीकारे तु 'इन्द्रं मित्रम्' ऋच आख्यातत्रयासंगतिर्दुर्निवारैव स्यात्।

(अथ निरुक्तपरिशिष्टम्)

"इममेवाग्निं महान्तं चात्मानम्" अयमेव निरुक्तस्य शुद्धः पाठ इत्यत्र निरुक्तपरिशिष्टमेव प्रमाणम्। तथाहि—

अथैतं महान्तमात्मानमेष ऋग्गणः प्रवदति—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इति। अथैष महानात्माऽऽत्मजिज्ञासयाऽऽत्मानं प्रोवाच

१—The manuscripts fall into two groups and for the sake of convenience and brevity, may be called A. and B.— A representing the longer and B the sh rter recension. None of the manuscripts grouped in these two families is earlier than A.D. 1479. —डा० लक्ष्मणस्वरूप

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः०" "अहमस्मि प्रथमजा०" इत्येताभ्याम् ।

(निरुक्त परिशिष्ट १४ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—एतं महान्तमात्मानं परमात्मानमेष ऋक्समूहः प्रवदति । यथा—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः०" । अथैष महानात्मा ऽऽत्मजिज्ञासाहेतुं कृत्वा अहमिति उत्तमपुरुषयोगेन स्वात्मानं वर्णयति द्वाभ्याम् ।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानो ऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥

आरण्यसंहितायामस्या ऋचो भाष्ये सायणाचार्यो ऽप्याह—
परब्रह्मत्वमुक्तं भवति ।

(आरण्यसंहिता ३।२८ सायणभाष्य)

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो ३ऽहमन्नादो ३ऽहमन्नादः । अहꣳ श्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्—

इत्युपक्रम्य—

अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्यो ऽमृतस्य ना३भायि ।
यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमहमन्नमदन्तमा३द्मि ॥

(तैत्ति० उप० भृगु० व० १०)

अस्य विवरणे—महर्षिः स्वयमाह—

इस से ईश्वर के अन्न अन्नाद और अत्ता नाम हैं ।

(सत्या० प्र० शता० भाग १ पृ० ८७)

महर्षेरनुयायिनो ऽपि वेदवेदाङ्गादिव्याख्याप्रसङ्गे महर्षिकृतं व्याख्यानमुपेक्ष्य स्वपाण्डित्यं प्रदर्शयन्ति । उपरितननिरुक्तपरिशिष्टवचसा इन्द्रं मित्रमित्यृग् अध्यात्मपरमप्यर्थमाहेति सुस्पष्टम् ।

(वेङ्कटमाधवव्याख्या)

वेङ्कटमाधवो ऽपि इन्द्रमित्रमित्यृचो भाष्ये आख्यातद्वयमेव व्याख्याति तथाहि—

इन्द्रं मित्रम्। अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निः सर्वा देवताः'। इति तस्येयं भूयसे निर्वचनाय। इन्द्रादींश्च अग्निमाहुः। अथो दिव्यः स सुपतनः गरणवान् आदित्यश्च। एकमेव सन्तमग्निं बहुशरीरपरिग्रहाद् बहुधा वदन्ति। अग्निमेव यमं मातरिश्वानञ्चाहुः।

(वेङ्कटमाधव ऋ० भा० १। १६४। ४६॥)

वेङ्कटमाधवः "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यस्य व्याख्यानम् एकं सन्तमग्निम् इत्येव व्याख्यातवान्। न जानाति स आख्यातत्रयकारणम् अग्नि-शब्दस्य द्विरुच्चारणहेतुं च।

(सायणव्याख्या)

सायणस्तु आदित्यपरामेव सर्वामृचमाह तथाहि--

"अमुमादित्यम् ऐश्वर्यविशिष्टं--इन्द्रमाहुः। तथा मित्रम्--प्रमीतेर्मरणात् त्रातारमहरभिमानिनमेतन्नामकं देवं तमाहुः। वरुणम्--पापस्य निवारकं रात्र्यभिमानिनं देवमाहुः। तथा अग्निम्--अङ्गनादिगुणविशिष्टमेतन्नामकमाहुः। अथो अपि च अयमेव दिव्यः--दिवि भवः सुपर्णः--सुपतनः गरुत्मान्--गरणवान् पक्षवान् वा एतन्नामको यः पक्ष्यस्ति सोऽप्ययमेव। कथमेकस्य नानात्वमिति। उच्यते--

अमुमेवादित्यम् एकम् एव वस्तुतः सन्तं विप्राः--मेधाविनो देवतातत्त्वविदो बहुधा वदन्ति--तत्तत्कारणेनेन्द्राद्यात्मानं वदन्ति। 'एकैव वा महानात्मा देवता स सूर्य' इत्याचक्षते" इत्युक्तत्वात्। किं च तमेव वृष्ट्यादिकारणं वैद्युतम् अग्निम्। यमम्--नियन्तारम् मातरिश्वनम्--अन्तरिक्षे श्वसन्तं वायुम् आहुः। सूर्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्यमुक्तं भवति।

अत्र ये केचिद् 'अग्निः सर्वा देवताः' इत्यादि श्रुतितोऽयमेवाग्निरुत्तरे अपि ज्योतिषी इति मत्वा ऽग्नेरेव सार्वात्म्यप्रतिपादको अयं मन्त्र इति वदन्ति तत्पक्षे प्रथमो ऽग्निशब्द उद्देश्यः तमग्निमुद्दिश्य इन्द्राद्यात्मकत्वकथनम्। अयं मन्त्रो निरुक्त एवं व्याख्यातः--

'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा' ।"

(सायण ऋ० भा० १ । १६४ । ४६ ॥)

एतत् पाण्डित्यं सायणाचार्यस्य यन्मन्त्रगताख्यातत्रयकारणमजानन् सर्वामृचमेकवाक्यतामापादयत् । एकमग्निशब्दम् अङ्गनादिगुणविशिष्टम् अपरमग्निशब्दं वैद्युताग्निपरमाह । विचित्रा संगतिः । पक्षान्तरं च व्याचक्षाण आह—प्रथमोऽग्निशब्द उद्देश्यः । अग्निम् अग्निमाहुरिति तस्याकूतम् । अग्निः अग्निः कथ्यते किमत्रापि सन्देहः । निरुक्तसन्दर्भं च न स्वपक्षपरं मेने सायणः ।

(आत्मानन्दव्याख्या)

अस्यवामीयसूक्ते आत्मानन्दस्य भाष्यं वर्तते । तत्र 'इन्द्रं मित्रम्' ऋचो भाष्यं प्रशस्यनिर्वचनमपि आख्यातत्रयविवेकशून्यमेव । तथाहि—

ननु "चत्वारि[1] वाक्०" इति पदार्थानां नानात्वमुक्तम् । तर्हि द्वैतापत्तिरित्याशङ्क्याह—एकैव देवता परमात्मा सर्वदेवता । एकस्यैव नानानामग्रहणमित्युच्यते । यद्वा "त्रयः[2] केशिनः०" इत्यत्र देवतात्रित्वमुक्तम् । तर्हीन्द्रादयो न काश्चिद् देवता इत्याशङ्क्याह । एकैव देवता परमात्मा सर्वदेवता । एकस्यैव नानानामग्रहणम् । त्रित्वोक्तिस्तु नानादेवतानां त्रित्वसंख्यावरोधार्थं यज्ञादिप्रवृत्त्यर्थं तदुच्यते ।

इन्द्रं परेशमाहुः "[3]अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्०" इत्यादौ ।
मित्रं परेशमाहुः "[4]मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाण०" इत्यादौ ।
वरुणं परेशमाहुः "[5]शतं ते राजन् भिषजः०" इत्यादौ ।
अग्निं परेशमाहुः "[6]त्वमग्ने रुद्रो०" इत्यादौ ।

अथो तथा दिव्यः सूर्यस्तं परेशमाहुः "[7]चित्रं देवानाम्०" इत्यादौ स परेशो गरुत्मान् सुपर्ण इत्याहुः ।

१—ऋ० १।१६४।४५।। २—ऋ० १।१६४।४४।। ३—ऋ० १।३२।२।।
४—ऋ० ३।५९।१।। ५—ऋ० १।२४।९।। ६—ऋ० २।१।६।। ७—ऋ० १।११५।१।।

सौवर्णपक्षममितद्युतिमप्रमेयं छन्दोमयं विविधयज्ञतनुं वरेण्यम् ।
पक्षौ बृहच्च भवतो रथवच्च यस्य तं वैनतेयमजरं प्रणमामि नित्यम् ॥

इदानीम् अग्निं परेशमाहुः । अग्निशब्दोऽत्र नेत्राग्निमतो रुद्रस्य वाचकः "[1]स्थिरेभिरङ्गैः०" "[2]अर्हन् बिभर्षि०" इत्यादौ । यमं परेशमाहुः "[3]त्रिकद्रुकेभिः पतति०" इत्यादौ । मातरिश्वानं परेशमाहुः "[4]आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भोः"। इत्यादौ ।

इन्दतीति इन्द्रः "इदि परमैश्वर्ये" । मितो हिंसायास्त्रायत इति मित्रः । एवं वृणुत इति वरुणः । अङ्गं नयतीति अग्निः "अगि गतौ" णीञ् प्रापणे" गत्यर्था ज्ञानार्थाः । दिवि महापुरुषबुद्धौ द्योतनवत्यां भवो दिव्यः। शोभनो मोक्षपक्षः सुपर्णः । संसारमोक्षाभ्यां गरुद्भ्यां गरुत्मान् । रोदयतीति रुद्रः । स एवाग्रणीत्वाद् अग्निः । यमयतीति यमः । येन रुष्टेन मातरि मायायां क्षिप्तो जीवः श्वेव भवति स मातरिश्वा ।

एकं सद् ब्रह्म विप्रा ब्राह्मणत्वाभिमानिनो यज्ञसिद्धये बहुधाऽभिधानेनेन्द्रादिरूपेणाहुः। योजनान्तरे तु विप्रा मेधाविनस्तत्त्वविदस्तु इन्द्रादिरूपे बहुधा सद् ब्रह्म एकमाहुः। कल्पस्तु--

इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वापि परेशमाहुः ।
विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः ॥
(आत्मानन्द ऋ० भा० १ । १६४ । ४६ ॥)

अस्यवामीयसूक्तभाष्यकारोऽयमात्मानन्द आख्यातत्रयस्य अग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणस्य च कारणमजानन् द्वितीयमग्निशब्दं नेत्राग्निमतो रुद्रस्य वाचकं व्याचष्टे । द्वयोरग्निशब्दयोर्निर्वचनद्वयं कृत्वा तुतोष च वराकः । १--अङ्गं नयतीति अग्निः 'अगि गतौ' 'णीञ् प्रापणे' २—स एवाग्रणीत्वादग्निः । इति ।

(अरविन्दव्याख्या)

अरविन्दमहोदयेन On the Veda नाम्नि ग्रन्थे इन्द्रं मित्रमित्यृग् व्याख्याता । तथाहि--

१—ऋ० २।३३।१०॥ २—ऋ० २।३३।१०॥ ३—ऋ० १०।१४।१६ ४—ऋ० १०।११८।३

"The existent is one" Says the Rishi Dirghatamas, but the sages express it variously; they say Indra, Varuna Mitra, Agni; they call it Agni, Yama Matriswan."

(On the Veda Page 66)

न जानात्यरविन्दमहाभागोऽपि आख्यातत्रयस्य अग्निशब्दस्य द्विरुच्चारणस्य च हेतुम् । They say Agni, They call it Agni ते ऋषयस्तत् सद् 'अग्निम्' कथयन्ति, ते ऋषयस्तत् सद् अग्निनाम्नोच्चारयन्ति कोऽत्र भेदः ।

अपरं च गण्डस्योपरि स्फोटः संवृत्तः—उपरितनेन सन्दर्भेण ज्ञायते यदरविन्दो मन्त्रान् ऋषिनिर्मितान् मन्यते । अनार्ष एष विचारः । अरविन्दस्तु महर्षिभाष्यं प्रशस्य वैदिकविद्वत्समालोचनया स्वात्मानं ररक्ष । वैदिकविद्वांसश्च अयमरविन्दो महर्षिभाष्यप्रशंसक इत्यालोच्य प्रमुग्धाः सन्तोऽनार्षसिद्धान्तप्रलापिनमरविन्दमुपेक्षाञ्चक्रुः । अनेनारविन्देन स्वामीदयानन्दसरस्वती न कुत्रापि 'ऋषिः' 'महर्षि' इत्यादिविशेषणैर्व्यशेषि । स्वात्मानं च ऋषिमुद्घोषयाञ्चकार । अयमरविन्दसंप्रदायो न केवलं मन्त्रान् ऋषिकृतानाह परं ब्राह्मणादिपरम्परागतनिर्वचनान्यपि विलसनादिवत् काल्पनिकानि मन्यते । अन्तर्यागबहिर्यागमिषेण च यज्ञादिशब्दानां निर्वचनान्तराणि लुलोप ।

(ग्रिफिथ व्याख्या)

They call him **इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि** and he is heavenly nobly winged **गरुत्मत् .** To what is one, sages give many a title they call it **अग्नि,यम, मातरिश्वन् ।**

Garutman : the celestial bird, the sun. All these names, say the poet, are names of one and the same divine being, the one supreme sprit under various manifestation.

(R. T. H. Griffith)

(विल्सनव्याख्या)

They have styled (him, the sun) Indra, Mitra, Varuna Agni, and he is the celestial, well-winged Garutmat, for learned priests

call one by many names as they speak of Agni, Yama, Matrishwan.

... ...

the sun is Sayana's interpretation : Yask say Agni, : but they are the same and are the same as all other forms, according to the texts, "Ekaiva va mahan atmā devatā Súryah" the divine sun is the one great sprit; and Agni sarva devtah, Agni is all the divinities.

(H. H. WILSON.)

(जर्मन[1] भाषायां गेल्डनरकृता व्याख्या)

Sie nennen (es) Indra, Mitra, Varuna, Agni, and es ist himmlische Vogel Gurutmat. Was nur das Eine ist benennen die Redekundigen vielfach. Sie nennen es Agni Yama, Matrisvan.

Die vielheit der worte und die Einheit der welt (R. V. 10. 114. 5)

(Karl Friedrich Geldner)

सर्वे एते पाश्चात्या वेदानुसन्धानकर्तारः प्रायः सायणानुकरास्तेषां पृथक् समालोचना पिष्टपेषणमात्रमेव । अत्रेदं वक्तुं युक्तं प्रतिभाति ।

इन्द्रं मित्रमृचो ह्यर्थं सम्यग् वेत्ति कविः[2] स्वयम् ।
यास्को ऽथवा दयानन्दो नेमं[3] स्कन्दो न चेतरे ॥

अथ च—इयमृक् निचृत् त्रिष्टुप् । त्रिष्टुभश्चतुर्ष्वपि पादेषु एकादशाक्षराणि

१—(जर्मनभाषाव्याख्याया आङ्गलभाषायामनुवादः)

They call (it) Indra, Mitra, Varuna, Agni, and it is heavenly bird Garutmat, what only the one is call the wise in many ways They call it Agni, Yama, Matarisvan.

The variety of words and the unity of world.

२—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः०' इत्यत्र प्रतिपादितः परेश्वरः।

३—नेमम्=अर्द्धम् ।

भवन्ति। चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्। इन्द्रंमित्रमृचि तु त्रयश्चत्वारिंशदक्षराणि तस्मादियं त्रिष्टुप् निचृदुच्यते। एकाक्षरोनं छन्दो निचृद् भवति। तथा च छन्दःशास्त्रम्।

"ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ"

(पिङ्गल ३।५६॥)

अस्यायमर्थः—एकेनाक्षरेण न्यूनेन निचृद् भवति। एकेनाक्षरेणाधिकेन भुरिग् भवति। अस्यामृचि तृतीये पादे एकाक्षरन्यूनता तस्मादियं निचृत् त्रिष्टुप्। सा च न्यूनता "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इत्यसन्धिना विश्रम्य पाठेन व्यपेति। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति नित्ये संहितापाठे तु निचृत्त्वैव। किमियं निचृत्ता ऽपि विश्रम्य पाठस्य पृथग् वाक्यस्य द्योतिका विचार्यमेतच् छन्दोरहस्यज्ञैः। अतः परमात्मनो ऽग्न्यादीनि बहूनि नामधेयानि सन्तीत्यस्यापि प्रतिपादिकेयमृक् तस्मादग्निशब्दस्येश्वरार्थत्वे मन्त्रवर्णा एव प्रमाणमिति सम्यगुक्तम्। इन्द्रंमित्रमिति। बृहदुपाख्यातम्। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१॥)

तत्। एव। अग्निः। तत्। आदित्यः। तत्। वायुः।। तत्। ऊँ इत्यूँ। चन्द्रमाः। तत्। एव। शुक्रम्। तत्। ब्रह्म। ताः। आपः। सः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः।

भाष्यम्—(तत्) प्रसिद्धं[1] सच्चिदानन्दादिस्वरूपं सत् (एव) निश्चयेन (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात् प्रकाशकत्वाच्च अग्निपदवाच्यमस्ति। यथा चोक्तं मन्त्रान्तरे "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति०" (तत्) (आदित्यः) प्रलये सर्वस्यादातृत्वाद् आदित्यनामास्ति। (तत्) (वायुः) अनन्तबलत्वसर्वधातृत्वाभ्यां वायुनाम्ना कथ्यते। (तत्) (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूपत्वाद् आह्लादकत्वाच्च चन्द्रमा इति

१—प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते।

नाम्ना प्रसिद्धम् । (तत्) (एव) (शुक्रम्) आशुकारित्वाद् शुद्धभावाच्च शुक्रपदव्यवहार्यं यथा चोक्तम्—

"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते"
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

(कठोपनिषत् २ । २ । ८ ॥)

अस्यायमर्थः—तदेव शुक्रब्रह्मामृतनामभिः कथ्यते तस्मिन् सर्वे लोका आश्रिताः तत् कश्चन कश्चिदपि न अत्येति अतिक्रमितुं न शक्नोति ।
अथ च शुक्रशब्दस्य पुंल्लिङ्गे ऽपि प्रयोगो दृश्यते । यथा—

शुक्रो॑ ऽसि भ्राजो॑ ऽसि । स यथा॒ त्वं भ्राज॑ता
भ्राजो॑ ऽस्ये॒वाहं भ्राज॑ता भ्राज्यासम् ॥

(अथर्व० १७ । १ । २० ॥)

अस्यायमर्थः—हे परमात्मन् त्वं शुद्धभावत्वात् (शुक्रः असि) शुक्रनामासि । प्रकाशस्वरूपत्वात् (भ्राजः असि) भ्राजनामासि । (स यथा त्वं) (भ्राजता) प्रकाशमानेन स्वरूपेण (भ्राजः असि) (एव) एवम् (भ्राजता) प्रकाशमानेन स्वरूपेण (भ्राज्यासम्) प्रकाशमानो भूयासम् । अतः शुक्रशब्दो ऽपि ब्रह्मवाचक इति ध्येयम् । तथा चोक्तं महर्षिणा—

"यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः"

(सत्यार्थप्रकाश श० सं० भा० १ पृष्ठ ६८)

अस्यायमर्थः—यः शुच्यति स्वयं पवित्रो ऽस्ति शोचयति वा स्वसंसर्गेण जीवान् पवित्रयति स शुक्रः ।

(तत्) (ब्रह्म) सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति व्याह्रियते । (ताः आपः) तत् प्रसिद्धं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं सत् सर्वत्र व्यापकत्वात् आप इति प्रोच्यते। (सः उ प्रजापतिः) तदेव च सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात् प्रजापतिनामधेयमस्ति । 'ताः आपः' 'सः प्रजापतिः' इत्युभयत्र तच्छब्दे विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्ग पुंल्लिङ्गता । तदादिप्रयोगे उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोः पर्यायलिङ्गता प्रसिद्धा ।

उवटमहीधरौ मन्त्रमिममपभाषेते तथाहि—

"अग्निः तदेव कारणं ब्रह्म, आदित्यस्तदेव, वायुस्तदेव, चन्द्रमास्तत् (उ) तदेव, उ एवार्थे । शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धं ब्रह्म त्रयीलक्षणं तत् ब्रह्मैव । ताः प्रसिद्धाः आपः जलानि सः प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म ।"

(यजु० महीधर भाष्य ३२ । १ ॥)

अस्यायमर्थः--ब्रह्मविकारभूता एवाग्न्यादयः । अग्निरपि ब्रह्म, सूर्यो ऽपि ब्रह्म, वायुरपि ब्रह्म, चन्द्रमा अपि ब्रह्म, वेदा अपि ब्रह्म, जलमपि ब्रह्म, प्रजापतिनामा यः कश्चिदपि तन्मतेनास्ति सो ऽपि ब्रह्म । अद्वैतप्रतिपादको ऽयं मन्त्र इति तयोराशयः । तत्र विचार्यते--

क. अस्मिन् व्याख्याने विधेयाविमर्शदोषः । मन्त्रे तच्छब्दा उद्देश्यकोटिगता अग्न्यादयश्च विधेयप्रविष्टाः । तत् सत् अग्निनामधेयमस्तीत्यादि हि तत्र विवक्षितम् । अग्निः तदेव आदित्यस्तदेव इत्थं व्यत्यासेनान्वये तु मन्त्रे विधेयस्य तच्छब्दस्य प्रथमं निर्देशः स्यात् उद्देश्यस्याग्न्यादेश्च पश्चादुक्तिः । अयमेव विधेयाविमर्शदोषः । "अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्" इति हि सिद्धान्तः । उवटमहीधरव्याख्याने अनुवाद्यमुद्देश्यमग्न्यादिकमनुक्त्वैव तच्छब्दस्य विधेयस्य प्रथमं मन्त्रे उच्चारणं 'तदेवाग्निः' इत्यादि ।

ख. अथ चास्मिन् मन्त्रे ऽष्टौ तच्छब्दा अष्टौ च नामधेयानि । उवटमहीधरव्याख्याने सप्तैव ब्रह्मविकारभूता अभिप्रेताः शुक्रशब्दस्तु वेदार्थस्य ब्रह्मशब्दस्य विशेषणमात्रमेव । अतएव किंकर्तव्यतामूढाभ्यामुवटमहीधराभ्यां द्वौ तच्छब्दौ ब्रह्मवाक्ये निवेशितौ । एकस्तच्छब्दः प्रसिद्धार्थको व्याख्यातो द्वितीयस्तावत् कारणवाचकः । तथैव तयोर्व्याख्यानम्--शुक्रं=शुक्लं तत्= प्रसिद्धं ब्रह्म=त्रयीलक्षणं तत्=ब्रह्मैव" अत्रैकस्मिन् वाक्ये द्वौ तच्छब्दौ निवेशितौ । इमं दोषं मनसि ध्यायन् सायणाचार्यः तैत्तिरीयारण्यकव्याख्याने शुक्रशब्दं नक्षत्रवाचकं मन्यते । तथाहि—

"शुक्रं दीप्यमाननक्षत्रादिकं······तदेवाधिष्ठानरूपमेव"

(तै० आ० सायणभाष्य १०।१।१॥)

ग. तथाचास्मिन् व्याख्याने द्वौ तच्छब्दावध्याह्रियेते––ताः प्रसिद्धा आपः जलानि तदेव कारणम् । सः प्रसिद्धः प्रजापतिः तदेव कारणम् । इति हि तयोरन्वयः।

घ. नचास्मिन् मन्त्रे कारणशब्दस्य प्रयोगो येनार्थः स्यात् अग्निस्तदेव कारणमित्यादि । न च 'जज्ञे' इत्यादिक्रियापदस्योक्तिः यतो हि अग्निस्तस्मात् कारणात् जातः इति व्याख्यानं भवेत् । अस्तिभवती तु सर्वत्रानुक्ते अपि गम्येते । तत्=सत् अग्निः=अग्निनामास्ति इति हि सुव्याख्यानम् ।

ङ. अन्यत्र 'आहुः' 'उच्यते' 'वदन्ति' इत्यादिपदानां प्रयोगस्तु दृश्यते तथाहि—

"तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।"

(तै० आ० १० । १ । १॥)

"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते"

(कठोप० २ । ८ ॥)

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"

(ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥)

इत्यादि ।

ननु "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः" इति वत् "तदापस्तत्प्रजापतिः" इति पाठे तु महर्षिकृतं व्याख्यानं सुसंगतं स्यात् ।' 'ता आपः स प्रजापतिः" इति पाठस्तु ता आपः स प्रजापतिः तदेव कारणमित्यर्थमेव प्रत्याययति । अत्रोच्यते—

तस्मिन् व्याख्याने पञ्च दोषा असमाधेया प्रदर्शिताः । अथ च शृणु । मन्त्राणां पाठान्तराणि व्याख्यानानि भवन्ति । यथा—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति

(ऋ० १० । ७१ । ६॥)

यस्तित्याज साखिविदं सखायं । न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।

(तै० आ० १ । ३ । १॥)

इत्यत्र 'सचिविदम्' इति ऋग्गतस्य पदस्य तैत्तिरीयारण्यके 'सखिविदम्' इति व्याख्यानम् । तथैव––

ता आपः स प्रजापतिः (यजु० ३२ । १ ॥)

तदापस्तत्प्रजापतिः (काण्व० ३५।३।१॥)

तदापस्तत् प्रजापतिः (तै० आ० १०।१॥)

इत्यत्र 'ताः' 'सः' पदयोर्व्याख्यानं 'तत्' इति स्पष्टम्। तत् सत् 'आप' इति नामधेयमस्ति, तत् सत् प्रजापतिनामकमस्ति। इति हि तैत्तिरीयारण्यककाण्वसंमतं महर्षेर्व्याख्यानम्। ताः=प्रसिद्धाः, सः=प्रसिद्धः इति कुव्याख्यानमेव।

ननु भवताऽपि तत् सत् नामधेयम् इति कृत्वा सत् नामधेयपदावाक्षिप्तौ। सत्यम्। मन्त्रेषु 'आहुः' 'उच्यते' 'वदन्ति' 'एकं सद् विप्रा बहुधा' इत्येतेतेषां विवरणमात्रमेव सत्नामधेयपदौ न त्वाक्षिप्येते।

तथा च—

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।
इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः॥
तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रममृतं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥ (तै० आ० १०।१॥)

अस्यायमर्थः—कवीनां परमं सर्वोत्तमं कविरूपं यत् ब्रह्मास्ति यच्च इष्टं, पूर्तं बहुधा जातं पूर्वकल्पोत्पन्नं जायमानं वर्तमानं च विश्वं विभर्त्ति, यच्च भुवनस्य नाभिभूतमस्ति तत् ऋत–सत्य–अग्नि–वायु–सूर्य–चन्द्रमस्–शुक्र–अमृत–ब्रह्म–अप्–प्रजापतिनामधेयमस्ति। इत्यत्र ऋत सत्य शुक्र अमृतादिशब्दा नामधेयपरा एव सुसंगताः।

अथ च 'तदेवाग्नि०' मन्त्रेण ज्ञाप्यते यथा—

तदादिशब्दप्रयोगे उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोः पर्यायलिङ्गता[2] भवति। ब्रह्मणश्च

१— तैत्तिरीयारण्यके 'स प्रजापति' 'तत्प्रजापतिः' इत्युभयमपि पाठभूतं हस्तलेखेषूपलभ्यते। वैदिककंकाडँससंमतः पाठस्तु 'तत्प्रजापतिः' इत्येव। स हि काण्वसंमतः पाठः।

२— क्वचिदुद्देश्यप्राधान्याल् लिङ्गम् क्वचिच्च विधेयप्राधान्यात् लिङ्गं भवति यथा— छन्दःसंख्या नाम्नी संक्षिप्ता सूची छन्दोऽनुक्रमण्याः परिशिष्टं ज्ञेयम्। छन्दःसंख्या नाम्नी संक्षिप्ता सूची छन्दोऽनुक्रमण्याः परिशिष्टं ज्ञेया। इत्युभयमपि साधु। अत्र सूची उद्देश्यं परिशिष्टं च विधेयं वर्तते। उद्देश्यसूचीप्राधान्यमाश्रित्य स्त्रीलिङ्गता, विधेयपरिशिष्ट-प्राधान्यमाश्रित्य नपुंसकलिङ्गता।

लिङ्गत्रये ऽपि नामानि भवन्तीति च । तथा चोक्तं महर्षिणा—

"ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति"

(सत्यार्थ० प्र० श० सं० भा० १ पृ० १०२)

अस्यायमर्थः—परमात्मनो त्रिषु लिङ्गेषु नामानि भवन्ति ब्रह्मेत्यादि नपुंसकलिङ्गे चितिरित्यादिकं स्त्रीलिङ्गे ईश्वर इत्यादिनामानि पुंलिङ्गे ।

यजुः सर्वानुक्रमणी च भवति —

"आत्मदैवतः । ब्रह्म स्वयंभ्वैक्षत"

अस्यायमर्थः—'तदेवाग्नि०' मन्त्रस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । आत्मा देवता । तदेवाग्नि० मन्त्रो व्याख्यातः ।

महर्षेरुभयोर्भाष्ययोर्निर्दिष्टानि प्रमाणान्तराणि पदार्थप्रदीपे व्याख्यास्यन्ते । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(अग्निम्) परमेश्वरम् ।

(महर्षिभाष्यम् १ । १ । १ ॥)

अथाग्निशब्दनिर्वचने महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम्--

"सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः......."अञ्चु गतिपूजनयोः", "णीञ् प्रापणे", "अगि गत्यर्थः", "इण् गतौ", इत्यादिधातुभ्यो ऽग्निशब्दः सिध्यति ॥ अञ्चति अच्यते=जानाति ज्ञायते, गच्छति गम्यते सत्करोति=पूजयति, सत्क्रियते=पूज्यते । नयति=प्राप्नोति, नीयते=प्राप्यते धर्मात्मा जनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्यादिव्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते ॥

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् ऋ० १ । १ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—अञ्चति जानाति सर्वज्ञ इत्यर्थः[1] । अच्यते ज्ञायते वेदादिशास्त्रैः[1] । अञ्चति गच्छति यो हि सर्वत्र गतो ऽस्ति सर्वव्यापक इत्यर्थः[2] । अच्यते गम्यते प्राप्यते सर्वत्र[2] । अञ्चति सत्करोति पूजयति धर्मात्मनो जनस्यादरं करोतीत्यर्थः[3] । अच्यते पूज्यते विद्वद्भिः[3] । अञ्चति नयति प्राप्नोति[4] यः सर्वाणि सुखानि प्राप्तो ऽस्ति पूर्णकाम इत्यर्थः । अच्यते नीयते प्राप्यते[4] विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्च सर्वसुखप्राप्त्यर्थम् । (अगि) "अङ्गेर्नलोपश्च" उणा० ४।५२॥ इत्यगिधातोर्निप्रत्यये धातुनकारलोपे अग्निशब्दः सिध्यति । अगि+नि, अन् ग्+नि, अग्+नि=अग्निः । अयं नि प्रत्ययः कर्तरि कर्मणि च । तथा चोक्तं दशपाद्युणादिवृत्तौ—

"अङ्गेर्नलोपश्च"..................कर्ता कर्म च ।

(दशपाद्युणादिवृत्तिः १।२०॥)

(अञ्चु) अयं निप्रत्ययो बाहुलकाद् अञ्चतेरपि भवति । अञ्च+नि, वर्णलोपेन अच्+नि, वर्णव्यापत्त्या[5] परोक्षेण अग्+नि=अग्निः ।

अञ्चतेः इकारो वा नामकरणः[6] । अञ्च्+इ, अन् च्+इ, वर्णविपर्ययेण अच् न्+इ, वर्णव्यापत्त्या[5] अग् न्+इ=अग्निः ।

(णीञ्) "णीञ् प्रापणे" इत्यस्मात् तु अग्रोपपदात् १४१ पृष्ठे व्याख्यातम् । अग्र+णी क्विप्, अग्रशब्दस्य अग् भावः णी धातोर्ह्रस्वत्वं च अग्+नि=अग्निः । अस्य मूलं निरुक्ते ७।१४॥

(इण्) "इण् गतौ" इत्यस्मादपि अग्रोपपदादेव । अग्र+इ वर्णलोपेन[7] अग्+र्+इ, वर्णव्यापत्त्या[8] परोक्षेण अग्+न्+इ=अग्निः । अग्रे एतीति अग्निः । अस्य मूलं शतपथे—

१—गतेस्त्रयो ऽर्था भवन्ति । ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति । इयं व्युत्पत्तिर्गतेर्ज्ञानार्थे ।
२—गतेर्गमनार्थे व्युत्पत्तिः ।
३—अञ्चु धातोः पूजनार्थे व्युत्पत्तिः ।
४—गतेः प्राप्त्यर्थे व्युत्पत्तिः ।
५—व्यापत्तिर्वर्णान्तरेण विकारः चकारस्य गकारभावेनेत्यर्थः ।
६—नामकरणः प्रत्यय इत्यर्थः ।
७—अग्रशब्दस्यान्त्याकारलोपेनेत्यर्थः ।
८—रकारस्य नकारेणेत्यर्थः ।

"यो वै पूर्व एत्यग्रऽएतीति वै तमाहुः सो एवास्याग्निता"

(शतपथ० २।२।४।२॥)

"स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्नि-रित्याचक्षते परोक्षम्।"

(शतपथ० ६।१।१।१।११॥)

ननु अग्रोपपदात् नी धातोर्ह्रस्वत्वे, अग्रोपपदात् इण् धातोर्वा क्विप् प्रत्यये तुक्, क्विन् प्रत्यये कुत्वेन, विजादिषु च गुणेन भाव्यम्। अत्रोच्यते "**आगमशास्त्रमनित्यम्**" इति तुको निवृत्तिः। "**संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः**" इति गुणादिबाधः। अजन्तस्य न कुत्वम्। औणादिके क्विपि बाहुलकात् तुगभावः। तथा च वर्णानीतिः।

"**अर्तिकिरत्योः कलोपश्च" अनयोः क्विप् कृधातोः कलोपश्च। ऋ ऋ। क्विपः पित्वेऽपि बाहुलकात् ऋ धातो र्न तुक्।**

(वर्णानीति २ सूत्र)

स्कन्दस्तु निरुक्तभाष्ये डिप्रत्ययमपि मन्यते—

"**नीः नयतिः परो डि प्रत्ययान्तः**"

(स्कन्द निरु० भा० ७।१४॥)

लैटिनभाषायां Ignis इगनिस्" शब्दः।

अग्निर्व्याख्यातः।

कीदृशमग्निं परमात्मानम् (**यज्ञस्य होतारम्**) (**यज्ञस्य**) विदुषां सत्कारस्य, सत्सङ्गतेः, विद्यादिदानस्य च। '**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**' अस्माद् धातोः "**यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्षो नङ्**" (शब्दानु० ३।३।६०॥) इति भावे नङ्। यजनं यज्ञ इति। देवपूजा=विद्वत्सत्कारः देवानां पूजा देवपूजा देवैः कृता वा पूजा देवपूजा। महर्षिभाष्ये '**विदुषां सत्कारः**' इत्यत्र कर्तरि कर्मणि वा षष्ठी। "**यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः**" (निरु० ३। १९॥)। अस्यायमर्थः—प्रख्यातं प्रसिद्धं यजतिकर्म यजधातोरर्थो लोके वेदे च। तद्वाचकात् यजधातोर्भावे यज्ञशब्दो निरुच्यत इति नैरुक्ता आहुः।

१—शतपथे ऽधोरेखया उदात्तः स्वर्यते।

तथा च (यज्ञस्य) महिम्नः "याच्ञो भवतीति वा" (निरु० ३।१६॥) अस्यायमर्थः—अपरश्च यज्ञशब्दो ऽस्ति स याच धातोः सिध्यति । 'टुयाचृ याच्ञायाम्' अस्माद् धातोः "यज याच् यत०" (शब्दानु ३।३।६०॥) इति नङ्प्रत्यये याच्ञा शब्दः सिध्यति । याच्ञा अस्यास्तीति याच्ञः । "अर्श आदिभ्योऽच्" (शब्दानु० ५।२।१२७॥) इति मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । याच्ञा + अ = याच्ञः । याच् + ञः, याज् + ञः, यज् + ञः = यज्ञः । वर्णव्यापत्त्या परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते । यद् वा याच धातोः कर्मणि नङ्प्रत्यये याच् + नः, यच् + नः, यज् + नः = यज्ञः । वर्णव्यापत्त्या परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते । योहि याच्यते स यज्ञः महिमेत्यर्थः । महिमा हि प्रार्थनीयो भवति । "यज्ञो वै महिमा" (शत० ६ । ३ । १ । १८ ॥) इत्यादि ब्राह्मणं भवति ।

तथा च (यज्ञस्य) कर्मणः "यजूंष्येनं नयन्तीति वा" (निरु० ३।१६॥) अस्यायमर्थः—अपरश्च यज्ञशब्दोऽस्ति स यजुः पूर्वात् 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् धातोः कर्मणि क्विपि सिध्यति । यजुस् + नी + क्विप्, यज् + नी, यज् + नः । वर्णलोपेन वर्णव्यापत्त्या च परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते । अत्रायं भावः । एनं = कर्मरूपं यज्ञं यजूंषि = यजुर्वेदमन्त्रा आदित आरभ्य समाप्तिं नयन्ति = समाप्तिपर्यन्तं वर्णयन्तीत्यर्थः । ऋग्वेदे ज्ञानं, यजुर्वेदे कर्म, सामवेद उपासना, अथर्ववेदे विज्ञानम्, एष हि वेदानां विषयक्रमः । यो हि यजुर्भिर्नीयते स यज्ञः कर्मेत्यर्थः । "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शत० १।५।१।५॥) इत्यपि ब्राह्मणं भवति ।

तथा च (यज्ञस्य) अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य । "यजुरुन्नो भवतीति वा" (निरु० ३।१६॥) अस्यायमर्थः—अपरश्च यज्ञशब्दोऽस्ति स यजुः पूर्वात् 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्माद् धातोः कर्मणि क्तप्रत्यये सिध्यति । यजुः + उन्द् + क्त, यजुः + उन्नः, यज् + न्नः, यज् + नः = यज्ञः । वर्णलोपेन वर्णव्यापत्त्या च परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते । अत्रायं भावः । अयं हि अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तो यज्ञो यजुर्भिः = यजुर्वेदमन्त्रैः उन्नः = क्लिन्नः परिपूर्ण इत्यर्थः । एषु अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेषु यज्ञेषु भूयांसो यजुर्वेदमन्त्रा अल्पशश्चान्ये । तथा चाह-"व्यृद्धमु वाऽएतद् यज्ञस्य

२२

यद्यजुष्केण क्रियते" (शत० १३।१।२।१॥) अस्यायमर्थः—यज्ञस्य यत् = कर्म अयजुष्केण = यजुर्वेदमन्त्रैर्विना क्रियते = संपाद्यते वै = निश्चयेन एतत् = यज्ञस्य कर्म व्यृद्धम् = विगतर्द्धिकम् । यो हि यजुर्भिः उक्तः स यज्ञः अग्निहोत्रादिरूप इत्यर्थः ।

तथा च (यज्ञस्य) विद्याविज्ञानयोगादेः सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य । "बहु-कृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः" (निरु० ३ । १६॥) अस्यायमर्थः—अयम् यज्ञशब्दोऽस्ति सोऽजिनशब्दात् "अर्श आदिभ्योऽच्" (शब्दानु० ४ । २। १२७॥) इति मत्वर्थीयेऽच् प्रत्यये सिध्यति । यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वानभिधीयते सोऽर्शआदिगणे द्रष्टव्यः । अजिन+अ, अ+ज्+इ+न्+अ+अ, इ+अ+ज्+न+अ, य+ज्+नः = यज्ञः । वर्णलोपेन वर्णविपर्ययेण वर्णव्यापत्त्या च परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते अत्रायं भावः —योगादौ बहूनां कृष्णाजिनानामुपयोगो दृश्यते । ब्रह्मचारिणोऽपि अजिनवन्तः, योगिनोऽपि अजिनवन्त इत्येवमादयः। अजिनान्यत्र सन्तीति स यज्ञो योगादिरूपः इत्यर्थः । "कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः" (शत ६।४।२।६) "स (ब्रह्मचारी) यन्मृगाजिनानि वस्ते तेन तद् ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे" (गो० पू० २।२॥) "एतद् (कृष्णाजिनं) वै प्रत्यक्षं ब्रह्मवर्चसम्" (ताण्ड्य० १७।११।८॥) इत्यादि ब्राह्मणं भवति ।

तथा च (यज्ञस्य) अस्य जातस्य जगतः प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारण-संगत्योत्पन्नस्य । "स यज्ञ् जायते तस्माद् यञ्जः । यञ्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञ इति ।" (शत० ३।६।४।२३॥) अस्यायमर्थः—अपरश्च यज्ञशब्दोऽस्ति स शङ्न्तेण धातुपूर्वात् डप्रत्ययान्तात् जनिधातोः सिध्यति । यन्+ज+य+ज+न्+अः = यज्ञः । वर्णविपर्ययेण वर्णव्यापत्या च परोक्षेण यज्ञ इत्युच्यते। अत्रायं भावः इदं हि दृश्यमानं जगत् जातं वस्तु न नित्यः पदार्थः किन्तु कार्यकारणसंगत्योत्पद्यते[1] । यो हि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकरणसंगतिं यन्-गच्छन् प्राप्नुवन् जातः स यज्ञ जगदित्यर्थः ।

१—"कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। वैशेषिक अ० २, आ० १, सू० २४॥ इति कार्यकारणसंगतिः।

एवं यज्ञशब्दस्य विभिन्ननिर्वचनानां पृथक् पृथगर्थां भवन्ति । यजधातोः संगतिकरणमर्थमादायापि विद्याविज्ञानयोगादिः, जगत्, विद्यादिदानं चार्थो भवितुमर्हन्ति ।

सति चैवं षण्णां यज्ञशब्दानां १—विद्वत्सत्कारो विद्वत्कृता पूजा च, २—सत्संगतिः, ३—विद्यादिदानं, ४—महिमा, ५—कर्म, ६—अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तो यज्ञः, ७-विद्याविज्ञानयोगादिः ८—जगत् इत्याद्यभिधेयार्था भवन्ति ।

प्रतिनिर्वचनं वस्तुभेदो भवति तत्र विचार्यते—

(एकस्य शब्दस्यानेकनिर्वचनविवेचनम्)

ननु कथमेकस्य शब्दस्यानेकस्य निर्वचनस्य संभवः ? अत्र केचिदाहुः-परोक्षातिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु नियतनिर्वचस्यानवधारणादेवमुच्यते यथा—

"लक्ष्मीर्लाभाद् वा लक्षणाद् वा लाञ्छनाद् वा लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः लग्यतेर्वास्यादाश्लेषकर्मणः लज्जतेर्वास्याद्श्लाघाकर्मणः"

(निरु० ४।६॥)

अत्र न ज्ञायते एषां कतमो धातुर्लक्ष्मीशब्दे । अन्यतमानवधारणात् संभाविता अनेके धातवः प्रदर्श्यन्ते । तथा चात्राह स्कन्दः—

अन्यतमावधारणे कारणाभावादेकस्य शब्दस्यानेकनिर्वचनस्य संभवः तत्प्रदर्शनं च-एतावतां धातूनामभिधेयाः क्रिया अयं शब्दः प्रतिपादयितुं समर्थ इत्येतस्य प्रतिपादनार्थम् ।

(स्कन्द निरु० भा० ।।१।।)

दुर्गोऽप्याह—

विशेषलक्षणव्यवस्थाभावात् । न हि तत्र विशेषलक्षणव्यवस्था काचिदस्ति ययैकोऽवतिष्ठेत अन्ये व्यावर्तेरन् ।

(दुर्ग निरु० भा० १।।।)

डाक्टर विल्सनादयः पाश्चात्यास्तदनुयायिनो ऽरविन्दसिद्धेश्वरवर्मादयश्च तु यास्कनिर्वचनानि काल्पनिकान्येवाहुः । यथाऽऽह विल्सनः—

Agni—A great variety of etymologies are devised to explain the meaning of the term Agni, the most of which are ovcously fanciful.

(विल्सनट्रांसलेशन ऋ. १।१।१॥)

अस्यायमर्थः—अग्निशब्दस्यार्थान् व्याचष्टुमनेका व्युत्पत्त्यो निरूप्यन्ते तासां बह्वयो व्युत्पत्त्यः काल्पनिका एव ।

अरविन्दो प्याह—

To rely entirely on the traditional and often imaginative rendering of the Indian Scholars is impossible for any critical mind.

(On the Vedas Page 56)

अस्यायमर्थः—कस्यापि समालोचकस्य मनः सर्वां प्राच्यशब्दार्थपद्धतिं सम्यग् विश्वसेदित्संभवम् ।

सिद्धेश्वरवर्माप्यत्र प्रजगाद—

Etymology of yaska is nonsense.

(Elymologies of yaska Page 10)

अस्यायमर्थः—यास्कनिर्वचनं प्रलापमात्रम् ।

अत्रोच्यते—निर्वचनशास्त्रे प्रयुक्तो वा शब्दः समुच्चयार्थो न तु सन्देहार्थः। यथाऽऽह यास्कः—(निरु० १।४॥)

"अथापि समुच्चयार्थे भवति 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा'[1] इति"

अस्यायमर्थः—अयं वा शब्दः समुच्चयार्थोऽपि । यथा 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' अत्र वायुश्च त्वा मनुश्च त्वा इत्यर्थः । तथैव "याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा०" इत्यादेरयमर्थः—यज्ञशब्दो न केवलं यज धातोरेव प्रत्युत याचधातोरपि यजुः पूर्वाद् उनत्तेरपि निष्पन्न इत्यादि योज्यम् ।

वस्तुतो भिन्नानामपि सरूपाणां शब्दानां समानाकृतित्वादेको ऽयं शब्द इति प्रतीतिस्तस्मादिदमुच्यते एकस्य शब्दस्यानेकानि निर्वचनानि । तत्रानेकेषां

1—तै० स० १।७।७।२॥

शब्दानामनेकानि निर्वचनानि भवन्ति। भिन्नप्रकृतिनिष्पन्नो ऽपि भवत्यविसंवादी शब्दो यथा चकारेति करोतिकिरत्योः'।

तत्र 'चकार' 'चकार' इति भिन्ने द्वे पदे समानाकृतित्वाच्च 'चकार' इत्येकं पदमिति प्रतीतिः। तद्वत् यज्ञः यज्ञः यज्ञः यज्ञः यज्ञः यज्ञः इति षड् यज्ञशब्दाः सन्ति तत्र समानाकृतित्वाद् एको यज्ञशब्द इति प्रतीतिः। तस्मादिदं प्राकृतैरुच्यते एकस्य यज्ञशब्दस्य षण् निर्वचनानि। वस्तुतस्तु ते षड् यज्ञशब्दाः। तत्र षट्सु यज्ञशब्देषु एको यज्ञशब्दो यजधातोरुत्पद्यते तस्यार्थो 'देवपूजादयः'। द्वितीयो यज्ञशब्दो 'याच' धातोरुत्पन्नस्तस्यार्थो 'महिमा'। तृतीयो यज्ञशब्दो 'यजुः' पूर्वान् 'नी' धातोर्जायते तस्यार्थः 'कर्म'। चतुर्थो यज्ञशब्दो 'यजुः' पूर्वाद् 'उन्दी' धातोर्जातस्तस्यार्थः अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तो यज्ञः। पञ्चमो यज्ञशब्दः 'अजिन' शब्दान् निष्पद्यते तस्यार्थः 'विद्याविज्ञानयोगादिः'। षष्ठो यज्ञशब्दो 'यन्' पूर्वाज् 'जनी' धातोर्निष्पन्नस्तस्यार्थः 'जगत्'[२]। एवं प्रतिनिर्वचनं वाच्यं वस्तु भिद्यते। प्रतिनिर्वचनं शब्दाश्च भिन्ना इत्याचार्यमतम्।

ननु 'अर्थभेदेन शब्दभेदः,' 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इति प्रसिद्ध एव सिद्धान्तो नेदं भवता नवीनमुच्यते शब्दा अपि भिद्यन्ते इति। सत्यम्। व्यक्तिपक्षेण स सिद्धान्तः प्रसिद्धः। वयं तु पक्षान्तरे ऽपि एतादृशं शब्दभेदं मन्यामहे।

एतेन 'निर्वचनानि विकल्पतो दत्तानि' इति वदन् सिद्धाञ्जनभाष्यकारो ऽरविन्दशिष्यः कपालिरपि[२] परास्तः। अथ च दुर्गस्कन्दसायणादयस्तु सरूपशब्दानां सर्वाणि निर्वचनानि एकस्मिन्नेव वाच्ये वस्तुनि संगमयन्ति। यथा यज्ञाग्निरेव अग्रणीः स एव दग्धादित्यादिविशेषणयुक्तः तथा च यज्ञ एव यजुरुन्नः तत्र यज्ञ एव यज्वा क्रियते स यज्ञ एव यजुर्भिर्नीयते स यज्ञ एवाजिनवान्। तथा च दुर्गः।

"याच्ञो भवतीति वा याच्यते ह्यत्र......अथवा यजुर्भिरयं उन्नः क्लिन्न इव भवति बहुत्वादत्र यजुषाम् - अथवा बहुकृष्णाजिन

१—'चकार' इति पदं 'डुकृञ् करणे' इत्यस्मादपि परोक्षे लिटि निष्पद्यते 'कृ विक्षेपे' इत्येतस्मादपि परोक्षे लिटि भवति। अविसंवादी समानाकृतिरित्यर्थः।

२—ऋग्वेदसिद्धाञ्जनभाष्यम् १।१ १॥ पृष्ठ १३॥

इत्यौपमन्यवः यद्यदत्र दृश्यते प्रतिविशिष्टं साधनं किंचित् तत् कृष्णाजिनमिति यज्ञः। सोमे तावदजिनद्वयं यजमाने ऽप्याजिनद्वयं ...... अथवा यजूंष्येनमुपक्रमादारभ्यान्तं नयन्तीति यज्ञः।

(दुर्ग निरु० भा० ३।१६॥)

सर्वे एते भाष्यकारा सर्वेषां निर्वचनानामेकस्मिन्नर्थे संगमने स्वपाण्डित्य-प्रदर्शनं कुर्वन्ति। अपारोवर्यविदो हि ते। पारोवर्यविन् महर्षिः। स तु निर्वचन-बाहुल्याद् वस्तुभेदं प्रदर्शयति। तथैव महर्षिदृशा ऽस्माभिर्यज्ञशब्दो व्याख्यातः। अग्निशब्दनिर्वचनेष्वप्याह महर्षिः—

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात् तस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादितिविशेषणाद् भौतिकस्यापि।

(महर्षिभाष्यम् ऋ. १।१।१॥)

अस्यायमर्थः—अग्रपूर्वान् नी धातोर्निष्पन्नो योऽग्निशब्दः स ईश्वरवाचकः। अथ च द्वितीयो ऽग्निशब्दो यस्मिन् दह धातुरप्यस्ति स भौतिकाग्निवाचकः। उभावपीमौ अग्निशब्दौ वस्तुतो भिन्नौ। समानाकृतित्वाच्च एको ऽग्निशब्द इति प्रतीतिः तयोर्वाच्ये वस्तुनी अपि भिन्ने एव।

एते च शब्दा एकधातुजा द्विधातुजाः त्रिधातुजा इत्यादिरूपेण नाना-विधाः सन्ति। यथा भौतिकाग्निवाचको ऽग्निशब्द त्रिभ्यो धातुभ्यो निरुच्यते। तथा चाह यास्कः।

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्, अक्ताद् दग्धाद् वा, नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः।

(निरु० ७।१४॥)

अस्यायमर्थः—एको ऽग्निशब्दस्त्रिभ्यो धातुभ्यो जायते। तस्मिन्नग्निशब्दे 'अयनम्' इत्यादौ ल्युडन्तादिरूपेषु दृष्टः 'इण्' धातोरकारः अग् इत्यादौ क्विबन्तादि-रूपेषु दृष्ट 'अञ्जु' धातोर्गकारः 'नी' धातुश्च परः। अथवा इणधातोरकारः

'धग्' 'दग्धम्' इत्यादिक्विवन्तक्तान्तादिरूपेषु दृष्टो दह धातोः गकारः 'नी' धातुश्च परः । अ+ग्+निः=अग्निः । यो हि एति पृथिव्यादिषु व्याप्नोति अनक्ति रूपाणि दहति वा, नयति च हवींषि देवेभ्यो यस्मिन् भौतिकाग्नौ हुतं हविरादिकं वाय्वादिभ्यो देवेभ्यो गच्छति अथवा वाष्परूपेण परिणतो ऽग्निर्वहति यानानि सो ऽग्निर्भौतिकः । बृहद्देवतायां चोक्तम् ।

धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम् ।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥
धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव च ।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥

(बृहद्देवता २।१०३, १०४।।)

अस्यायमर्थः—धातूनाम् उपसर्गाणाम् अवयवानां गुणानां=लाक्षणिकार्थानां शब्दा ध्वनयो यस्मिन् तत् निर्वाच्यलक्षणं पदं निर्वाच्यानि निर्वक्तुं योग्यानि लक्षणानि व्याख्या यस्मिन् तादृशं पदम् एकधातुजं द्विधातुजं बहुधातुजं च भवति । पदे धातुध्वनिर्यथा यज्ञशब्दे यज याच् प्रभृतीनां धातूनां ध्वनयो वर्तन्ते । पदे उपसर्गध्वनिर्यथा उस्त्रिया शब्दे उत् उपसर्गस्य ध्वनिः । पदे अवयवध्वनिर्यथा—अ+उ+म्=ओमित्यत्र अग्निशब्दावयवस्य अकारस्य ध्वनिः उत्कर्षशब्दावयवस्य उकारस्य ध्वनिः मिनोतेर्धातोरवयवस्य मकारस्य ध्वनिः पदे लाक्षणिकार्थस्य ध्वनिर्यथा कुशलशब्दे कुशादानलक्षितस्य चातुर्यार्थस्य ध्वनिः ।

एकधातुजं पदं यथा—'यज्ञः' । द्विधातुजं पदं यथा—'मिथुनम्' अत्राह यास्कः—

मिथुनौ कस्मात् मिनोतिः श्रयतिकर्मा थु इति नामकरणस्थकारो वा नयतिः परः वनिर्वा ।

(निरु० ७।२९)

अस्यायमर्थः—मिथुन शब्दे थुः थकारो वा प्रत्ययो मध्ये वर्तते 'मी' धातुः पूर्वभागे विद्यते परभागे च 'नी' धातुः वनिधातुर्वा । तस्मादिदं पदं द्विधातुजं भवति । बहुधातुजं पदं यथा—'अग्नि' शब्दः इण् धातोः अञ्जु धातोर्दह धातोर्वा तथा नीधातोर्निरुच्यते ।

एतादृशानि च पदानि पञ्चविधानि भवन्ति धातुजं=यथा यज्ञादयः शब्दाः ।

धातुजाज्जातम् धातोर्जातं धातुजं=यथा दद धातोः दण्डशब्दस्तस्माद् धातुजात् दण्डशब्दाज् जातं दण्ड्यपदम् । दण्डमर्हतीति दण्ड्यः । समस्तार्थजपदं= यथा—जगद्वाचको यज्ञशब्दः यन् ज इति यज्ञ उच्यते ।

वाक्यजं पदं=यथा 'इति ह आस' इतिहासशब्दः । व्यतिकीर्णं पदं=यथा हृ+द+य=हृदयम्[1] । अ+उ+म्=ओ३म् । तथा चोक्तम्—

अकारः प्रथमा मात्रा-आप्तेरादिमत्वाद् वा
उकारो द्वितीया मात्रा-उत्कर्षादुभयत्वाद् वा
मकारस्तृतीया मात्रा-मितेरपीतेर्वा

(माण्डूक्योप० ९-११)

अस्यायमर्थः—ओंकारे वर्णत्रयं विद्यते अ उ म् । अकारः 'आप्' धातोः आदिशब्दस्य च ह्रस्वभूतो ऽकारः । उकार उत्कर्षशब्दस्य उभयशब्दस्य च। मकारो मितिशब्दस्य अपीतिशब्दस्थस्य पकारस्य मकारभूतस्य च ।

अयं भावः—अवयवा अवयविनामर्थं गमयन्ति । यथा अग्निशब्दे स्थिता अ ग् नि अवयवा अयनम् दग्धम् नीतम् इत्याद्यवयविनामर्थं गमयन्ति प्रपञ्चितमिदं प्राक् । यथा च हृदयशब्दे स्थिता हृ द य अवयवा हरति ददाति एत्यवयविनामर्थं गमयन्ति[1] । यथा च "तवाभिधानाद् व्यथते नताननः"[2] अत्र 'त' 'व' अवयवौ तार्क्ष्यवासुकिनाम्नोरवयविनोरर्थं गमयतः "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्" इति हि सिद्धान्तः । यथा चाङ्गलभाषाप्रकारे VIBGYOR[3] शब्दे स्थिता सप्ताङ्गलभाषाक्षरा क्रमशः Violet, Indigo, Blue, Green, Yellow, Orange, Red शब्दानामर्थं गमयन्ति तथा NEWS[4] शब्दे स्थिता चत्वार आङ्गलभाषाक्षरा North, East, West, South शब्दानामर्थं गमयन्ति । तथोङ्कारे स्थिता अ उ म् वर्णा अवयविनामर्थं गमयन्ति । तदित्थम्—

१—शतपथ १४ काण्ड ६ प्रपाठक । बृहदारण्यकोप० ४ प्रपाठक ७ ब्राह्मण ।

२—किरातार्जुनीयम् १।२४।

३—Violet=पाटलवर्णः । Indigo=श्यामवर्णः । Blue=नीलवर्णः । Green= हरितवर्णः । Yellow=पीतवर्णः । Orange=नारंगवर्णः । Red=रक्तवर्णः ।

४—North=उत्तरदिशा । East=पूर्वदिशा । West=पश्चिमदिशा । South= दक्षिणदिशा । सर्वदिग्भ्यः प्राप्तं वृत्तं News समाचार इत्यभिधीयते ।

अ + उ + म् = ओ३म्, इत्यत्र अकारो विराडग्निविश्वादिनाम्नाम्, उकारो हिरण्यगर्भवायुतैजसादिनाम्नाम्, मकारश्च ईश्वरादित्यप्राज्ञादिनाम्नां वाचको ग्राहकश्च। तस्य चायं प्रकारः। अकारः 'आप्' धातोः आदिशब्दस्य च ह्रस्वभूतस्याद्यवयवः, उकारः उत्कर्षशब्दस्य उभयशब्दस्य चाद्यवयवः, मकारः मितिशब्दस्याद्यवयवः, अपीतिशब्दस्थस्य पकारस्य मकारभूतस्य च मध्यावयवः इत्युक्तं प्राक्। अस्य विवरणं तत्रैव माण्डूक्योपनिषदि। तथाहि—

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। स्वप्नस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

(माण्डूक्योप० ३—५)

पादा मात्रा मात्राश्च पादाः।

(माण्डूक्योप० ८)

अस्यायमर्थः—यथा जीवस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयोऽवस्था भवन्ति तथा ब्रह्मणोऽपीमास्तिस्रोऽवस्थाः कल्प्यन्ते। तत्र (जागरितस्थानः) जाग्रतावस्थास्थितो जीवः (बहिःप्रज्ञः) बहिर्विषया प्रज्ञा यस्य सः। तथैव स्थूलसृष्टिं रचयतो विराड्ब्रह्मणो जाग्रतावस्था। (सप्ताङ्गः) शिरः, नाभिः, पादौ, चक्षुषी, श्रोत्रे, प्राणः, मुखम्, इति सप्ताङ्गानि यस्य स जीवः। तथा विराड्ब्रह्मणोऽपि—

'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' (यजु० ३१, म० १३)
'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्' (यजु० ३१, म० १३)
'पद्भ्यां भूमिः' (यजु० ३१, म० १३)
'चक्षोः सूर्यो अजायत' (यजु० ३१, म० १२)
'दिशः श्रोत्रात्' (यजु० ३१, म० १३)

'वायुश्च प्राणश्च' (यजु० ३१, म० १२)
'मुखादग्निरजायत' (यजु० ३१, म० १२)

अस्यायमर्थः—ब्रह्मणो द्युलोकः शिर इव, अन्तरिक्षं नाभिरिव, भूमिः पादाविव, सूर्यश्चक्षुषी इव, दिशः श्रोत्रे इव, वायुः प्राणा इव, ब्रह्माण्डाग्निश्च मुखमिव। अथवा—

"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्वरूपः, प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा, सन्देहो बहुलः, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादौ" (छान्दोग्योप० ५। १८। २॥)

अस्यायमर्थः—एतस्य परमात्मनो (सुतेजाः) द्युलोकः (मूर्धा) मूर्धस्थानीयः (विश्वरूपः) सूर्यः (चक्षुः) चक्षुःस्थानीयः (पृथग्वर्त्मात्मा) वायुः (प्राणः) प्राणस्थानीयः (बहुलः) आकाशः (सन्देहः) मध्यकायस्थानीयः (रयिः) जलम् (वस्तिः) मूत्राधारस्थानीयः (पृथिवी) भूमिः (पादौ) पादस्थानीया। इति सप्ताङ्गानि यस्य सः।

(एकोनविंशतिमुखः) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः मनो बुद्धिश्चित्तमहंकार इत्येकोनविंशतिमुखो जीवः इत्येतेषां च कारणानि विराड्ब्रह्मण एकोनविंशतिर्मुखानि। यथा महत्तत्त्वैकाशाद् बुद्धिर्निर्मीयते सर्वं महत्तत्त्वं ब्रह्मणो बुद्धिरित्यादि योज्यम्। (स्थूलभुक्) स्थूलं जगत् भुङ्क्ते जीवः स्थूलं जगत् रचयते ब्रह्म। सो ऽयं (वैश्वानरः) विश्वानर एव वैश्वानरः स्वार्थे अण्। विश्वानरः=विश्वान् अरः[1] सर्वान् यानीन् प्रति गन्तुं समर्थो जीवः ब्रह्मापि वैश्वानरः। विश्वान् पदार्थान् अरः व्याप्तः। वैश्वानरो विश्व इत्यनर्थान्तरम्—

"विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वा ऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्ट स विश्व ईश्वरः"
(सत्यार्थ० प्र० समु० १ श० सं० भाग १ पृ० ६१)

१—"वैश्वानरः कस्मात्। विश्वान् नरान् नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वान् अर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः। (निरु० ७।२१॥) 'अपि वा विश्वान् जन्तून् अरः 'ऋ गतौ' इत्यस्य छान्दसत्वाद् भूते पचाद्यच्। उपपद विभक्तेश्चालुक्। एव शब्दोऽवधारणार्थे' (निरु० स्कन्द भाष्य ७।२१॥)

अकार आदिशब्दस्य ह्रस्वभूतस्याद्यवयवः। आद्यवस्था जागृतावस्था विराड् ब्रह्मेत्यर्थः स्थूलब्रह्माण्डस्य रचयिता परमेश्वरो विराडित्युच्यते। तथा चोक्तं परमर्षिणा—

यो विविधं नाम चराचरं जगद् राजयति प्रकाशयति स विराट्।

(सत्यार्थ० प्र० समु० १ श० सं० भाग १ पृ० ९०)

अग्निशब्दस्य चाद्यवयवो ऽकारः। तस्मादकारो ऽग्निवाचको ऽपि। अवयवा अवयविनामर्थं गमयन्तीति सिद्धान्तात्। अतः साधूक्तम्—

"अकारेण विराडग्निविश्वादीनि … एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः"

(पञ्चमहा० श० सं० भाग १ पृ० ८६५)

आदिशब्दाच्च—आप् धातोर्ह्रस्वभूत आद्यवयवो ऽकारः सर्वव्यापकविश्वादि-नाम्नां वाचकः। आदिशब्दस्य ह्रस्वभूतस्याद्यवयवो ऽकार आदिमूलं कारणम् इत्यादिनाम्नां वाचकः।

अथोकारमात्रा प्रपंच्यते—

(स्वप्नस्थानः) स्वप्नावस्थामापन्नो जीवः (अन्तः प्रज्ञः) चित्रित पट इव मनो ऽन्तर्विषयज्ञानं स्वप्ने कुर्वन् वर्तते। ब्रह्मापि अवान्तरप्रलयदशायां सर्वप्राणिनां सर्वतत्त्वानां च प्रलयाभावात् अर्द्धसुप्तमिवावशिष्टस्य धारणपालनादि कुर्वत् स्व-स्वरूप एव ध्यानावस्थितमिव कल्प्यते। तत्र जीवस्य ब्रह्मणश्च तान्येव सप्ताङ्गानि एकोनविंशतिश्च मुखानि भवन्ति अतः (सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः) इत्युच्यते। (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्मभोगी जीवः। सूक्ष्मभूतैः कार्यं कुर्वद् ब्रह्म। (तैजसः) स्वप्रकाशो बाह्यविषयशून्यो जीवः। अवान्तरप्रलयेष्वपि सूर्यादीनां प्रकाशकं ब्रह्म। तथा चोक्तम्—

"सूर्यादीनां प्रकाशकत्वात् स्वयं प्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः"

(पञ्चमहा० श०सं०भाग १ पृ० ८६)

उकार उभयशब्दस्याद्यवयवः । उभयो मध्यस्थ इत्यनर्थान्तरम् तथा चोक्तं शंकराचार्येण—

"अकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारः" (माण्डूक्योप० १० शांकरभाष्यम्)

मध्यावस्था स्वप्नावस्था । अवान्तरप्रलयदशायां ब्रह्म स्वस्वप्नावस्थायां हिरण्यगर्भो भवति । तथा चोक्तम्—

"हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य तथा सूर्यादीनां तेजसां यो गर्भो ऽधिष्ठानं स हिरण्यगर्भः ।"

(पञ्चमहा० श० सं० भाग १ पृ० ८६६)

वायुशब्दस्य चान्तिमो ऽवयव उकारः । तस्मादुकारो वायुवाचको ऽपि । अवयवा अवयविनामर्थं गमयन्तीति सिद्धान्तात् । तस्मात् साधूक्तम्—

"उकारेण हिरण्यगर्भ वायु तेजसादीनि .... एतदाद्यर्था उकाराद् विज्ञेयाः"

(पञ्चमहा० श० सं० भाग १ पृ० ८६६)

आदिशब्दाच्च—उत्कर्षशद्वस्याद्यवयव उकारः अद्वितीयः अनुपमः इत्यादिनाम्नां वाचकः । उभयशब्दस्य चाद्यवयव उकारो मित्रः अद्वेष्टा समः समानः इत्यादिनाम्नां वाचकः ।

अथ मकारमात्रा प्रपंच्यते—

(यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते) यस्यां सुषुप्त्यवस्थायां स्वस्वरूपमापन्नो न कांचित् कामनां कुरुते । (न कंचन स्वप्नं पश्यति) (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त्यवस्थामापन्नो जीवः (एकीभूतः) नासौ स्थूलशरीरे चेष्टते न च सूक्ष्मशरीरे तदा ऽस्य वृत्तय एकत्रिता इव भवन्ति । (प्रज्ञानघनः एव) ज्ञानस्वरूप एव तस्य स्वाभाविकत्वात् । (आनन्दमयः) आनन्दबहुलः (चेतोमुखः) चेतनस्वरूपः (प्राज्ञः) आत्मस्वरूपज्ञानवान् भवति । तथैव ब्रह्मणोऽपि सा सुषुप्त्यवस्था कल्प्यते। यत्र तत् स्वस्वरूपमात्रस्थितम् (न कंचन कामं कामयते) प्रजापतिरकामयत

प्रजायेय' इति कामनाविरहितः (न कंचन स्वप्नं पश्यति) न च सूक्ष्मभूतेष्वपि कृतव्यापारम् ईश्वरः स्वामी इत्येव स्थितं सत् ज्ञानस्वरूपमानन्दस्वरूपं भवति । तथा चोक्तम्—

"य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् भवति"

(सत्यार्थ० प्र० समु० १ श० सं० भाग १ पृ० ६१)

अपीतिशब्दस्य पकारो मकारीभूतः ओङ्कारस्यान्तिमो वर्णः । अपीतिः अप्ययः अन्तिम इत्यनर्थान्तरम् । अन्तिमावस्था सुषुप्त्यवस्था यत्र परमेश्वरः ईश्वरः स्वामी इत्येवावभासते ऽतो मकार ईश्वरवाचकः । तत्र प्राज्ञ इत्येवातः मकारः प्राज्ञ-वाचकः । मित्रार्थमादिनाम्नामादित्यार्थानां चावयवोऽपि मकारः । ततो मकार आदित्यवाचक तादात्म्यसम्बन्धेनेश्वरवाचकः[1] । एवं मकार ईश्वरादित्यप्राज्ञादिनाम्नां वाचकः अवयवा अवयविनामर्थं गमयन्तीति सिद्धान्तात् । तस्मात् साधूक्तम्—

मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नाम्नानि बोध्यानि ······ ····एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्याऽध्येयाश्च ।

(पञ्चमहा० श० सं० भाग १ पृ० ८६६)

आदिशब्दाच्च—अपीतिशब्दस्थः पकारो मकारीभूतः । अपीतिः अप्ययः नाश इत्यनर्थान्तरम् । मकारः प्रलयकर्त्रादिनाम्नां वाचकः । मितिशब्दस्य च मकारः । मितिः परिमितिर्ज्ञानं वा परिमित्यर्थमादाय मकार ब्रह्मादिनाम्नां वाचकः ज्ञानार्थमादाय मकारः सर्वज्ञादिनाम्नां वाचकः ।

"अकारः प्रथमा मात्रा · · · । उकारो द्वितीया मात्रा · · · मकारस्तृतीया मात्रा" (माण्डूक्योप० ९—११) इत्यत्र मात्रा शब्दः पादवाचकः । "पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (माण्डूक्योप० ८) इत्युक्तत्वात् । अकारः प्रथमः पादः उकारो द्वितीयः पादो मकारस्तृतीयः पादः इत्यर्थः ।

जागरितस्थानो विराट् ब्रह्म—वैश्वानरः प्रथमः पादः— अकारः ।

१—महर्षिप्रोक्तादित्यार्थे ऽनुसन्धेयम् ।

स्वप्नस्थानो हिरण्यगर्भो ब्रह्म—तैजसो द्वितीयः पादः—उकारः।
सुषुप्तस्थान ईश्वरो ब्रह्म — प्राज्ञस्तृतीयः पादः— मकारः।

अत्रेदमप्यवबोद्धव्यम् । ब्रह्मणस्तुरीयावस्था त्वव्यपदेश्याऽशब्दव्यवहार्या नोङ्कार-शब्दविषया ।।

अथाहुः—अकारो विराडग्निविश्वादिनाम्नां वाचको ग्राहकश्च । उकारो हिरण्यगर्भवायुतैजसादिनाम्नां वाचको ग्राहकश्च । मकारश्च ईश्वरादित्यप्राज्ञादिनाम्नां वाचको ग्राहकश्च । अत्र किमिदं वाचकत्वं ग्राहकत्वं च। शृणु—अकारो विराट् शब्दस्य प्रथमं वाचकस्ततो विराट्शब्द ईश्वरार्थं ग्राहयति । एवं सर्वत्र योज्यम्। उक्तं च महर्षिणा—

अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि, उकार स हिरण्य-गर्भ वायु और तैजसादि, मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है ।

(सत्यार्थ० प्र० समु० १ श० सं० भाग १ पृ० ८५)

सन्ध्यापद्धतिमीमांसायामस्माभिः सर्वमिदं विस्तरतः प्रपञ्चितम् ।

अत्र अ+उ+म्=ओ३मिति व्यतिकीर्णशब्दोदाहरणं व्याख्यातम् । यज्ञ-शब्दश्च धातुजः समस्तार्थजश्च । तादृशस्य यज्ञस्य । यज्ञस्येति व्याख्यातम्।

(होतारम्) दातारम्, अत्तारम्-भक्षकं ग्रहीतारमित्यर्थः, आदातारम्-ग्रहीतारं स्वीकर्तारमित्यर्थः यद्वा आदातारम्-ग्रहीतारम् आधारभूतमित्यर्थः यद्वा आदातारम्-ग्रहीतारं संहर्तारमित्यर्थः 'जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः' (निरु० ७।१५।।) 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके' इत्यस्माद् धातोः 'तृन्' (शब्दानु० ३।२।१३५) इति तृन् । 'दाने' इत्यर्थमभिप्रेत्य 'दातारम्' इत्यर्थः ।

ननु हु धातोर्दानार्थस्य प्रक्षेपार्थमाहुः स च प्रक्षेपो यज्ञे हविषः प्रक्षेपः कथमत्र होतारम्-दातारमित्याह महर्षिः । यथाऽऽह दीक्षितः ।

दानं चेह प्रक्षेपः। स च वैधे आधारे हविषश्चेति स्वभावाल् लभ्यते। (वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी जुहोत्यादिगणे)

सायणाचार्योऽप्याह—

हु दानादनयोः। दानादानयोरित्यन्ये। आत्रेयस्तु हु दाने इति पठित्वा आदाने चेत्येके इति ··· इह दाने चोदिताधारे त्यक्तहविःप्रक्षेप इति···तथा च 'तृतीया च होश्छन्दसि' इत्यत्र भाष्ये जुहोतिः प्रक्षेपे वर्तत इत्युक्तम्। (माधवीयायां धातुवृत्तौ जुहोत्यादिप्रकरणे।)

सत्यम्। लोकैकचक्षुषो[1] हि ते। हु धातोस्तु दानम्, आदानम्, अदनम्, प्रक्षेपः, प्रीणनम् इति पञ्चार्थाः न तु दानस्यैव प्रक्षेपोऽर्थः। तथा चोक्तं कविकल्पद्रुमे—

हुलि होमे अदने। होमो देवतासंप्रदानकवह्न्यधिकरणरूपवस्तुत्यागः "जुहोति घृतमग्नौ कृष्णाय होता"। प्रक्षेपेऽप्ययं "चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्" इति रघुः। "जटाधरः सन् जुहुधीह पावकम्" इति किराते प्रीणनार्थोऽपि। (कविकल्पद्रुमः)

पातञ्जलमहाभाष्ये तु 'तृतीया च होश्छन्दसि' इति सूत्रविषयसंगतमर्थद्वयमुक्तम्। तथाहि—

जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्तते। अस्ति प्रीणात्यर्थे वर्तते। तद्यथा तावद् यवागूशब्दात् तृतीया तदाऽग्निहोत्रशब्दो ज्योतिषि[2] वर्तते जुहोतिश्च प्रीणात्यर्थे। तद् यथा। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। अग्निं प्रीणाति। यदा यवागूशब्दाद् द्वितीया तदाऽग्निहोत्रशब्दो हविषि वर्तते जुहोतिश्च प्रक्षेपणे। तद् यथा। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। यद् यवागूं हविरग्नौ प्रक्षिपति।

(पातञ्जलमहा० २।३।३॥)

अस्यायमर्थः—जुहोतेः प्रयोगे तृतीया भवति द्वितीया च। यवाग्वा ऽग्निहोत्रं जुहोति यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। तत्रैव योज्यम् – अग्निहोत्रशब्दस्य हविः अग्नि-

१—यथा लोके प्रसिद्धिस्तदनुसर्तार इत्यर्थः।

२—ज्योतिषि अग्नौ इत्यर्थः।

श्चार्थः । तत्र जुहोतेश्च प्रक्षेपः प्रीणनं चार्थः । तृतीयाप्रयोगे ऽग्निहोत्रशब्दस्य 'अग्निः' अर्थः जुहोतेश्च प्रीणनमर्थः । यवाग्वा ऽग्निहोत्रं जुहोति यवाग्वा ऽग्निं प्रीणाति । द्वितीयाप्रयोगे ऽग्निहोत्रशब्दस्य 'हविः' अर्थः जुहोतेश्च प्रक्षेपो ऽर्थः । यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति । यवागूं हविः प्रक्षिपतीत्यर्थः । नह्यनेन सन्दर्भेण जुहोतेरर्थान्तराणां निषेधः । भवन्ति जुहोतेः दानम् आदानम् अदनम् अप्यर्थाः । यथा ऽऽह देवराजयज्वा निघण्टुभाष्ये उदकनामसु—

हविः हु दानादनयोः "अर्चि शुचि हु सृ भिच् छुदि च्छर्दिभ्य इसिः" (उणा० २ । १०१) इति इसि प्रत्ययः । दीयते पिपासितेभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय ।

(निघण्टु १ । १२ ॥)

अस्यायमर्थः—हविःशब्द उदकनामसु पठ्यते । जुहोतेः इसिप्रत्यये हविः शब्दः सिध्यति । हूयते दीयते पिपासितेभ्यो यद्वा हूयते आदीयते जनैरुपभोगाय इति हविः । नह्यत्र देवतोद्देश्यकस्य अग्न्यधिकरणकस्य हविषः प्रक्षेपो लभ्यते । तस्मात् सत्यमाह महर्षिः होतारम् दातारमिति ।

अथ च 'अदने' इत्यर्थमभिप्रेत्य अत्तारं भक्षकं ग्रहीतारं संहर्तारम् इत्यर्थः । आदाने इत्यर्थमभिप्रेत्य आदातारम्—स्वीकर्तारम् आधारभूतम् संहर्तारम् इत्यर्थः । तत्रैवं योजना कार्या—

(यज्ञस्य) विदुषां सत्कारस्य, सत्सङ्गते, विद्यादिदानस्य, महिम्नः, विद्याविज्ञानयोगादेः, अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य यज्ञस्य (होतारम्) दातारम् । (यज्ञस्य) जगतः (होतारम्) अत्तारं भक्षकं ग्रहीतारं संहर्तारम् । तथा चाह व्यासो वेदान्तसूत्रे—

'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वेदान्त १ । २ । ६ ॥)

अस्यायमर्थः—कठोपनिषदि पठ्यते **'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः'** (कठोप० १।२।२४॥) अत्र ओदनेन कश्चिदत्ता प्रतीयते स च अत्ता जीवो ऽपि संभाव्यते ऽग्निश्च । **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** (मुण्डकोप० ३ । १ । १ ॥) **'अग्निरन्नादः'** (बृहदारण्यकोप० १।४।६॥) इति चोक्तेः न तु परमात्मा **'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'** (बृहदारण्यकोप० ३ । १ । १ ॥)

इत्युक्तेः । तत्र सिद्धान्तमाह—अत्ता ऽत्र परमात्मा न तु जीवो वा ऽग्निर्वा । ब्रह्म च क्षत्रं च ओदनः । चराचरोपलक्षकमेतत् । चराचरस्य सर्वस्य जगतो ऽत्ता संहर्ता ब्रह्मैव नान्यः कश्चित् जीवो वा ऽग्निर्वा ।

(यज्ञस्य) विद्वत्कृतस्य सत्कारस्य, पूजायाः—उपासनायाः, अस्मत्कृतस्य श्रेष्ठस्य च कर्मणः (होतारम्) आदातारं ग्रहीतारं स्वीकर्तारम्, (यज्ञस्य) वर्तमान-समये सर्वस्य जगतः (होतारम्) आदातारम् आधारभूतम् प्रलयकाले च सर्वस्य जगतः आदातारम् ग्रहीतारं संहर्तारम् । यज्ञस्येति षष्ठया विरहितस्य होतारमिति केवलस्य पदस्य (होतारम्) जगते सर्वभोग्यपदार्थानां दातारम्, मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानां ग्रहीतारम् । अत्रायं भावः—परेशकृपयैव विदुषां सत्कारो भवति । सत्सङ्गतेः विद्यादिदानस्य, विद्याविज्ञानयोगादेः, महिम्नश्च प्राप्तिस्तत्कृपयैव जायते । स एवाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य यज्ञस्य कर्त्तव्यस्य च कर्मणो वेदोपदेशे-नोपदेष्टा स एव भगवान् अस्मत्कृतामुपासनां श्रेष्ठं च कर्म स्वीकरोति । स एव जगतो धर्ता संहर्ता च । स एव जीवेभ्यः सर्वं वस्तु ददाति तस्यैव चानन्दे मुक्ता विचरन्ति । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(होतारम्) दातारमादातारं वा

(महर्षिभाष्यम् ऋ० १।१।१॥)

(होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थाना दातारम् । मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम् । वर्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतम होतारम् । "हु दानादनयोः । आदाने चेत्येके"। अस्माद् धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते । अदनं भक्षणं न, किन्तु चराचरस्य जगतो ग्रहणं तत्कर्ता परमेश्वरो ऽत्तेत्युच्यते । अत्र प्रमाणम् । 'अत्ता चराचर-ग्रहणात्' इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् अ० १।पा० २।सू० ६॥

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् ऋ० १ । १ । १ ॥)

यज्ञस्य होतारमिति व्याख्यातम् । पुनरग्निं परमात्मानं विशिनष्टि ।

१—ग्रहीतारं स्थितिकर्तारं पालकमित्यर्थः ।

(पुरोहितम्) यः पुरः—पुरस्तात्—सृष्टेः प्राक् स्थितं सर्वं जगत्=परमाण्वादिरूपं दधाति धारयतीति तं पुरोहितम्, अथ च पुरः—पुरस्तात्=सर्वदेहधारिणामुत्पत्तेः पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन दधाति=धारयति पुष्णातीति तं पुरोहितम्, तथा पुरः—पुरस्तात्=स्वभक्तानां धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति धारयति पुष्णातीति तं पुरोहितम्, सर्वाधारं सर्वपोषकं चेत्यर्थः। पुरः पूर्वात् "डुधाञ् धारणपोषणयोः" अस्माद् धातोः "आदिकर्मणि निष्ठा" (वा० ३।२।१०२॥) इत्यादिकर्मणि निष्ठा "आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च" (शब्दानु० ३।४।७१॥) इति कर्त्तरि क्तः। ब्रह्मणः कालनिरपेक्षत्वाच् छन्दसि च कालसामान्यविधित्वादादिकर्मता ज्ञेया।

ननु यत्रादिकर्मणि कर्तरि क्तस्तत्र प्रोपसर्गेणावश्यं भाव्यं यथा—प्रकृतः कटं देवदत्त इति। अनैकान्तिकमेतत्।

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते॥

(महाभाष्य ७।४।४६॥)

इत्यत्रादिकर्मणि अवदत्तादयो ऽपि दृश्यन्ते। न च—
"आदिकर्मग्रहणं प्रदत्तशब्दस्यैव संभवाद् विशेषणम्"

(कैयटः)

"आदिकर्मणीत्येतत् प्रदत्तमित्येतस्य विशेषणं नेतरेषामसंभवात्"

(हरदत्तः)

इत्युक्तिभ्यां कथमिदं संगच्छते आदिकर्मणि अवदत्तादयो ऽपि दृश्यन्त इति। उच्यते—आदिकर्मणीति सर्वेषामवदत्तादीनां विशेषणं न तु प्रदत्तमित्येतस्यैव तथा चाह न्यासकारः—

"आदिकर्मणीति च सर्वेषां विशेषणं न तु प्रदत्तमित्येतस्यैव"

(न्यासः)

अत एव "एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः"

(नागानन्द ३।१५॥) इत्यादिकविवचनेषु 'याताः' इत्यादावादिकर्मता सिध्यति ।

अस्यायमर्थः—एते सिद्धास्तवाज्ञां प्राप्य इतो मलयप्रदेशात् युद्धाय याता गन्तुं प्रवृत्ता इति । परमात्मन इयमेवादिकर्मता यथा स प्राणिसृष्ट्या सहैव सर्वपदार्थोत्पत्तिं वेदाविर्भावं च कर्तुं प्रवर्तते ।

"पुरोहितः पुर एनं दधति"

(निरु० २।१२॥)

अस्यायमर्थः—अयं पुरोहितशब्दः पुरः पूर्वाद् दधातेः कर्तरि कर्मणि च सिध्यति । न च "पुर एनं दधति" इत्यनेन कर्मैवोच्यते न कर्तेति वाच्यम् । एनमित्यन्वादेशेनोभयोः कर्तृकर्मणोरुक्तत्वात् । यथा—"देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति" (निरु० २।१२॥) इत्यत्र एनमित्यन्वादेशेन कर्ता कर्म चोच्यते । देवा एनं शृण्वन्ति—देवैर्यः श्रूयत इत्यर्थः सो ऽपि देवश्रुत्, देवान् यः शृणोति श्रावयति वा सो ऽपि देवश्रुत् । तथाहि—(देवश्रुतः) या देवान् शृण्वन्ति ताः । (यजु० भा० ६।३०॥) इति स्वभाष्ये महर्षिः कर्तृनिष्पन्नतामाह । 'हे देवश्रुतौ ! देवान् श्रावयत इति देवश्रुतौ' (शत० भा० ३।४।३।१४) इति स्वभाष्ये सायणो ऽपि कर्तृनिष्पन्नं देवश्रुत् शब्दमाह । अपारोवर्यविदौ दुर्गस्कन्दौ तु "देवश्रुतं देवैः श्रुतम्" इति कर्मण्येवाहतुः । अत्राह महर्षिर्भ्रान्तिनिवारणे—

वहां अन्वादेश इसी अभिप्राय में है ..... 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि' इस से आदिकर्म विषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्ता में सिद्ध है । (भ्रान्तिनिवारण शताब्दी संस्करण भाग २ पृष्ठ ६११)

भवन्ति हि बहवः शब्दाः कर्तृकर्मोभयनिष्पन्ना यथा—

वैश्वानरः कस्मात् । विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा" (निरु० ७।२१॥) तथैव यो जगदीश्वरः पुरः पुरस्तात् सर्वं जगत् दधाति सो ऽपि पुरोहितः, तमेनं सर्वे भक्ताः स्वहृदये दधति—सर्वैश्च भक्तैर्बनेयो हृदये धीयत इत्यर्थः सो ऽपि पुरोहित इति कर्तरि कर्मणि च पुरः पूर्वाद् दधातेः क्तः ।

अत्रेयं नैरुक्ती व्यवस्था—यत्राभिधेयनिर्देशोत्तरं निर्वचनोक्तिस्तत्रान्वादेशो यास्केन प्रयुक्तो निर्वचनबहुत्वे वा । यथा—"ओषधिः सोमः सुनोतेः । यदेनमभिषुण्वन्ति" निरु० ११ । २ ॥ इत्यादिष्वभिधेयनिर्देशोत्तरं निर्वचने ऽन्वादेशप्रयोगः । समुद्रः कस्मात् । समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । समभिद्रवन्त्येनमापः" (निरु० २।१०॥) "अद्रिरादृणात्येनेन । अपि वात्तेः स्यात्" (निरु० ४।४॥) इत्यादिषु निर्वचनबहुत्वे ऽन्वादेशप्रयोगः । "पुरोहितः पुर एनं दधाति" (निरु० २।१२॥) "देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति" (निरु० २।१२॥) इति निरुक्ते द्वयोः प्रयोगयोर्नाभिधेयनिर्देशोत्तरं निर्वचननिर्देशः कर्तृनिर्वचनस्य चास्वीकारे न निर्वचनबहुत्वम् । ततः कर्तृकर्मोभयनिष्पन्नतयैव "एनं दधाति" "एनं शृण्वन्ति" इत्यन्वादेशः संगच्छते । ननु अप्वा यदेनयापविद्धो ऽपवीयते" (निरु० ६।१२॥) "पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन" (निरु० ३।२१॥) इत्यादिनिरुक्ते नाभिधेयनिर्देशोत्तरं निर्वचनप्रयोगो न चात्र निर्वचनबहुत्वम् । अत्रोच्यते—"अप्वा" इत्यत्र "अनवगतम्" इति हि वर्तते । "पिनाकम्" इत्यत्र च "रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य" इत्यनुवर्तते ।

महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(पुरोहितं) पुरस्तात् सर्वं जगद् दधाति ।

(ऋ० भा० । १ । १ । १ ॥)

(पुरोहितः) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति स पुरोहितः परमात्माऽग्निः । 'डु धाञ् धारणपोषणयोः' अस्मात् पुरः पूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात् पुरोहितशब्दः सिध्यति । अत एव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः ।

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यं ऋ० १ । १ । १ ॥)

पुरोहितो व्याख्यातः । पुनरग्निं परमात्मानं विशिनष्टि । **(देवम्)** सुखानां दातारम्, सर्वस्य जगतो द्योतकम्—प्रकाशकम्, स्वभक्तानां मोदकम्—हर्षकरम्,

शत्रूणां मनुष्याणाम्—अधर्मान्यायकारिणां कामक्रोधादीनां च विजिगीषकम्—विजयेच्छया पूर्णम्, सर्वैर्विद्वद्भिः कामनीयम्—प्रार्थनीयम् ।

"देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा"

(निरु० ७ । १५)

अस्यायमर्थः—एको देवशब्दः 'डुदाञ् दाने' इत्यस्माद् धातोरचि सिध्यति स च 'दा अ'–'दाव् अ' सन् वकारवर्णोपजनेन 'देयात्' इत्यादौ दृष्टेन आकारस्य एकारभावेन वर्णव्यापत्त्या परोक्षेण देव इत्युच्यते । ददातीति देवः । अपरश्च देवशब्दो ऽस्ति स 'दीपी दीप्तौ' इत्यस्माद् धातोरचि सिध्यति स हि 'दीप् अ'–'दीव् अ' सन् वर्णव्यापत्त्या परोक्षेण देव इत्युच्यते दीप्यते=प्रज्वलतीति देवः । अन्यश्च देवशब्दो ऽस्ति स 'द्युत दीप्तौ' इत्यस्माद् धातोरचि सिध्यति । स वै 'द्युत् अ'–द्यु अ'–'दि उ अ'–'दि व् अ' सन् वर्णलोपेन वर्णव्यापत्त्या च परोक्षेण देव इत्युच्यते । द्योतते प्रकाशत इति देवः । सन्दिहानौ दुर्गस्कन्दावाहतुः—धात्वन्यत्वमर्थैकत्वम् (दुर्गः) धात्वन्यत्वमात्रम् (स्कन्दः) तयोरयमभिप्रायो यथा दीप धातोः द्युत धातोश्चार्थैकत्वं भिन्नधातुमात्रप्रदर्शनं देवनिर्वचने निरुक्ते । तदसत्—दीप्यते ज्वलतीत्यर्थः । द्योतते प्रकाशते इत्यर्थः । ज्वलनं भौतिकाग्नौ । प्रकाशनमन्यत्रापि यथा—

"देवः प्रकाशमानः परमेश्वरः" (महर्षिभाष्यम् ऋ० २।२२।२॥)

इतरश्च देवशब्दो ऽस्ति स दिव्शब्दात् ताद्धितेन सिध्यति । तथा चाह देवराजयज्वा निघण्टुभाष्ये—

दिवः सम्बन्धिनो वा देवाः 'तस्येदम्' (शब्दानु० ४।३।१२०॥) इत्यणि वृद्ध्यभावश्छान्दसः 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (४।२।१०१) इति यत् प्रत्ययो नात्र भवति । द्युस्थाना इत्यर्थः ।

(निघण्टुभाष्यम् ५।६॥)

दिवः=द्युलोकस्यायमिति देवः । दिव् शब्दादण् । देवाः द्युलोकस्था पदार्था इत्यर्थः । तथा चाह महर्षिः—'(देवाः) चन्द्रादयो दिव्याः पदार्था इव विद्वांसः'

(ऋ० ४ । १६ । २ ।।) अथ च 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इत्यस्माद् धातोः 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" (शब्दानु० ३।१।१३४।।) इति कर्तर्यचि देवशब्दः सिध्यति । दीव्यतीति देवः । "सर्व्वैः कामनीयम्" इत्यर्थे तु "कृतो बहुलमिति वक्तव्यं पादहारकाद्यर्थम्' (महाभाष्य ३।३।११३।।) इति कर्मण्यच् दीव्यते काम्यते—प्रार्थ्यते स देवः । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम् ।

(देवम्) दातारं हर्षकरं विजेतारं द्योतकं वा

(ऋ० भा० १ । १ । १ ।।)

(देवम्) दातारं सुखानाम्, द्योतकम्—सर्वस्य जगतः प्रकाशकम्, सर्वैर्विद्वद्भिः कामनीयम्, स्वभक्तानां मोदकम्-हर्षकरम्, शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्-विजेतुमिच्छन्तं देवम्। (महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् ऋ० १.१।१।।)

देवो व्याख्यातः । पुनरग्निं परमात्मानं विशिनष्टि ।

(ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ—यथाकालं=प्रतिसृष्ट्युत्पत्तिकालमित्यर्थः यजति—संसारं संगतं करोति=स्थूलसृष्टिं रचयति तमृत्विजं परमात्मानम् । "ऋत्विग् दधृक्०" (शब्दानु० ३।२।५९ ।।) इति कर्त्तरि क्विन् । सांप्रतं वसन्तादिषु प्रसिद्ध ऋतुशब्दो नियतकालवचनः । अत एव स्त्रीणां रजःपतनकाले ऽपि वर्त्तते । (अर्तेश्च तु) उणा० १।७२।। अनेन ऋधातोस्तु प्रत्ययः स च किद् भवति । ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः" निरु० २।२५।। "ऋ गतिप्रापणयोः" इति धातुपाठे । पुनः पुनः परिवृत्य नियमेन गमनमिह गतिशब्दार्थः । ऋच्छति पुनः पुनः परिवृत्य नियतकालेनागच्छति स ऋतुः । वसन्तादिर्वा रजःपतनकालादिर्वा सृष्ट्युत्पत्तिर्वा । आर्यो ऽप्येतस्मादेव पुनःपुनः परिवृत्य नियतगतिकर्मण ऋधातोः । आर्यो हि पुनः पुनः परिवृत्य जन्मान्तराद् वा मोक्षाद् वा नियमितसमय आगच्छति नियमिताचारवांश्च भवति । ऋतमित्युदकनामाप्येतस्मादेव । उदकं हि स्वतो निम्नं प्रदेशमेव गच्छति । प्रतिनियता हि तस्य गतिः "ऋतमित्युदकनाम प्रत्यृतं भवति"

(निरु० २।२५॥) अत एव महर्षिः पञ्चमहायज्ञविधिभाष्ये "ऋतं च सत्यं च०" (ऋ० अ० ८, अ०८, व० ४८, म० १) मन्त्रव्याख्याने ऋतं वेदशास्त्रमाह। वेदोऽपि प्रतिसृष्ट्युत्पत्तिसमये पुनः पुनः परिवृत्य स एव नियमेनागच्छति, नियमानां मर्यादानामाधारः सर्वविद्याधिकरणम् । सर्वो हि नियतकालः ऋतुशब्देनोच्यत इति ज्ञेयम् । "ऋतौ ऋतौ यष्टारमित्यृत्विजम् । यो यो यागकालस्तत्र यष्टारमित्यर्थः" इति स्कन्दः । "स्वे स्वे काले देवानां यष्टारम्" इति वेङ्कटः । तथा सति "ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालम्" इति भाष्योक्तिः संगच्छते । सृष्टेः उत्पत्तिप्रलयावपि नियतौ । अत्र ऋतुशब्दः सृष्ट्युत्पत्तिवचनः ।

अथवा सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हम् ।(कृतो बहुलमिति वक्तव्यं पादहारकाद्यर्थम्) महाभाष्य ३।३।११३॥ इति कर्मणि क्विन् । अत्र महर्षिभाष्ये महर्षेरार्यभाषाभाष्यमपलपन्तः महर्षिभाष्यस्य स्वयमार्यभाषाकर्तारः केचिदाहुः । ऋतुषु ऋतुषु यजनीयमिति भौताग्निमेवाहुः । तदसत् । ऋतुषु ऋतुषु यजनीयमिति तु आध्यात्मिकार्थे एव संगच्छते । "यजनीयं पूजार्हम्" इति प्रथमे भाष्ये आध्यात्मिकार्थे व्याख्यानात् । द्वितीयभाष्ये ऽपि आर्यभाषायाम् "ऋतु ऋतु में उपासना करने योग्य" इति दर्शनात् । नहि भौतिकाग्नेः पूजामुपासनां वा ऽऽर्याः कुर्वते । भौतिकाग्निपरार्थे तु प्रथमे भाष्ये द्वितीयभाष्ये चाप्यदर्शनात् ।

अथवा ऋत्विग्वद् वर्तमानम्, यथा ऋत्विग् अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं यज्ञं संपादयति तथैव परमेश्वरो ऽपि ज्ञानादियज्ञसाधनं संपादयति । ज्ञानादियज्ञसाधकमृत्विजम्" इति प्रथमे भाष्ये दृश्यते । साध्यवसाना गौणी सादृश्यलक्षणा लुप्तोपमा वा ऽत्र द्रष्टव्या । ज्ञानयज्ञादिवर्णनं च महाभारते भीष्मपर्वान्तर्गते भगवद्गीतापर्वणि द्रष्टव्यम् । तथाहि—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ (गीता ४।२८॥)
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परंतपः ।
सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (गीता ४।३३॥)

महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं संगतं यजति करोति .... ऋतुषु ऋतुषु यजनीयस्तम्।

(ऋत्विजम्) बारंबार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचनेवाले तथा ऋतु ऋतु में उपासना करने योग्य।

(महर्षेर्भाष्ये पदार्थान्वयभाषा ऋ० १।१।१॥)

(ऋत्विजम्)..... सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं च जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधनमृत्विजम्।

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यमाध्यात्मिकार्थे ऋ० १।१।१॥)

(ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है,[1] जो सब जगत् का रचनेवाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि करानेवाला है इससे ईश्वर का नाम ऋत्विज् है। (महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् आर्यभाषा आध्यात्मिकार्थं ऋ० १।१।१॥)

ऋत्विग् व्याख्यातः।

पुनरग्निं परमात्मानं विशिनष्टि—

(रत्नधातमम्) रमन्ते जनानां मनांसि येषु तानि रत्नानि। अधिकारिभेदात् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च। (रमेस्त) इति सु धातोर्नप्रत्ययः धातोर्मकारस्य तकारश्चान्तदेशः। तानि रत्नानि जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधा तानि वा रत्नानि जीवेभ्यो दधाति धापयतीति रत्नधाः। अन्तर्भावितण्यर्थः। ददातीति। अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तं रत्नधातमम्। रत्नोपपदाद् दधातेः क्विप्। ततस्तमप्। "रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्" (निरु० ७।१५॥) "यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः इति यो धनानां दाता" (शत० १४।२।१।१५॥)

महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च

१—नहि विशिष्टो वर्षो मासो पक्षो दिनं तिथिर्वा तस्योपासनार्थं विहितः। सर्वदैव तस्योपासना कर्तव्येति।

रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम् ।

(ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

(रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वैर्जनै रमणीयानि प्रकृत्यादि-पृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः । अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम् । रत्नोपपदाद् डुधाञ् धातोस्तमबन्तः प्रयोगः ।

(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम् ऋ० १ । १ । १ ॥)

'यज्ञस्य' इति षष्ठ्याः 'देवम्' इत्यनेन 'पुरोहितम्' इत्यनेन चाप्यन्वयः । (यज्ञस्य देवम्) विद्वत्सत्कारादेः देवं दातारम्, अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य यज्ञस्य देवं द्योतकं वेदेषु प्रकाशकम् । (यज्ञस्य पुरोहितम्) यज्ञस्य विद्याविज्ञानयोगादेः पुरोहितो यः पुरः एतान् दधाति तं पुरोहितम् आदिमूलमित्यर्थः । एवं सति (होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्, मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्, अत्तारं च चराचरस्य जगत इत्यादि योज्यम् ।

'यज्ञस्य' इति सर्वान्वयि वा पदम् । शैषिकी चेयं षष्ठी तत आद्युदात्ततृ-जन्तहोतृपदप्रयोगे ऽपि 'न लोकाव्यय०' (शब्दानु० २।३।६९॥) इति न षष्ठी-निषेधः । यत्त्वाह ऋग्वेदस्य सिद्धाञ्जनभाष्यकारो ऽरविन्दशिष्यः कपालिः[1]— 'यज्ञस्य पुरोहितं होतारं देवम् ऋत्विजं रत्नधातमम्' इति व्याख्यातॄणामन्वयो नावश्यको न च समीचीनः । तदसत् । "यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थो ऽपि तस्य तत्" इत्यभियुक्तोक्तेः । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

'यज्ञस्य पुरोहितम्'　इत्यन्वये ।

'यज्ञस्य होतारम्'　इति पदार्थान्वयभाषायाम् ।

'यज्ञस्य देवम्'　इति विस्तृते भाष्ये ।

[यज्ञस्य] यह शैषिकी षष्ठी है । पुरोहित देव ऋत्विज् होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं ।

(भ्रान्तिनिवारणम् श० सं० भा० २ पृ० ११२)

इति प्रथम आध्यात्मिको ऽर्थः ।

१—अनामनिर्देशं कपालिर्महर्षिमाक्षिपति ।

आर्यभाषा

ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ६ ऋचाएं हैं। इस सूक्त का मधुच्छन्दा ऋषि[1] है। अग्नि देवता[2] है। गायत्री छन्द[3] है। और षड्ज स्वर[4] है।

इस प्रथम सूक्त के पहिले मन्त्र में परमात्मा ने अग्नि शब्द के द्वारा स्वयं अपना और भौतिकाग्नि का उपदेश किया है। इन दोनों अर्थों को महर्षि ने अपने भाष्य में दिखाया है। अन्य अर्थों का भी भगवान् ने उपदेश इस मन्त्र में किया है क्योंकि मन्त्रों के अनेक अर्थ होते हैं पर उन अन्य अर्थों को ऋषि लोग ही बता सकते हैं। उपलक्षणमात्र दो अर्थ यहां दिखाये जाते हैं। प्रथम ईश्वर परक अर्थ की व्याख्या की जाती है।

संगति— जिस प्रकार माता पिता और गुरुजन अपने पुत्र और शिष्य को स्वयं सिखाते हैं कि हे पुत्र! या हे शिष्य! तू हम को प्रणाम किया कर और इस प्रकार बोला करो कि "पिताजी नमस्ते" "माताजी नमस्ते" "गुरुजी नमस्ते"। जो वाक्य पुत्र या शिष्य को बोलने चाहिये उन वाक्यों को माता पिता और गुरुलोग पहिले स्वयं बोलकर सिखाते हैं इसी प्रकार माता पिता और गुरुजनों के सदृश कृपा करने वाला परमात्मा उपदेश करता है कि—

१—जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस २ ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिस के पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था किया और दूसरों को पढ़ाया भी इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है।
(सत्यार्थ० ७ समु० शता० सं० भाग १ पृष्ठ ३१८)

२—जिस २ मन्त्र का जो २ अर्थ होता है वही उस का देवता कहाता है।
(ऋग्वेदादिभा० प्रश्नोत्तरविषय शता० सं० भाग २ पृष्ठ ६६१)

३—मन्त्र में कितने अक्षर हैं इत्यादि बातों के ज्ञान के लिए प्रत्येक मन्त्र के छन्द का नाम लिखा जाता है। जैसे 'अग्निमीळे०' इस मन्त्र में आठ आठ अक्षर के तीन पाद अर्थात् २४ अक्षर वाली त्रिपदा गायत्री इस मन्त्र का छन्द है।

४—कौन २ सा छन्द किस २ स्वर में गाना चाहिये इस बात को बताने के लिये छन्द के साथ में षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं जैसे गायत्री छन्द वाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये।
(ऋग्वेदादिभा० प्रश्नोत्तरविषय शता० सं० भाग २ पृष्ठ ६६१)

(१) गायत्री, (२) उष्णिक्, (३) अनुष्टुप्, (४) बृहती, (५) पङ्क्ति, (६) त्रिष्टुप्, (७) जगती ये सात छन्द हैं इनके क्रम से (१) षड्ज, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत, (७) निषाद ये सात स्वर हैं। इसी प्रकार अतिजगती आदि अन्य सात छन्दों के भी क्रम से ये ही सात स्वर हैं ऐसे ही आगे भी।

हे मनुष्य देहधारी जीव! तू अपने ही कल्याण के लिये इस प्रकार बोला कर कि-

ओ३म् अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥

पदपाठः— अ॒ग्निम् । ई॒ळे । पु॒रःऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् । होता॑रम् । रत्न॒ऽधात॑मम्[1]।

मन्त्रव्याख्या

मैं स्तुति और प्रार्थना करने वाला उपासक (**अग्निम् + ईडे**) परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करता हूँ। अर्थात् हे भगवन्! हम लोग आप की स्तुति करते हैं और आप से प्रार्थना करते हैं।

ईडे पद की व्याख्या

यह 'ईडे' पद ईड धातु के लट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन का रूप है। पर महर्षि ने आर्यभाषा में बहुवचन में अर्थ किया है—

हम लोग (ईडे) स्तुति करते हैं।

(**आर्यभाषा पदार्थ०[2] ऋ० १।१।१॥**)

क्योंकि वेद की स्तुति और प्रार्थना प्रायः सर्वत्र बहुवचन में हैं।

जैसे—

'धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्' (यजु० ३६।३॥)

१—मन्त्रपाठ और पदपाठ में जो स्वरचिह्न पृथक् पृथक् लगाये जाते हैं उनका भेद हमारी वैदिक-स्वरपद्धतिमीमांसा में देखो।

२—महर्षि के वेदभाष्य में आर्यभाषा में पदार्थ और भावार्थ हैं। पदार्थ का पूरा शब्द पदार्थान्वय भाषा है जैसा प्रथम मन्त्र की आर्यभाषा में छपा है आगे सर्वत्र 'पदार्थ' इतना ही संकेत है आगे भी सर्वत्र पदार्थान्वयभाषा ही समझना चाहिये। अर्थात् यह आर्यभाषा का पदार्थ संस्कृत पदार्थ का अनुवाद नहीं है प्रत्युत अन्वय का आर्यभाषानुवाद है हां इस में संस्कृतपदार्थ से सहायता लीगई है अतः इसका नाम पदार्थान्वयभाषा है। अतः आर्यभाषा के पदार्थ को अन्वय से मिलाना चाहिये न कि संस्कृतपदार्थ से। संस्कृत-पदार्थ का पूरा आर्यभाषानुवाद महर्षिभाष्य में नहीं है। आर्यभाषा पदार्थ का क्रम भी अन्वय के क्रम से इसीलिये है संस्कृतपदार्थ के क्रम से नहीं।

(यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे। (पञ्चमहायज्ञविधिः)

'नमो भरन्त एमसि' (ऋ० १।१।७।।)

(वयम्) हमलोग (नमः + भरन्तः) नमस्कारादि करते हुए (उपैमसि) आपके शरणको प्राप्त होते हैं। इत्यादि प्रायः सर्वत्र बहुवचन में प्रार्थना वेद में होने से ऋषि ने बहुवचन में अर्थ किया है।

(ईड धातु के अनेक अर्थ)

धातुपाठ में ईड धातु का केवल एक अर्थ दिया है "ईड स्तुतौ" अर्थात् ईड धातु स्तुति अर्थ में है। पर कौत्सव्य[1] निघण्टु में लिखा है कि ईड धातु के अनेक अर्थ हैं। उन अनेक अर्थों की विवेचना की जाती है। निरुक्त में लिखा है कि—

अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा च।
(निरुक्त ७।१५।।)

अर्थात्—ईड धातु के अर्थ याचना=प्रार्थना, और अध्येषणा=पुनः पुनः इच्छा, प्रेरणा, गुणों का अन्वेषण, तथा पूजा=सत्कार। इतने अर्थ हैं। धातु पाठ में स्तुति अर्थ है ही।

निरुक्त का व्याख्याकार दुर्गाचार्य निरुक्त के ऊपर लिखे उद्धरण का अशुद्ध अर्थ इस प्रकार करता है कि—

ईडिर्धातुरध्येषणाकर्मा याच्ञाकर्मेह। अन्यत्र पूजाकर्मा।
(दुर्ग निरु० भा० ७।१५।।)

अर्थात्—ईड धातु का अध्येषणाकर्मा अर्थात् याचना अर्थ इस मन्त्र में है और पूजा अर्थ अन्यत्र है।

१—यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से प्राचीन १२ निरुक्तकारों के नाम उद्धृत किये हैं। इन सब ने अपने अपने निघण्टु और निरुक्त दोनों बनाये थे। यास्ककृत निघण्टु और निरुक्त दोनों उपलब्ध हैं पर कौत्सव्य का निघण्टु ही उपलब्ध है जो मुद्रित है। कौत्सव्य का निरुक्त अनुपलब्ध है। अन्यों के निघण्टु और निरुक्त दोनों अनुपलब्ध हैं। अनेक भाष्यकार शाकपूणि के निरुक्त का उद्धरण देते हैं इस से अनुमान होता है कि शाकपूणि का निरुक्त पिछली शताब्दियों में वर्ता जाता रहा है उसके मिलने की संभावना है।

अर्थात् दुर्गाचार्य यह समझता है कि अध्येषणा शब्द का ही अर्थ याचना है। अध्येषणा और याचना पृथक् पृथक् अर्थ नहीं है। यह उसकी भूल है क्योंकि निघण्टु में १७ धातु अध्येषणा अर्थ में लिखी हैं और ४ धातु याचना अर्थ में बताई है—

१—ईमहे, २—यामि, ३—मन्महे, ४—दद्धि, ५—शग्धि, ६—पूर्धि, ७—मिमिड्ढि, ८—मिमीहि, ९—रिरिड्ढि, १०—रिरीहि, ११—पीपरत, १२—यन्तारः, १३—यन्धि, १४—इषुध्यति, १५—मदेमहि, १६—मनामहे, १७—मायते, इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः। (निघण्टु ३। १९॥)

१—परिस्रव, २—पवस्व, ३—अभ्यर्ष, ४—आशिषः, इति चत्वारो ऽध्येषणाकर्माणः। (निघण्टु ३। २१॥)

दुर्ग की वृत्ति का सहारा लेकर निरुक्त के आधुनिक टीकाकार राजपण्डित मुकुन्द झा आदि भी ऐसा ही समझते हैं कि अध्येषणा का ही अर्थ याचना है जैसा प० मुकुन्द झा ने अपनी टीका में लिखा है कि—

अध्येषणाकर्मा याचनार्थः। 'सनिस्त्वध्येषणा याच्ञा' इत्यमरः।
(मुकुन्द झा निरुक्त टीका ७। १५॥)

अर्थात्—अध्येषणा का अर्थ याचना है जैसा अमरकोष में याचना के पर्यायों में सनि। अध्येषणा। याच्ञा। शब्द दिये हैं।

आश्चर्य है कि प० मुकुन्द झा अमरकोश को भी नहीं समझते। अमरकोश का पूरा पाठ इस प्रकार है—

"सनिस्त्वध्येषणा, याच्ञा ऽभिशास्तिर्याचनार्थना"

(अमरकोष २। ३२॥)

इस पर अमरकोश का व्याख्याकार महेश्वर लिखता है कि—

सनिः। अध्येषणा। द्वे यद् गुर्वादेः कचिदर्थे प्रार्थनया नियोजनं तत्र॥ याच्ञा। अभिशास्तिः। याचना। अर्थना। चत्वारि याच्ञायाः॥
(महेश्वर अमर टीका २। ३२॥)

अर्थात्—गुरु आदि को प्रार्थना पूर्वक किसी कार्य में लगाने के दो पर्याय वाचक शब्द हैं। सनि और अध्येषणा। और याचना के चार शब्द पर्यायवाचक हैं। याच्ञा। अभिशस्तिः। याचना। अर्थना। अर्थात् अध्येषणा और याचना दो पृथक् पृथक् अर्थ

हैं। इसीलिये शब्दानुशासन शास्त्र[1] अर्थात् पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में--

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्
(शब्दानु० ३।३।१६१॥)

अर्थात्--विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट संप्रश्न और प्रार्थना इन अर्थों में लिङ् लकार हैं। यहां भी अधीष्ट और प्रार्थना पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं। अधीष्ट का अर्थ अध्येषणा ही है।

निरुक्त का दूसरा टीकाकार स्कन्द दुर्ग की इस भूल को समझता था अतः निरुक्त के उपर्युक्त उस उद्धरण की व्याख्या वह इस प्रकार करता है--

ईड स्तुतौ। याच्ञायां वा। यद्वाध्येषणायाम्।
(स्कन्द निरुक्त टीका ७।१५॥)

अर्थात्--ईड धातु के तीन अर्थ हैं। स्तुति। याच्ञा। अध्येषणा।

सायणाचार्य भी अपने ऋग्वेदभाष्य में निरुक्त के उस उद्धरण की व्याख्या इस प्रकार करता है कि--

धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायमाश्रित्य याच्ञा, अध्येषणा, पूजा अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः।
(सायण ऋ० भा० १।१।१॥)

अर्थात्--यद्यपि धातुपाठ में ईड धातु का केवल एक अर्थ स्तुति ही लिखा है पर धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इस न्याय का आश्रय लेकर यास्क ने याच्ञा, अध्येषणा और पूजा अर्थ भी ईड धातु के दिखाये हैं।

इस प्रकार ईड धातु के चार अर्थ हैं १--स्तुति। २--प्रार्थना। ३--अध्येषणा। ४--पूजा। अध्येषणा शब्द के भी तीन अर्थ हैं। (१)--पुनः पुनः अर्थात् अत्यन्त इच्छा। २--प्रेरणा। ३-गुणों का अन्वेषण। अतः ईड धातु के ६ अर्थ निष्पन्न हुए।

१--पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ का नाम "शब्दानुशासन" रखा है। इसी लिये अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र "अथ शब्दानुशासनम्" है। अइउण्। ऋलृक्। आदि १४ सूत्र पाणिनि ने महेश्वर व्याकरण के जैसे के तैसे रख दिये हैं। 'वृद्धिरादैच्' से अपने सूत्र बनाये हैं अतः अपनी रचना में मङ्गलवाचक वृद्धि शब्द विधेय होने पर भी प्रथम लिखा है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आगे भी "परः संनिकर्षः संहिता" आदि सूत्र प्रातिशाख्यों से जैसे के तैसे उद्धृत कर दिये हैं।

१—स्तुति=गुणों का वर्णन करना । २—याच्ञा=प्रार्थना करना । ३—अध्येषणा=अत्यन्त इच्छा । ४—अध्येषणा=प्रेरणा । ५—अध्येषणा=गुणों का अन्वेषण । ६—पूजा ।

अभिप्राय यह है कि—१-हम लोग परमात्मा की स्तुति करते हैं अर्थात् परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हैं । २-परमात्मा से प्रार्थना करते हैं । ३-परमात्मा की अत्यन्त इच्छा करते हैं कि वह हमें प्राप्त होजावे । ४-परमात्मा के गुणों का अन्वेषण करते हैं अर्थात् हमें इस बात की खोज करनी चाहिये कि परमात्मा में क्या क्या गुण हैं। ५-परमात्मा का पूजन करते हैं—सत्कार करते हैं या परमात्मा की उपासना करते हैं । ये ५ अर्थ ईश्वरपरक अर्थ में संगत हैं । छुठा प्रेरणा अर्थ भौतिकाग्नि अर्थ में उपयुक्त होगा । भौतिकाग्नि अर्थ में प्रार्थना और पूजा ये दो अर्थ संगत नहीं होंगे शेष चार अर्थ भौतिकाग्नि में भी हैं । जैसे—

१-हम लोग भौतिकाग्नि के गुणों का वर्णन करते हैं यही भौतिकाग्नि की स्तुति है । २-तथा उपकार के लिए भौतिकाग्नि की इच्छा करते हैं । ३-भौतिकाग्नि को यानादि में प्रेरित करते हैं । ४-भौतिकाग्नि के गुणों का अन्वेषण करते हैं । 'अध्येषणा' शब्द की विस्तृत व्याख्या भौतिकाग्नि अर्थ में की जावेगी ।

('ईडे' पद के प्रार्थना अर्थ का रहस्य)

प्रश्न—यह बात सत्य है कि ईड धातु का अर्थ प्रार्थना भी है परन्तु 'अग्निमीळे०' इस मन्त्र में केवल परमात्मा की स्तुति है किसी वस्तु की प्रार्थना इस मन्त्र में परमात्मा से नहीं की है अतः 'ईड' धातु का प्रार्थना अर्थ होने पर भी यहां असंगत है ।

उत्तर=क्योंकि इस मन्त्र में कोई प्रार्थना नहीं है इसी भय से वेदों के भाष्यकार स्कन्द, वेङ्कटमाधव, सायण आदि तथा श्री अरविन्द जी और उनके शिष्य सिद्धाञ्जन-भाष्यकार श्री कपालि इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् विलसन आदि ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रार्थना अर्थ छोड़ दिया । ईडे = Adore (अरविन्द) ईडे = Glorify (विलसन)

परन्तु महर्षि यह समझते हैं कि प्रत्येक स्तुति में प्रार्थना और प्रत्येक प्रार्थना में स्तुति अन्तर्हित रहती है । जैसा शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है ।

स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयमर्थयत्येष मामिति ।
स्तौत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं मामेव पश्यति ॥९॥
स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
भवत्युभयमेवोक्तमुभयं ह्यर्थतः समम् ॥१०॥

(बृहद्देवता १ । ९—१० ॥)

अर्थ—स्तुति करने वाले को प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि यह कुछ मुझ से मांगना चाहता है इस लिये मेरी स्तुति कर रहा है। इसी प्रकार मांगने वाले को भी सब समझते हैं कि यह इस लिये मुझसे मांग रहा है क्योंकि यह जानता है कि मेरे पास यह है इस पदार्थ से मैं संपन्न हूँ यही स्तुति है। अतः किसी मन्त्र में चाहे केवल स्तुति हो चाहे केवल प्रार्थना पर अर्थतः दोनों बातें मन्त्र में समझनी चाहिये। स्तुति में प्रार्थना और प्रार्थना में स्तुति अन्तर्हित रहती है। अभिप्राय यह है कि फलतः स्तुति हो या प्रार्थना दोनों एक ही बात हैं।

इसका प्रकार यह है कि यदि उपासक स्तुति करता है कि "मैं ज्ञानस्वरूप परमात्मा की स्तुति करता हूं" इसमें यह प्रार्थना स्वतः आजाती है कि "हे परमात्मन् मुझे ज्ञानवान् बनाइए" इसी लिए कहा जाता है कि—

> ओं तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य॑मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि
> बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि
> म॒न्युं मयि॑ धेहि सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥
>
> (यजु० १९।९॥)

इत्यादि मन्त्रों में यही धारणा निहित है कि भगवान् के जिस रूप का ध्यान किया जाता है उसमें यही प्रार्थना निहित है कि ऐसा मुझे हे नाथ! बनादो।

(परस्मैपद आत्मनेपद के प्रयोग)

संस्कृत भाषा में जो धातुएं परस्मैपदी और आत्मनेपदी दोनों प्रकार की हैं उनकी व्यवस्था यह है कि यदि वह काम अपने लिए किया जाता है तो आत्मनेपद का रूप बोला जाता है और यदि वह काम दूसरे के लिए किया जाता है तो परस्मैपद का रूप उस धातु का बोला जाता है। जैसे—'अहं पचामि' परस्मैपद का रूप है और 'अहं पचे' आत्मनेपद का रूप है। अहं पचामि का अर्थ है कि मैं भोजन दूसरे के लिए पका रहा हूं अर्थात् रसोइया हूं और 'अहं पचे' का अर्थ है कि मैं अपने खाने के लिए खाना पका रहा हूँ। इस प्रकार 'अहं यजामि' (परस्मैपदी रूप) का अर्थ है कि मैं पुरोहित यजमान के लिए यज्ञ कर रहा हूं और 'अहं यजे' (आत्मनेपदी रूप) का अर्थ है कि मैं अपना दैनिक आदि यज्ञ कर रहा हूं।

(स्तुवे याचे)

'ईडे' पद के भाष्य में महर्षि ने 'स्तुवे' 'याचे' ये दोनों आत्मनेपद के रूप इसलिए दिए हैं क्योंकि परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना अपने लिए हो सकती है। दूसरे के लिए स्तुति प्रार्थना दूसरा नहीं कर सकता यदि दूसरे के कर्म का फल दूसरे को मिलने लगे तो कर्मों के भोग में गड़बड़ होजावे। ऐसा सांख्य दर्शन १।१७॥ में लिखा है।

यद्यपि महर्षि के ऋ० भा० ४।३३।१।। और यजु० भा० ७।३।। में 'ईळे स्तौमि' यह परस्मैपद का प्रयोग "स्तौमि" भी है पर वहां विद्वान् की प्रशंसा का वर्णन उन मन्त्रों में है परमात्मा की स्तुति नहीं। इसी प्रकार निरुक्त ७।१५।। में भी 'अग्निमीळे ऽग्निं याचामि' ऐसा परस्मैपद रूप से भाष्य है पर निरुक्त का प्रधान विषय आधिदैवत है आध्यात्मिक नहीं। फिर भी कहीं कहीं सामान्य रूप से दोनों पदों का प्रयोग देखने में आता है।

प्रश्न—महर्षि के ऋग्वेदभाष्य आर्यभाषा पदार्थ में तो केवल "स्तुति करते हैं" इतना ही है "प्रार्थना करते हैं" यह नहीं है।

उत्तर—आर्यभाषाभाष्य में पूरा अर्थ नहीं है वहां तो महर्षि ने अभिप्रायमात्र ही दिखाया है जैसा महर्षि ने स्वयं लिखा है कि—

"भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है"

(भ्रान्तिनिवारण शताब्दीसंस्करण भाग २ पृष्ठ ८७९)

कुछ लोग महर्षि के भाष्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—

'ईळे' पद का आध्यात्मिक अर्थ में स्तुति अर्थ है और 'ईडे' पद का अध्येषणा अर्थ भौतिकाग्निपरक अर्थ में करना चाहिये।

वे लोग महर्षि के भाष्य को नहीं समझते। महर्षि ने स्वयं लिखा है कि—

अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

[भ्रान्तिनिवारण शता० भाग २ पृ० ८९७)

महर्षि का आर्यभाषाभाष्य इस प्रकार है—

(महर्षिभाष्यम्)

हम लोग 'ईडे' स्तुति करते हैं। ··· ··· 'ईडे' बारंबार इच्छा करते हैं।

(ऋ० १।१।१॥ पदार्थान्वयभाषा)

मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ। उसके गुणों का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूँ। महर्षि का विस्तृतभाष्यभाषार्थ ऋ० १।१।१॥

(अग्नि शब्द की विस्तृत व्याख्या)

अनेक अग्नि शब्द हैं। एक अग्नि शब्द में तीन खण्ड हैं—अ (इण्) ग् (अञ्जू) नि (णीञ्)। दूसरे अग्नि शब्द में भी तीन खण्ड हैं— अ (इण्) ग् (दग्ध) नि (णीञ्)। तीसरे अग्नि शब्द में दो खण्ड हैं—अ (अङ्ग) नि (णीञ्)। चौथे अग्नि शब्द में भी दो खण्ड हैं— अ (नञ्) ग्नि (क्नूयी)। पांचवें अग्नि शब्द में भी दो खण्ड हैं—अग् (अग्र) नि (णीञ्)।

ये पांच शब्द होते हुए भी मिल कर आकृति एक जैसी होजाती है अतः एक शब्द जैसे प्रतीत होते हैं। इन सब के अर्थ अलग हैं। जैसे अ + ग् + नि इन तीन खण्डों वाले अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि (आग) है और अग्+नि इस दो खण्ड वाले अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर है। जैसे अंग्रेजी भाषा में B. Sc, दो भाग रखने पर इसका अर्थ होता बैचुलर आफ साइंस। पर इसी को तीन भागों में रखने पर B. S. C. का अर्थ होता है बाटा शू कम्पनी। Ph. D, दो भागों में रखने पर इसका अर्थ होता है फिलासोफीकल डाक्टर। और इसी को तीन भागों में रखने पर P. H. D. का अर्थ होता है पबलिक हैल्थ डिपार्टमेन्ट। इस बात का विस्तृत वर्णन हम अंग्रेजी अनुवाद में करेंगे। अब दो खण्ड (अग्र+णी) वाले अग्नि शब्द की व्याख्या की जाती है।

१—यह अग्नि शब्द अग्र पूर्वक "णीञ् प्रापणे" धातु से कर्ता और कर्म दोनों व्युत्पत्तियों में सिद्ध होता है। कर्ता अर्थ में—'अग्रम् आत्मानं नयति' इत्यादि। अर्थात् जो अपने को सब से आगे रखे हुए है उससे आगे कोई नहीं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ। इसी लिए परमात्मा के वरुण आदि नाम हैं। कर्म अर्थ में—'अग्रं प्रथमं यज्ञेषु सर्वश्रेष्ठकर्मसु प्रणीयते प्रतिपाद्यते' इत्यग्निः। अर्थात् सब श्रेष्ठ कामों में जो सब से प्रथम स्थापित किया जाता है। यह अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति दोनों प्रकार की यास्क ने निरुक्त में की है—

अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।
(निरुक्त ७। १४॥)

अर्थात्—अग्नि शब्द किस धातु से और कैसे बनता है इसका उत्तर यह है कि अग्र पूर्वक णीञ् धातु से कर्ता अर्थ में अग्नि बनता है क्योंकि वह सबसे आगे है और अग्नि शब्द कर्म व्युत्पत्ति में भी बनता है क्योंकि सब भले कामों में उसकी स्थापना सर्वप्रथम होती है। उसी का स्मरण सर्वप्रथम किया जाता है जैसा वेदव्यास ने महाभारत के भगवद्गीता भाग में लिखा है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(गीता १७। २४॥)

अर्थ—क्योंकि सृष्टि का आरम्भ ओ३म् से हुआ है इस लिए वेदवादियों के शास्त्रोक्त यज्ञ दान और तप रूप क्रियायें 'ओ३म्' ऐसा उच्चारण करके सदा प्रारम्भ होती हैं।

२—आनन्दतीर्थ ने अपने ऋग्वेद भाष्य में 'अग्नि' शब्द का अग्र + णी निर्वचन करके ईश्वर अर्थ किया है। संस्कृतप्रमाण देखो पृष्ठ १४२।

३—आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अस्यवामीयसूक्त के भाष्य में अग्नि शब्द का अग्र + णी निर्वचन करके ईश्वर अर्थ किया है। संस्कृतप्रमाण के लिए पृष्ठ १४२ देखो।

४—मनुस्मृति में भी लिखा है कि—

इस पुरुष परमात्मा को कुछ लोग अग्नि नाम से कहते हैं। अन्य लोग उसका नाम प्रजापति कहते हैं। कुछ एक उसका इन्द्र नाम कहते हैं तथा बहुत लोग उसको ब्रह्म कहते हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ १४२ पर देखो।

५—ब्राह्मणग्रन्थों में भी अग्नि शब्द का अर्थ ब्रह्म किया है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ १४२ पर हैं।

६—कल्पकार ने भी लिखा है कि—

इन्द्र आदि शब्द परमैश्वर्य आदि गुण के सम्बन्ध से अथवा कहो व्याकरणकृत व्युत्पत्ति के कारण परमात्मा के वाचक हैं। विद्वान् लोग उस एक परमात्मा को बहुत प्रकार से कहते हैं विज्ञ लोग बताते हैं कि नाना नाम वाला वह ब्रह्म एक है। संस्कृत-प्रमाण पृष्ठ १४२ पर देखने चाहिए।

७—उपनिषत्कारों ने भी अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर किया है। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ १४२ पर उद्धृत हैं।

८—बहुत से अन्य प्रमाणों को क्यों कहें। अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है इसमें वेद स्वयं प्रमाण है **'इन्द्रं मित्रं'** इत्यादि। इस ऋचा का अर्थ बहुत गूढ़ है। इस ऋचा की व्याख्या प्रायः सब भाष्यकारों ने अशुद्ध की है और कोई इस ऋचा को समझ न सकता अतः इस ऋचा की व्याख्या विस्तार से की जाती है।

ओ३म्। इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद् विप्रा॑ बहु॒धा व॑द॒न्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥

(ऋ० १। १६४। ४६॥)

इन्द्रम् । मित्रम् । वरुणम् । अग्निम् । आहुः । अथो इति । दिव्यः । सः । सु ऽपर्णः । गरुत्मान् । एकम् । सत् । विप्राः । बहुधा । वदन्ति । अग्निम् । यमम् । मातरिश्वानम् । आहुः ।

इस मन्त्र में तीन बातों का वर्णन परमात्मा ने किया है अतः इस मन्त्र में तीन क्रिया पद हैं । १–आहुः । २–वदन्ति । ३–आहुः । नीचे लिखे प्रकार इस ऋचा में तीन वाक्य बनते हैं ।

(१) इन्द्रं मित्रं वरुणं अथो दिव्यः स सुपर्णः गरुत्मान् (तं च)—अग्निम् आहुः ।

(२) विप्राः एकं सत् बहुधा वदन्ति ।

(३) अग्निम्—यमम् मातरिश्वानम् आहुः ।

(प्रथम वाक्य का अर्थ)

(इन्द्रम् मित्रम् वरुणम्) इन्द्र मित्र और वरुण को (अथो) तथा (सः) वह (दिव्यः) प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर जिसके पालनादि कर्म हैं और (गरुत्मान्) महान् स्वरूप वाला [जो सूर्य है उसको] (अग्निम् आहुः) अग्नि इस नाम से कहते हैं । इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य को 'अग्नि' इस नाम से कहते हैं । अर्थात् अग्नि शब्द इन्द्र, मित्र, वरुण, और सूर्य का वाचक है । अग्नि शब्द के इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य अर्थ हैं । यह भी उपलक्षणमात्र है । अग्नि शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं । अनेक अर्थों में अग्नि शब्द आता है । इसी बात को ब्राह्मणादि ग्रन्थों में बताया है कि—

अग्निः सर्वा देवताः (ऐ० ब्रा० ६ । ३ ॥)

अर्थात्—अग्नि शब्द सब देवताओं के अर्थों में आता है । अग्नि शब्द सब देवताओं का वाचक है । इस प्रथम वाक्य का अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द के बहुत अर्थ हैं ।

१—प्रगृह्यसंज्ञा वाले मन्त्र के पदों में पदपाठ करते समय 'इति' यह शब्द लगाया जाता है। "अथो इति" इसी प्रकार रिफित पदों में भी पदपाठ करते समय 'इति' यह शब्द लगाया जाता है जैसे 'प्रातः' का 'प्रातरिति' 'पुनः' का 'पुनरिति' । जिन पदों में अपना र् विसर्ग होता है विभक्ति का नहीं, उन पदों को रिफित पद कहते हैं। पुनः । प्रातः । यहां 'पुरुषः' के समान विभक्ति का विसर्ग नहीं है ।

(द्वितीय वाक्य का अर्थ)

(एकम् सत्) एक अद्वितीय परम ब्रह्म को (विप्राः) मेधावी लोग (बहुधा) नाना नामों से (वदन्ति) पुकारते हैं। अर्थात् परमात्मा के अनेक नाम हैं।

(तृतीय वाक्य का अर्थ)

(अग्निम्) भौतिक अग्नि जो आग है उसको (यमम् मातरिश्वान्) यम मातरिश्वा आदि नामों से (आहुः) कहते हैं। अर्थात् भौतिक अग्नि जो आग नाम का पदार्थ है उसके भी बहुत से नाम हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में तीन बातें बताई गई हैं—

१—भौतिक अग्नि के बहुत नाम हैं। (तृतीय वाक्य में)

२—परमात्मा के बहुत नाम हैं। (द्वितीय वाक्य में)

३—अग्नि शब्द के बहुत अर्थ हैं। (प्रथम वाक्य में)

इस मन्त्र में अग्नि शब्द दो बार आया है।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः"। "अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"।

(प्रथम वाक्य में) प्रथम बार 'अग्नि' पद शब्द वाचक है। (तृतीय वाक्य में) दूसरी बार 'अग्नि' पद पदार्थ वाचक है। अर्थात् ये दोनों बातें पृथक् पृथक् हैं। कि १— अग्नि शब्द के बहुत अर्थ हैं। २— अग्नि पदार्थ के बहुत नाम हैं। इसी को विशेष्य और विशेषण कहते हैं। विशेष्य=पदार्थ। विशेषण=शब्द। प्रथम वाक्य में अग्नि पद शब्द वाचक होने से अग्नि पद विशेषण है और तृतीय वाक्य में पदार्थ वाचक होने से अग्नि पद विशेष्य है। महर्षि ने अपने ग्रन्थों और वेद भाष्य में अनेक स्थानों में इस मन्त्र को इस रूप में समझाया है कि—

क. तथा उस में तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं

(भ्रान्तिनिवारण श० सं० भा० २ पृष्ठ ८९९)

अभिप्राय यह है कि क्योंकि इस मन्त्र में तीन आख्यात हैं इस लिये तीन अन्वय करके तीन वाक्य बनाने चाहिये। और तीन अर्थ करने चाहिये।

ख. यथा ऽग्न्यादेरिन्द्रादीनि बहूनि नामानि सन्ति तथैकस्य परमात्मनो ऽग्न्यादीनि सहस्रशो नामानि वर्तन्ते।

(महर्षि ऋग्वेदभाष्य भावार्थ १।१६४।४६॥)

अर्थात्—आग के बहुत नाम हैं (यह तृतीय वाक्य का विवरण है) आदि शब्द से इन्द्रादि पदार्थ लिए जावेंगे उन के भी बहुत नाम हैं । इन्द्र मित्र वरुण पदार्थों के अग्नि आदि बहुत नाम हैं (यह प्रथम वाक्य का विवरण है) यद्यपि प्रथम वाक्य "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्" में इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य पदार्थों का अग्नि नाम है यही बताया है। पर इन पदार्थों के 'अग्नि' से अतिरिक्त भी बहुत से नाम हैं इस बात को बताने के लिये महर्षि ने ऋग्वेद भाष्य १।१६४।४६ में अन्वय इस प्रकार किया है कि—

विप्रा इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमिति बहुधा ऽऽहुः ।

अर्थात्—(अ) विप्र लोग इन्द्र मित्र वरुण को अग्नि इत्यादि बहुत नामों से कहते हैं।

(इ) तथा एक परमात्मा के अग्नि आदि बहुत नाम हैं। यह महर्षि के ऋग्भाष्य भावार्थ में द्वितीय वाक्य का विवरण है।

ग. तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्य विशेषणाभिप्रायात् । इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्य-विशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद् यथा "इममेवाग्निम्, महान्तमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० निरुक्त अ० ७ खं० १८ ॥"

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका श० सं० भाग २ पृष्ठ ६६०)

अर्थात्—उसीलिये परमेश्वर ने इस मन्त्र में अग्नि शब्द दो बार उच्चारण किया है एक बार विशेष्य=पदार्थ के दृष्टिकोण से अर्थात् तृतीय वाक्य में मन्त्र के अन्त में। और एक बार विशेषण=शब्द के दृष्टिकोण से अर्थात् प्रथम वाक्य में मन्त्र के आरम्भ में। इस बात को सायणाचार्य नहीं समझ सके अतः उन की भ्रान्ति ही है। निरुक्तकार यास्क ने भी इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्त ७। १८ ॥ में अग्नि शब्द को विशेष्य=पदार्थवाचक और विशेषण=शब्दवाचक दोनों प्रकार का माना है ।

महर्षि का अभिप्राय यह है कि इस इन्द्रं मित्रं मन्त्र की जो व्याख्या मैं कर रहा हूँ यही इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार यास्क ने की है। अतः महर्षि ने निरुक्त को जिस रूप में समझा है हम निरुक्त के उस स्थल की व्याख्या भी स्पष्ट रूप से करते हैं। निरुक्त का प्रकरण इस प्रकार है।

इममेवाग्निम् महान्तं चात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति । इन्द्रं मित्रं वरुणम्—अग्निम्, दिव्यं च गरुत्मन्तम् ।

(निरुक्त ७ । १८ ॥)

अर्थात्—(इमम् एव अग्निम्) इस भौतिक आग को (मेधाविनः) मेधावी लोग (बहुधा) अनेक नामों से (वदन्ति) कहते हैं। यह वेद मन्त्र के तृतीय वाक्य 'अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः' की निरुक्त में व्याख्या है।

(च) और (महान्तम् आत्मानम्) महान् आत्मा परमात्मा को मेधावी लोग बहुत नामों से पुकारते हैं। यह वेदमन्त्र के द्वितीय वाक्य 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', की व्याख्या है।

(इन्द्रम् मित्रम् वरुणम्) इन्द्र मित्र वरुण को (च) और (दिव्यं गरुत्मन्तम्) सूर्य को (अग्निम्) अग्नि कहते हैं। अर्थात् इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य का अग्नि नाम है। अग्नि शब्द के इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य अर्थ हैं। यह वेद मन्त्र के प्रथम वाक्य 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्' की व्याख्या निरुक्त में है।

निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य आदि निरुक्त के इस प्रकरण को समझने में समर्थ नहीं हुए इस के दो कारण थे। एक तो इन सब ने एक अशुद्ध सिद्धान्त हृदय में बैठा रखा था कि अग्नि आदि जड़ पदार्थ नहीं है प्रत्युत ये भी परमात्मा के समान कोई महान् आत्मा हैं। दूसरा कारण यह था कि इन के पास निरुक्त का शुद्ध पाठ नहीं था। इन के पास जो निरुक्त के हस्तलेख थे उन का पाठ भ्रष्ट हो चुका था। निरुक्त का सही पाठ और निरुक्त के भ्रष्ठ पाठ नीचे दिये जाते हैं—

क. इममेवाग्निं महान्तं चात्मानम्—(निरुक्त का शुद्ध पाठ)

ख. इममेवाग्निं महान्तमेवात्मानम्—(यह भी शुद्ध पाठ है पर यहां एव शब्द का च अर्थ ही है)

ग. इममेवाग्निं महान्तमेकमात्मानम्—(यह दुर्ग और स्कन्द के पास पाठ था)

घ. इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानम्—(यह सायण के पास पाठ था)

हमारा अनुमान है कि दुर्ग स्कन्द और सायण के पास चकार रहित निरुक्त का पाठ था। सांप्रदायिक लोगों ने अग्नि को महान् आत्मा समझ कर चकार को

अनावश्यक जान कर निकाल दिया। यदि चकार रहित निरुक्त का पाठ स्वीकार किया जावे तो 'इन्द्र मित्रम्' मन्त्र में आये तीन आख्यात पदों की संगति लग ही नहीं सकती। और यदि तीन आख्यात पदों की संगति इस प्रकार न लगाई जावे तो मन्त्र का आध्यात्मिक भी अर्थ नहीं हो सकता। निरुक्त परिशिष्ट १४ अध्याय में इस बात का वर्णन है कि यह मन्त्र आत्मा का भी वर्णन करने वाला है। विस्तृत विवेचन संस्कृत भाग पृष्ठ १५४ से १५५ तक देखो। हमें इस बात का दुःख है कि महर्षि के अनुयायी भी किसी ग्रन्थ की टीका लिखते समय यह देखने का कष्ट नहीं करते कि इस ग्रन्थ के इस स्थल का महर्षि ने क्या अर्थ किया है। यहां हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि आर्यविद्वानों ने भी निरुक्त की टीका लिखते समय सबने ही यहां भूल की है।

(दुर्गकृत निरुक्त की तथा इन्द्रं मित्रं० ऋचा की अपव्याख्या)

(इन्द्रं मित्रमिति अस्यवामीया एषा) 'इन्द्रं मित्रम्' यह ऋचा अस्यवामीय सूक्त में आती है। (इन्द्रं मित्रं वरुणम् इत्येतैरभिधानैः अग्निमाहुः सतत्त्वविदः) तत्त्ववेत्ता लोग इन्द्र मित्र वरुण इन नामों से अग्नि को पुकारते हैं। (अथो अपि च) और (यो ऽयमादित्यो दिवि जायते) यह जो सूर्य द्युलोक में उत्पन्न होता है। (सुपर्णं=सुपतनः) गतिमान् (गरुत्मान्-गरणवान्=स्तुतिभिस्तद्वान्) जिसकी स्तुति की जाती है (रसानां वा गरिता आदित्यः) अथवा रसों को खींचने वाला सूर्य (अयमपि च एवाग्निरित्याहुः) यह सूर्य भी अग्नि ही है (किं बहुना) क्या बहुत कहने से (इममेवाग्निम् एकं महान्तमात्मानम्) इस ही अग्नि एक महान् आत्मा को (अनन्यत्वेन पश्यन्तः) एक ही समझते हुए (विप्रा मेधाविनः) विद्वान् (आत्मतत्त्वविदः) आत्मा के तत्त्ववेत्ता लोग (बहुधा वदन्ति) अनेक नामों से पुकारते हैं (अग्निं यमं मातरिश्वानमित्येवम्। अन्यैश्च अभिधानैः) अग्नि यम मातरिश्वा तथा अन्य नामों से भी।

(समीक्षा)

दुर्ग का अभिप्राय यह है कि यह जो सूर्य है यह भी अग्नि ही है और जो यह अग्नि है और जो परमात्मा है ये दोनों एक ही हैं उसी के अनेक नाम हैं। दुर्ग इस बात को भूल जाता है कि निरुक्त में किस प्रकरण में यह ऋचा उद्धृत है। निरुक्त में प्रकरण यह है कि—

अग्निः प्रथमस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः··· ··· ··· ···

ततो नु मध्यमः ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

आदित्यमुक्तं मन्यन्ते ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

अग्निः सर्वा देवताः ... ...
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्० ... ...

अर्थात्—क. अग्नि पृथिवी स्थानी है अर्थात् भौतिक आग अग्नि शब्द का अर्थ है।

ख. अग्नि शब्द का अर्थ विद्युत् भी है जैसा कि "अभिप्रवन्त समनेव योषा" ऋ० ४।५८।८॥ इस मन्त्र में अग्नि शब्द का अर्थ विद्युत् है।

ग. अग्नि शब्द का अर्थ सूर्य भी है।

घ. अग्नि शब्द सब देवताओं का वाचक है।

इस प्रकार निरुक्त में प्रकरण यह चल रहा है कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उसकी पुष्टि में यास्क ने "इन्द्रं मित्रं०" यह ऋचा दी है। यदि मन्त्र की दुर्ग की व्याख्या ठीक मानी जावे तो मन्त्र में तो इस बात का वर्णन ही नहीं है कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं फिर यह ऋचा यास्क ने इस बात की पुष्टि में क्यों दी कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इस बात को यह ऋचा अधिक स्पष्ट रूप से बताती है यह यास्क का कथन असंगत ही होगा।

दुर्ग ने जो तीन बातें कही हैं कि यह जो सूर्य है यह भी अग्नि है। अग्नि और परमात्मा अभिन्न पदार्थ हैं। और इसी के इन्द्र आदि नाम हैं। इन तीनों बातों का उस प्रकरण से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। प्रकरण तो केवल वहां निरुक्त में इतना ही है कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ हैं उसकी पुष्टि में यह ऋचा यास्क ने उद्धृत की है। यास्क कहता है कि—

इन्द्रं मित्रं वरुणम्—इन्द्र मित्र वरुण को (उद्देश्य)
अग्निम् आहुः—अग्नि शब्द से कहते हैं (विधेय)

दुर्ग उस से उलटा कहता है कि—

अग्निम्—अग्नि को (उद्देश्य)
इन्द्रं मित्रं वरुणम् आहुः—इन्द्र मित्र वरुण नाम से कहते हैं (विधेय)

उद्देश्य को प्रथम कहा जाता है और विधेय को बाद में कहते हैं। मन्त्र में है—

इन्द्रं मित्रं वरुणम्—(उद्देश्य)
अग्निम् आहुः—(विधेय)

वेद में 'अग्निम् इन्द्रं मित्रं वरुणमाहुः' पाठ नहीं है। 'उद्देश्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' उद्देश्य को बिना कहे विधेय को पहले नहीं कहना चाहिये। पहले उद्देश्य को कहना चाहिये फिर विधेय को कहना चाहिये यह नियम है।

फिर दूसरे वाक्य में दुर्गाचार्य "अथो दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्" की व्याख्या करता हुआ अग्नि को विधेय बनाता ही है और सूर्य को उद्देश्य कोटि में रखता है कि—इस सूर्य को अग्नि कहते हैं कि यह जो सूर्य है वह अग्नि ही है। यहां उद्देश्य विधेय तो कम से कम ठीक कर लिये। फिर दुर्ग कहता है कि अग्नि को अग्नि कहते हैं यहां क्या नवीन बात वेद ने कही।

यह अग्नि परमात्मा से अभिन्न पदार्थ है यह भी अपसिद्धान्त ही है। इस प्रकार निरुक्त की दुर्गकृत टीका इस स्थल की असंगत ही है। दुर्ग की टीका का ही आश्रय लेकर निरुक्त की व्याख्या करने वाले प० मुकुन्द झा बखशी और प० सीताराम आदि पण्डितों की समालोचना और महर्षि की उपेक्षा करने वाले आर्यविद्वानों की क्या समालोचना करें।

(स्कन्दकृत निरुक्त और 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा की अधूरी व्याख्या)

(दीर्घतमसः) इस मन्त्र का दीर्घतमा ऋषि है। (इन्द्रं मित्रम् वरुणं चाग्निमाहुः) इन्द्र मित्र और वरुण को अग्नि इस नाम से कहते हैं। (अग्नि शब्देन ब्रुवन्तीत्यर्थः) अर्थात् अग्नि शब्द के ये उपर्युक्त अर्थ हैं। (परस्तात् तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः अथ शब्दश्चार्थे) मन्त्र में 'स सुपर्णो गरुत्मान्' इस प्रकार आगे 'स' यह तत् शब्द का रूप आता है अतः यत् शब्द का अध्याहार करके अर्थ करना चाहिये। और 'अथ' शब्द मन्त्र में 'च' के अर्थ में है अतः (यश्च) और जो (अयं दिव्यो दिवि भवः) द्युलोक में रहने वाला (सुपर्णः रश्मिनामैतत्। अन्तर्णीतमत्वर्थं सुपर्णवान् इत्यर्थः) सुपर्ण का अर्थ रश्मि = किरण है। मत्वर्थ अन्तर्हित है अर्थात् रश्मियों वाला (शोभनं वा पतनं गमनं यस्य स सुपतनः सुपर्ण आदित्यः) या सुपर्ण का अर्थ है सुन्दर गति वाला सूर्य। (गरुत्मान् गरुत् गरणं भौमानां रसानां रश्मिभिः गरणेन तद्वान् छान्दसत्वात् तभावो गरिता इत्यर्थः) पृथिवीस्थ रसों का किरणों से ग्रहण करने वाला। गरुत्मान् के स्थान पर गरुन्मान् होना चाहिये था पर वैदिक शब्द होने से गरुत्मान् शब्द है (अथवा गुर्वात्मा सन् गरुत्मान्) अथवा गरुत्मान् शब्द का अर्थ है महान् स्वरूप वाला सूर्य (स इति द्वितीयार्थे प्रथमा) मन्त्र में "स सुपर्णो गरुत्मान्" है यहां सः यह प्रथमा विभक्ति का रूप द्वितीया के अर्थ में है (तं च अग्निमाहुः) और उस सूर्य को भी अग्नि इस नाम से कहते हैं।

(समीक्षा)

स्कन्द का अभिप्राय यह है कि इन्द्र मित्र वरुण और सूर्य का नाम अग्नि है।

अर्थात् अग्नि शब्द के इन्द्र मित्र वरुण सूर्य अर्थ हैं । यह 'इन्द्रं मित्रम्' इस ऋचा को पूर्वार्द्ध भाग की व्याख्या स्कन्दकृत ठीक है। पर ऋचा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करता हुआ स्कन्द कहता है कि—

(परेऽर्धर्चे भिन्नं वाक्यम्) ऋचा के उत्तरार्द्ध भाग में पृथक् वाक्य है। (किं च एकं सत् कारणम् आत्माख्यं वस्तु विप्राः मेधाविनो बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानं चाहुः इति प्रदर्शनमात्रं चेदम्) आत्मा नाम वाली वस्तु जो सब का कारण है उस को अग्नि यम और मातरिश्वा नामों से पुकारते हैं। ये तीन नाम भी उपलक्षणमात्र हैं (सर्वैर्हि शब्दैस्तेन तेन विकारात्मना ऽवस्थितः कारणात्मैवोच्यते) कारणात्मा परमात्मा जिस जिस विकार रूप से परिणत होकर जो जो नाम धरता है उन सब ही नामों से परमात्मा को कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही नवीन वेदान्तियों के मत के अनुसार अग्नि सूर्य पृथिवी आदि रूपों में परिणत हो जाता है। ये जितने भौतिक पदार्थ हैं उनके जितने नाम हैं उन सब नामों से कारणात्मा परमात्मा को कहा जा सकता है। (एवमस्या ऋचः पूर्वार्धर्चे इन्द्रादयो ऽग्निशब्देनोच्यत इत्येतदाह) इस प्रकार इस ऋचा के पूर्वार्द्ध भाग में बताया है कि अग्नि शब्द के इन्द्रादि अर्थ हैं। (परः सर्वशब्दकारणात्मेति) ऋचा के उत्तरार्ध में बताया है कि सब शब्दों का कारणात्मा=परमात्मा अर्थ है। अर्थात् सब शब्द परमात्मा वाचक हैं।

(समीक्षा)

स्कन्द का यह कहना कि ऋचा के उत्तरार्ध में पृथक् वाक्य है यह असत्य है। कहना यह चाहिये कि ऋचा के उत्तरार्ध भाग में दो पृथक् पृथक् वाक्य हैं।

१—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

२—अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

स्कन्द का यह सिद्धान्त मानना कि परमात्मा ही नाना वस्तु रूप धारण कर लेता है यह भी अपसिद्धान्त है। इसी प्रवाह में स्कन्द ऋचा के उत्तरार्ध भाग में स्थित दो वाक्यों को एक वाक्य समझ बैठा है।

आगे चल कर स्कन्द दुर्गाचार्य पर आक्षेप करता है कि (कस्मात् पुनः पूर्वार्द्धं च एवं न व्याख्यायते) ऋचा के पूर्वार्द्ध भाग की व्याख्या इस प्रकार क्यों नहीं कर देनी चाहिये कि (इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमेवाहुरिति) अग्नि पदार्थ के ही इन्द्र मित्र वरुण ये नाम हैं जैसी व्याख्या दुर्ग ने की है (उच्यते) इसका उत्तर स्कन्द देता है कि (एवं व्याख्यायमाने इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिः प्रदर्शिता स्यात् नाग्निशब्दस्येन्द्रादिषु) यदि यह व्याख्या की जावेगी तो इसका अभिप्राय यह होगा कि इन्द्रादि शब्दों का अग्नि पदार्थ अर्थ है न कि अग्नि शब्द के इन्द्र आदि अर्थ हैं। (अग्नि शब्दस्य

देवतान्तरेष्वपि प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थमस्या ऋच इहोपादानम्) अग्नि शब्द के अनेक अर्थ इन्द्र आदि होते हैं इस बात को बताने के लिये यास्क ने इस ऋचा को उद्धृत किया है। यह दुर्ग की समालोचना जो यास्क ने की है ठीक है।

विस्तृत विवेचना संस्कृतभाष्य में देखो। स्कन्द भी तीन आख्यात और दो अग्नि शब्द ऋचा में क्यों आये हैं इसको न समझ सका।

इस 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा में तीन बातें बताई हैं जैसा पूर्व लिखा जा चुका है कि

१—अग्नि शब्द के अनेक अर्थ हैं।

२—भौतिक अग्नि के अनेक नाम हैं।

३—परमात्मा के भी अनेक नाम हैं।

निरुक्त में प्रकरणगत केवल इतनी बात है कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। क्योंकि पूरे मन्त्र में तीन बातों का वर्णन है अतः यास्क ने निरुक्त में तीनों बातों की व्याख्या कर दी है। ऋचा का उत्तरार्ध भाग है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'

अर्थात्—एक परमात्मा को अनेक नामों से पुकारते हैं और भौतिक अग्नि को यम मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं। इस उत्तरार्ध की व्याख्या यास्क ने पहले कर दी है।

इममेवाग्निं महान्तं च आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति

(निरुक्त ७। १८ ॥)

अर्थात्—इस भौतिक अग्नि को और परमात्मा को अनेक नामों से बुद्धिमान लोग पुकारते हैं। ऋचा के पूर्वार्द्ध की व्याख्या यास्क ने बाद में की है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्=ऋचा

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं, दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यो दिविजः।

गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा=ऋचा व्याख्या निरुक्त में

इस प्रकार इस मन्त्र का परमात्मा परक अध्यात्म अर्थ भी है जैसा कि निरुक्त परिशिष्ट में लिखा है कि—

अथैतं महान्तमात्मानमेष ऋग्गणः प्रवदति—"इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुः" इति । अथैष महानात्मा ऽऽत्मजिज्ञासया ऽऽत्मानं प्रोवाच "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः" "अहमस्मि प्रथमजाः"
(निरुक्त परिशिष्ट १४ । १॥)

अर्थात्—'इन्द्रं मित्रं०' यह ऋचा तथा 'अग्निरस्मिजन्मना जातवेदाः' और "अहमस्मि प्रथमजाः" ये ऋचाएं महान् आत्मा परमात्मा का वर्णन करती हैं।

स्कन्द का यह कहना भी असत्य है कि 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्' इस निरुक्त के वाक्य में 'एव' शब्द को 'महान्तम्' के आगे रख कर वाक्य बनाओ कि "इममग्निं महान्तमेवात्मानम्"। 'एव' शब्द निरुक्त में जहां है वहीं ठीक है । 'इममेवाग्निम्' का अर्थ है भौतिक अग्नि वैसे अग्नि तो विद्युत् और सूर्य भी है । 'इममेव' का अर्थ है इसी भौतिक अग्नि को । स्कन्द महाशय के पास चकार रहित निरुक्त का पाठ है और नवीन वेदान्त का अपसिद्धान्त मस्तिष्क में घुसा हुआ है अतः इधर उधर बहकते हैं।

(वेङ्कटमाधव की अपव्याख्या)

ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कट माधव 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा की व्याख्या इस प्रकार करता है कि—

ब्राह्मण में लिखा है कि अग्नि शब्द सब देवताओं का वाचक है । इस बात को विस्तार से बताने के लिये यह ऋचा है कि इन्द्र आदि देवों का वाचक अग्नि शब्द है।

एक ही अग्नि नाना शरीर धारी नाना रूपधारी होता है उस एक ही अग्नि को यम और मातरिश्वा कहते हैं। संस्कृत व्याख्या पृ० १५५—१५६ पर देखो।

(समीक्षा)

वेङ्कटमाधव भी तीन आख्यातपदों का और अग्नि शब्द के दो बार उच्चारण का कारण नहीं जानता। केवल दो आख्यात पदों की व्याख्या कर सका है।

(सायणाचार्य की अपव्याख्या)

सायण तो 'इन्द्रं मित्रं०' इस सम्पूर्ण ऋचा को आदित्यपरक समझता है कि इस ऋचा में सूर्य का वर्णन है। सायण का किया अर्थ इस प्रकार है कि—

इसी आदित्य को ऐश्वर्य युक्त होने से इन्द्र कहते हैं। यह आदित्य मरण से रक्षा करता है इस लिए दिन के अभिमानी देवता आदित्य को मित्र नाम से पुकारते हैं। पाप का निवारक यह

आदित्य है अतः रात्रि का अभिमानी देव वरुण यह है । अङ्गनादि गुणयुक्त होने से इसको अग्नि कहते हैं । गरुड़ नाम का जो पक्षी है वह भी यह द्युलोक में रहने वाला गतिमान् आदित्य ही है।

प्रश्न—यह आदित्य तो एक ही है यह नाना कैसे है ?

उत्तर—वस्तुतः सूर्य एक ही है पर इस एक को ही देवतातत्त्ववेत्ता मेधावी लोग विशेष विशेष कारण से इन्द्र आदि रूप से बताते हैं क्योंकि कहा है कि 'एक ही महान् आत्मा जो है वह सूर्य ही है' उस आदित्य को ही वृष्टि आदि का कारण वैद्युत अग्नि बताते हैं नियन्ता होने से उसी आदित्य को यम कहते हैं । अन्तरिक्ष में जो यह वायु है यह भी सूर्य ही है । सूर्य और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं ।

जो लोग 'अग्नि शब्द सब देवताओं का वाचक है' इस श्रुति के आधार पर कहते हैं कि अग्नि शब्द विद्युत् और सूर्य का वाचक भी है उनके मत में अग्नि की ही प्रतिपादिका 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा है तदनुसार ऋचा में जो दो बार अग्नि शब्द आया है उस में से प्रथम अग्नि शब्द उद्देश्य है दूसरा अग्नि शब्द तथा अन्य इन्द्रादि विधेय हैं अर्थात् अग्नि को अग्नि तथा इन्द्र आदि कहते हैं। इस मन्त्र की वैसी व्याख्या निरुक्त में की है । (संस्कृत व्याख्या पृष्ठ १५६ पर देखो ।)

(समीक्षा)

यह सायणाचार्य के पाण्डित्य का नमूना है । वह ऋचा में तीन आख्यात पदों का कारण नहीं जानता है और दो बार जो अग्नि शब्द आया है उस में एक अग्नि शब्द का अर्थ अङ्गनादि गुणयुक्त और दूसरे अग्नि शब्द का अर्थ विद्युत करके सन्तोष कर लेता है । यह विचित्र संगति है । पक्षान्तर का वर्णन करता हुआ सायण कहता है कि अग्नि को अग्नि कहते हैं । निरुक्त की व्याख्या को सायण अपने पक्ष में नहीं समझता है।

(आत्मानन्द की अपव्याख्या)

ऋग्वेद के अस्यवामीयसूक्त के व्याख्याकार आत्मानन्द ने जो कि नवीन वेदान्ती है 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा की व्याख्या इस प्रकार की है कि—

'चत्वारि वाक्०' इस मन्त्र में नाना पदार्थों का वर्णन है अतः द्वैत सिद्ध होता है हम लोग अद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं । इस के समाधान के लिये 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा है कि एक के ही अनेक नाम हैं । अथवा **"त्रयः केशिनः०"** इस मन्त्र में तीन देवता माने हैं तब फिर इन्द्र आदि देवता नहीं हो सकते । इस शङ्का की निवृत्ति के लिये यह ऋचा है कि एक के ही नाना नाम हैं । तीन देव हैं यह कथन यज्ञ के दृष्टिकोण से है ।

इन्द्र परमात्मा है जैसे ऋ० १।३२।२।।, मित्र परमात्मा है जैसे ऋ० ३।५९।१।।, वरुण

परमात्मा है जैसे ऋ० १।२४।५॥, अग्नि परमात्मा है जैसे ऋ० २।१।६६॥, दिव्य सूर्य भी परमात्मा है जैसे ऋ० १।११५।१॥, वह परमात्मा ही गरुत्मान सुपर्ण है। और अग्नि अर्थात् रुद्र भी परमात्मा है जैसे ऋ० २।३३।६।१०॥, यम भी परमात्मा है जैसे ऋ० १०।१४।१६॥, मातरिश्वा भी परमात्मा है जैसे ऋ० १०।१६८।४॥,

इन्द्र=परमैश्वर्यवान्। मित्र=हिंसा से रक्षा करने वाला। वरुण=स्वीकार करने वाला। अग्नि=अपने स्वरूप को प्राप्त कराने वाला अथवा ज्ञानवान्। दिव्य=प्रकाशमान् बुद्धि में स्थित। सुपर्ण=सुन्दर मोक्ष पक्ष वाला। गरुत्मान्=संसार और मोक्ष रूप दो पक्षों वाला। रुद्र=रुलाने वाला। अग्नि=अग्रणी। यम=वश में करने वाला। मातरिश्वा=जिस के रुष्ट होने पर मातरि-माया में पड़ा जीव श्वा—कुत्ते के समान होता है।

एक ही ब्रह्म को यज्ञ कार्य सिद्धि के लिये ब्राह्मणत्वाभिमानी विद्वान् इन्द्र आदि नाना नामों से कहते हैं। अथवा मेधावी लोग ऐसा कहते हैं कि इन्द्रादि रूप में स्थित एक ही सत्ता ब्रह्म है। जैसा कि कल्पकार कहते हैं कि—

इन्द्र आदि शब्द गुणों के कारण या व्याकरण की व्युत्पत्ति द्वारा परेश के ही वाचक हैं। यद्यपि याज्ञिक लोग नाना देव रूप में वर्णन करते हैं पर विज्ञ लोग नाना नामों से जिसका वर्णन है उसको एक ही बताते हैं। (संस्कृत व्याख्या पृष्ठ १५७-१५८ पर देखो)

(समीक्षा)

ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त का भाष्यकार आत्मानन्द क्योंकि नवीन वेदान्ती पण्डित है अतः उस को अद्वैत ही दिखाई देता है। "इन्द्रं मित्रम्०" ऋचा में तीन आख्यात क्यों हैं और अग्नि शब्द मन्त्र में दो बार क्यों आया है इस पर वह विचार ही नहीं करता। दो अग्नि शब्दों की दो व्युत्पत्ति कर देता है और एक अग्नि शब्द को अग्निपरक मानकर और दूसरे अग्नि शब्द को रुद्रवाचक मान कर सन्तोष कर लेता है। हां शब्दों की व्युत्पत्तियां आत्मानन्द अच्छी करता है और वह समझता है यौगिक प्रक्रिया के द्वारा शब्दों की व्याख्या करनी चाहिये।

(अरविन्द की अपव्याख्या)

श्री अरविन्द महोदय ने 'आन दि वेद' नामक अपने ग्रन्थ में 'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा की व्याख्या अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार की है कि—

सत्ता एक है ऐसा दीर्घतमा ऋषि कहता है। पर विज्ञ लोग उसको नाना प्रकार से वर्णन करते हैं। वे उस सत्ता को इन्द्र वरुण मित्र अग्नि कहते हैं और वे उस को अग्नि यम मातरिश्वा नामों से पुकारते हैं। (अंग्रेजी व्याख्या पृष्ठ १५६ पर देखो)

समीक्षा

ऋचा में तीन क्रियाएं क्यों हैं और अग्नि शब्द मन्त्र में दो बार क्यों आया है

इस को श्री अरविन्दजी समझते ही नहीं थे। "वे उस को अग्नि कहते हैं" या "वे उस को अग्नि नाम से पुकारते हैं" इस में क्या भेद है? एक ही बात है। अरविन्दजी के अर्थ करने की शैली से पता चलता है कि अरविन्दजी मन्त्रों को ऋषिकृत मानते हैं ईश्वरकृत नहीं ऐसा विचार अनार्यों का है आर्य सदा से वेदों को अपौरुषेय मानते चले आरहे हैं। अरविन्दजी ने स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी के वेदभाष्य की प्रशंसा करके अपने अवैदिक विचारों की रक्षा करली। यह अरविन्दजी स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी के वेदभाष्य के प्रशंसक हैं इस भ्रम में पड़ कर आर्यविद्वान् अरविन्दजी के प्रशंसक बन गये और अरविन्द के असत्यसिद्धान्तों और असंगत वेदव्याख्या की उपेक्षा कर दी। ये अरविन्द महोदय न केवल मन्त्रों को मनुष्यकृत मानते हैं प्रत्युत परम्परागत निर्वचनों को भी काल्पनिक मानते हैं। अरविन्दजी स्वयं ऋषि अपने को मान बैठे पर कहीं भी इन्होंने स्वामीदयानन्दजी को ऋषि नहीं लिखा। अन्तर्याग और बहिर्याग का ढोंग रच कर वेद-मन्त्रों के आध्यात्मिक आदि अर्थों की अवहेलना की और शब्दों के अनेक निर्वचनों को हेय ठहराया। इन के सम्प्रदाय के वेद भाष्य जो सिद्धाञ्जन भाष्य कपालिशास्त्री का है उसमें बिना नाम लिये महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का खण्डन किया है जैसे महर्षि ने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र "अग्निमीळे" में यज्ञस्य इस षष्ठी विभक्ति का अन्वय सब के साथ लगाया है सिद्धाञ्जनभाष्य में इसका उपहास किया है।

(ग्रिफिथ की अपव्याख्या)

ऋग्वेद के अपने अंग्रेजी अनुवाद में ग्रिफिथ महोदय 'इन्द्रं मित्रं०' ऋचा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—

वे पुकारते हैं उसको इन्द्र मित्र वरुण अग्नि। और वह स्वर्गीय सुन्दर पंखों वाला है। जो कि एक है उसको विज्ञ लोग नाना नाम देते हैं। वे पुकारते हैं उस को अग्नि यम मातरिश्वा। (अंग्रेजी व्याख्या पृष्ठ १५६ पर देखो)

(समीक्षा)

ग्रिफिथ इतना ही समझता है कि इस ऋचा में यह बताया गया है कि एक सत्ता के अनेक नाम हैं। उन अनेक नामों में अग्नि नाम दो बार क्यों आया यह वह नहीं समझ पाया और न तीन क्रियाओं को ही जान सका कि ये क्यों हैं।

(विल्सन की अपव्याख्या)

इसी प्रकार ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद कर्ता विल्सन महोदय इस ऋचा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—

वे नाम धरते हैं सूर्य का इन्द्र मित्र वरुण अग्नि। वह है स्वर्गीय और सुन्दर पंखों वाला।

विप्र लोग पुकारते हैं उस एक को अनेक नामों से जैसा कि वे कहते है उस को अग्नि यम मातरिश्वा।

सायण के अनुसार इस ऋचा में सूर्य का वर्णन है और यास्क के अनुसार अग्नि का। परन्तु सूर्य और अग्नि एक ही वस्तु हैं जैसे अन्य देव। ऋग्वेद का साहित्य बताता है कि "एकैव वा महानात्मा देवता सूर्यः" अर्थात् दिव्य सूर्य ही सब से बड़ा देवता है। "अग्निः सर्वा देवता" अग्नि सब देवताओं का रूप है। (अंग्रेजी व्याख्या पृष्ठ १५९—१६० पर देखो)

(समीक्षा)

विलसन इतना ही समझता है कि अग्नि और सूर्य एक ही हैं अतः सायण के अनुसार यह ऋचा सूर्यपरक है और यास्क के अनुसार अग्निपरक। इस मतभेद को वह निरर्थक मानता है पर विल्सन भी इस ऋचा में तीन क्रियाओं को और अग्निशब्द के दो बार कथन को सोच भी न सका।

(गोल्डनर की अपव्याख्या)

मिस्टर गोल्डनर ने जर्मनभाषा में ऋग्वेद का अनुवाद किया है उन के अनुसार इस ऋचा की व्याख्या इस प्रकार है कि—

वे पुकारते हैं उस को इन्द्र मित्र वरुण अग्नि। और वह स्वर्गीय पक्षी है। जो एक है उस को विप्र लोग नाना प्रकार से कहते हैं। वे पुकारते हैं उस को अग्नि यम मातरिश्वा। शब्दों का धनापन और विश्व की एकता। (जर्मनभाषा व्याख्या पृष्ठ १६० पर देखो)

(समीक्षा)

गोल्डनर भी तीन आख्यातपदों को और अग्नि शब्द के दो बार उच्चारण को नहीं समझता है।

वस्तुतः बात यह है कि ये पाश्चात्य विद्वान् सायण के अनुगामी हैं इनकी अपनी अक़्ल कुछ नहीं अतः इन पाश्चात्यों की समालोचना व्यर्थ है।

'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा के सम्बन्ध में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि—

'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा का अर्थ या तो परमात्मा स्वयं समझता था अथवा यास्क और महर्षि दयानन्द सरस्वती समझ सके और स्कन्द भी इस ऋचा को आधा ही समझ सका और कोई भी वेदभाष्यकार इस ऋचा को समझने में समर्थ न होसका।

(ऋचा का छन्द)

'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा में निचृत् त्रिष्टुप् छन्द है। त्रिष्टुप् छन्द के चारों पादों में ग्यारह ग्यारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार ४४ अक्षर त्रिष्टुप् छन्द में बनते हैं। परन्तु इस ऋचा के तृतीय पाद में दस ही अक्षर हैं अर्थात् एक अक्षर कम है। एक अक्षर कम वाले छन्द को निचृत् कहते हैं अतः इस ऋचा में निचृत् त्रिष्टुप् छन्द है ऐसा कहा जाता है। तृतीय पाद में एकाक्षर की कमी तृतीय पाद के पृथक् विश्राम देकर पाठ करने से दूर हो सकती है। **"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"** इस प्रकार बिना सन्धि किये तृतीय पाद को पृथक् पढ़ा जावे। क्या यह विश्राम देकर पढ़ना इस बात का ज्ञापक है कि तृतीय पाद पृथक् वाक्य है छन्दः शास्त्र के जानने वालों को इन बातों पर विचार करना चाहिये।

सारांश यह है कि 'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा जहां यह बताती है कि अग्नि शब्द के अनेक अर्थ हैं वहां इस बात को भी यह ऋचा बताती है कि एक परमात्मा के अनेक नाम हैं। इस लिये जो यह कहा था कि अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर है इस बात में मन्त्र स्वयं प्रमाण है यह सिद्ध हुआ।

'इन्द्रं मित्रम्०' ऋचा की व्याख्या में प्रसङ्गानुगत बहुत विस्तार से वर्णन होचुका। अब द्वितीय मन्त्र इसी बात की पुष्टि में दिया जाता है कि अग्नि आदि शब्द ईश्वर के भी वाचक हैं "तदेवाग्निस्तदादित्यः०"

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(यजु० ३२ । १ ॥)

तत् । एव । अग्निः । तत् । आदित्यः । तत् । वायुः । तत् । ऊँ इत्यूँ[1] । चन्द्रमाः । तत् । एव । शुक्रम् । तत् । ब्रह्म । ताः । आपः । सः । प्रजापतिरिति प्रजा ऽ पतिः[2] ।

१—यजुर्वेद के पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञा वाले मन्त्र के पदों को दो बार लिखकर उनके बीच में इति शब्द लगाते हैं। ऋग्वेद के पदपाठ में केवल एक बार लिखकर इति शब्द लगा देते हैं। ऊँ इति।

२—यजुर्वेद के पदपाठ में समस्त पदों को दो बार लिख कर बीच में इति शब्द लगाते हैं और दुबारा लिखे में अवग्रह दिखाते हैं। ऋग्वेद के पदपाठ में समस्त पदों में केवल अवग्रह दिखाते हैं पर दो बार नहीं लिखते। प्रजा ऽ पतिः ।

(महर्षिकृत अर्थ)

(तत्) वह प्रसिद्ध सच्चिदानन्दादि सत् (एव) निश्चय करके (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि शब्द वाच्य है। (तत्) वह (आदित्यः) प्रलयकाल में सब का ग्रहण करने वाला होने से आदित्य शब्द वाच्य है। (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सब का धारक होने से वायु शब्द वाच्य है। (तत्) वह (उ) निश्चय करके (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा शब्दवाच्य है। (तत्) वह (एव) निश्चय करके (शुक्रम्) शीघ्रकारी वा शुद्धभाव होने से शुक्र शब्दवाच्य है। (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म शब्दवाच्य है। (ता आपः) वह सर्वत्रव्यापक होने से अप् शब्दवाच्य है। (स प्रजापतिः) वह सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति शब्द वाच्य है।

जैसा कठोपनिषत् में भी लिखा है कि—

वह ब्रह्म शुक्र पदवाच्य है। उस ब्रह्म को अमृत नाम से भी कहते हैं। उस में सब लोक आधारित हैं उस का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। (संस्कृत प्रमाण पृ० १६२ पर देखो।)

(उवट महीधर की इस मन्त्र की अपव्याख्या)

उवट महीधर ने इस मन्त्र की अशुद्ध व्याख्या इस प्रकार की है कि—

(अग्निः) आग (तदेव) ब्रह्म ही है। (आदित्यः) सूर्य (तत्) ब्रह्म है। (वायुः) हवा (तत्) ब्रह्म है। (चन्द्रमाः) चन्द्र (तदु) ब्रह्म ही है। (शुक्रम्) त्रयीलक्षण (ब्रह्म) वेद (तदेव तत्) ब्रह्म ही है। (ताः) प्रसिद्ध (आपः) जल [ब्रह्म ही है] (सः) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजापति भी [ब्रह्म ही है]

उवट और महीधर का अभिप्राय यह है कि यह 'तदेवाग्निस्तदादित्यः०' मन्त्र अद्वैत प्रतिपादक है जिस में बताया गया है कि आग भी ब्रह्म है। सूर्य भी ब्रह्म है। वायु भी ब्रह्म है। चन्द्रमा भी ब्रह्म है। वेद भी ब्रह्म है। जल भी ब्रह्म है और प्रजापति भी ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म के ही विवर्तरूप विकारभूत ये आग आदि हैं! उवट महीधर की उपर्युक्त व्याख्या में निम्नलिखित दोष हैं—

(१)—उवट महीधर के अर्थ के अनुसार अग्नि आदि उद्देश्य हैं और ब्रह्म विधेय है अर्थात् अग्नि ब्रह्म है' सूर्य ब्रह्म है। ऐसी स्थिति में मन्त्र में अग्नि आदि शब्द पहले आने चाहिये और 'तदेव' बाद में होना चाहिये क्योंकि यह नियम है कि 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत' अर्थात् अनुवाद्य=उद्देश्य को बिना कहे विधेय को पहले नहीं रखना चाहिये। यदि यह मन्त्र अद्वैत प्रतिपादक होता तो इस प्रकार होना चाहिये था कि 'अग्निस्तदेव आदित्यस्तत' इत्यादि।

इस मन्त्र की महर्षिकृतव्याख्या में तो 'ब्रह्म अग्निपद वाच्य है, वह ब्रह्म आदित्य पद वाच्य है' इत्यादि में ब्रह्म उद्देश्य है और उसके नाम विधेय हैं ।

(२)—इस मन्त्र में आठ तत् शब्द हैं और आठ ही नाम हैं ।

१—तदेव	१—अग्निः	।	२—तत्	२—आदित्यः
३—तत्	३—वायुः	।	४—तदु	४—चन्द्रमाः
५—तदेव	५—शुक्रम्	।	६—तत्	६—ब्रह्म
७—ताः	७—आपः	।	८—सः	८—प्रजापतिः

उवट महीधर की व्याख्या में तो ब्रह्मविकारभूत सात ही हैं १-अग्निः । २-आदित्य। ३—वायुः । ४—चन्द्रमाः । ५—शुक्रं ब्रह्म = त्रयीलक्षण वेद । ६-आपः । ७-प्रजापतिः। शुक्र शब्द को विशेषण बना कर ब्रह्म=वेद के साथ उवट महीधर जोड़ते हैं कि "शुक्रम्=शुद्ध त्रयीलक्षण ब्रह्म=वेद भी ब्रह्म ही है"। इसी दोष को मन में समझकर सायणाचार्य ने तैत्तिरीयारण्यक में आये इस मन्त्र की व्याख्या में शुक्र शब्द का अर्थ नक्षत्र कर दिया और ब्रह्म का अर्थ वेद ही रखा है इस प्रकार सायण ने आठ विकार ब्रह्म के बना लिये उवट महीधर से यह भी नहीं हुआ । उवट महीधर "तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म" एक ही वाक्य में दो तत् शब्द घुसेड़ता है— "शुक्रं ब्रह्म तदेव तत्"

(३)—उवट और महीधर की व्याख्या में दो तत् शब्दों का अध्याहार करना पड़ता है क्योंकि वे 'ता आपः' और 'सः प्रजापतिः' इन दो वाक्यों में ताः=प्रसिद्ध सः=प्रसिद्ध ऐसा अर्थ करके 'ता आपः तदेव, स प्रजापतिः तदेव' इस प्रकार दो बार 'तदेव' का अध्याहार उवट महीधर को करना पड़ा है ।

(४)—इस 'तदेवाग्निस्तदादित्यः०' मन्त्र में न तो कारण शब्द है और न जड़ आदि क्रियायें ही हैं जो ऐसा अर्थ किया जावे कि अग्नि कारणभूत ब्रह्म ही है।

(५)—यद्यपि मन्त्र में नाम शब्द भी नहीं है और ना ही अस्ति आदि क्रियायें ही हैं जो यह अर्थ हो कि (तदेव) वह ब्रह्म ही (अग्निः) अग्नि नाम वाला है तथापि अन्यत्र सर्वत्र ऐसे प्रकरणों में 'आहुः, उच्यते, वदन्ति' आदि क्रियाओं का प्रयोग है और यह नियम है कि अस्ति भवति तो सर्वत्र न होने पर भी लगा लिये जाते हैं ।

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुः । (तै० आ० १० । १ । १ ॥)

तदेवामृतमुच्यते । (कठ० २ । ८ ॥)

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥)

एतमेके वदन्त्यग्निम्० । (मनु० १२ । १२३ ॥)

इत्यादि अनेक स्थलों पर इस बात का वर्णन है कि ब्रह्म के अग्नि, ऋत, सत्य, अमृत आदि नाना नाम हैं।

प्रश्न—जिस प्रकार 'तदेवाग्निस्तदादित्यः०' में सर्वत्र तो 'तत् अग्निः तत् आदित्यः, तत् वायुः, तत् चन्द्रमाः, तत् शुक्रम्, तत्ब्रह्म' है उसी प्रकार 'तत् आपः तत् प्रजापतिः' होना चाहिये था परन्तु मन्त्र में 'ता आपः स प्रजापतिः' ऐसा होने से सन्देह होता है कि उवट महीधर का ही अर्थ ठीक होगा। ताः=प्रसिद्ध आपः=जल ब्रह्म ही है और सः=प्रसिद्ध प्रजापतिः=प्रजापति ब्रह्म ही है।

उत्तर—उवट महीधर की व्याख्या में हमने पांच दोष दिखाये हैं उन का कोई उत्तर नहीं है। 'ता आपः स प्रजापतिः' के सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि—

१—वेदों की शाखाएं वेदों के व्याख्यानग्रन्थ हैं। वेद की शाखाओं के वेदव्याख्यान करने के कई प्रकार हैं।

क. कहीं कहीं तो वेदशाखाकार मन्त्रों को प्रकरणविशेष में डाल देते हैं जिस से पता चल जाता है कि इस मन्त्र का इस विषय में भी अर्थ है।

ख. कहीं वेदशाखाकार वेदमन्त्रों में आये किसी कठिन शब्द की व्याख्या करने के लिये पर्यायवाचक शब्द का प्रयोग कर देते हैं शेष मन्त्र जैसा का तैसा रहने देते हैं। सायणाचार्य आदि मन्त्रों के पदों को रख रख कर व्याख्या करते हैं जैसे ईडे स्तौमि। पर वेङ्कटमाधव का भाष्य लिखने का प्रकार यह है कि वह अपने भाष्य में मन्त्रों के पदों को रख रख कर भाष्य नहीं करता प्रत्युत केवल व्याख्याशब्दों को ही रख देता है जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्०' मन्त्र के भाष्य में वेङ्कटमाधव इतना ही लिखता है कि— 'अग्निं स्तौमि पुरो निहितम्' यही प्रकार वेदशाखाकारों का है जैसे—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
(ऋ० १०।७१।६॥)

इसी मन्त्र को तैत्तिरीयारण्यक में इस प्रकार लिखा है कि—

यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
(तै० आ० १।३।१॥)

यहां 'सचिविदं' की व्याख्या 'सखिविदम्' है अर्थात सचि शब्द का अर्थ सखा है। सायणाचार्य भी इस मन्त्र में आए सचि शब्द का अर्थ सखा करता है—

सचिविदम् । सचि शब्दः सखिवाची सखिविदम् ।

(ऋ० १०।७१।६॥ सायणभाष्य)

इसी प्रकार काण्वशाखा और तैत्तिरीयारण्यक में--

ता आपः स प्रजापतिः । (यजु० ३२।१॥)

की व्याख्या इस प्रकार की है कि—

तदापस्तत् प्रजापतिः । (काण्व० ३५।३।१॥)

तदापस्तत् प्रजापतिः । (तै० आ० १०।१॥)

यहां 'ताः' और 'सः' की व्याख्या तत् स्पष्टरूप से की है । अतः महर्षि का भाष्य काण्व और तैत्तिरीयारण्यक संमत है। 'ताः=प्रसिद्धाः । सः प्रसिद्ध' यह उवट महीधर का भाष्य कुभाष्य ही है।

प्रश्न--महर्षि के भाष्य में भी तो सत् और नामधेय शब्दों का अध्याहार कर के ही व्याख्या की गई है।

उत्तर—'तदेवाग्निस्तदादित्यः०' जैसे अन्य मन्त्रों (इन्द्रं मित्रं०) में तथा मनु आदि के ग्रन्थों में भी 'आहुः' 'उच्यते' 'वदन्ति' आदि क्रियाओं के देखे जाने से यही प्रतीत होता है कि 'तदेवाग्नि०' मन्त्र में यही बताया गया है कि एक सत् पदार्थ के अनेक नाम हैं यही इस मन्त्र में वर्णित है।

२--क. 'तदेवाग्नि०' मन्त्र से पता चलता है कि तत् आदि शब्दों के प्रयोग में कहीं उद्देश्य की दृष्टि से लिङ्ग होता है और कहीं प्रतिनिर्देश्य=विधेय की दृष्टि से लिङ्ग होता है। 'ता आपः' में तत् सत् ब्रह्म उद्देश्य है और उस का नाम आपः विधेय है उस प्रतिनिर्देश्य=विधेय भूत 'आपः' के दृष्टिकोण से ताः यह स्त्रीलिङ्ग है और 'सः प्रजापतिः' में विधेय प्रजापति के दृष्टिकोण से सः यह पुल्लिङ्ग है।

ख. 'आपः' यह स्त्रीलिङ्ग शब्द भी परमात्मा का नाम है इस से पता चलता है कि परमात्मा के नाम सब लिङ्गों के शब्दों में हो सकते हैं । इसी लिये महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि—

"ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति"

(सत्यार्थ० श० स० भा० १ पृ० १०२॥)

अर्थात् परमात्मा के ब्रह्म आदि नाम नपुंसकलिङ्ग हैं। चिति आदि नाम स्त्री लिङ्ग में हैं और ईश्वर आदि नाम पुल्लिङ्ग में हैं।

यजुः सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि इस 'तदेवाग्नि०' मन्त्र का ऋषि स्वयंभु ब्रह्म है और इस मन्त्र का देवता आत्मा है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ १६६ पर देखो। तदेवाग्नि० मन्त्र की व्याख्या समाप्त हुई।

महर्षि के भाष्य में संस्कृत पदार्थ में जो अन्य प्रमाण हैं उन की व्याख्या हम पदार्थप्रदीप में विस्तार से करेंगे यह तो हमारा अन्वितार्थप्रदीप है जिस में अन्वय= अन्वितार्थ और पदार्थान्वयभाषा की केवल व्याख्या है।

महर्षि ने अपने ऋग्वेद के विस्तृतभाष्य में परमात्मावाचक अग्नि शब्द की व्याख्या व्याकरण और निरुक्त की शैली से जो की है वह इस प्रकार है—

यह अग्नि शब्द निम्नलिखित धातुओं से बनता है—

१—अगि गत्यर्थः। २—अञ्चु गतिपूजनयोः।
३—अग्र+णीञ् प्रापणे। ४—अग्र+इण् गतौ।

गति=ज्ञान गमन और प्राप्ति। पूजन=सत्कार। अञ्चति—जानाति=जो सर्वज्ञ है। अच्यते—ज्ञायते=जो वेदादि शास्त्रों से जाना जाता है। अञ्चति—गच्छति=जो सर्व व्यापक है। अच्यते—गम्यते प्राप्यते सर्वत्र=जो सब जगह प्राप्त किया जा सकता है। अञ्चति—प्राप्नोति=जो सब सुखों को प्राप्त है अर्थात् पूर्णकाम है। अच्यते—प्राप्यते=जो मुमुक्षु विद्वानों से प्राप्त किया जाता है। अञ्चति—सत्करोति पूजयति=जो धर्मात्माओं का आदर करता है।—अच्यते-पूज्यते=जो विद्वानों से पूजा जाता है।

शब्दसिद्धि का प्रकार नीचे दिखाया जाता है—

१—अगि+नि, अन्ग+नि, अग्+नि=अग्नि।

२—अञ्च + नि, अच् + नि, अग् + नि=अग्नि।

३—अञ्च + इ, अ न् च + इ, अ च् न् + इ, अग् + नि=अग्नि।

४—अग्र + णीञ् + क्विप्, अग् + नी, अग्+नि=अग्नि।

५—अग्र+इण्+क्विप्, अग्+र+इ, अग्+न्+इ=अग्नि।

६—अग्र + णीञ् + डि, अग् + नी, अग् + नि= अग्नि।

'अग्र + णी' का अर्थ पृष्ठ २०२ देखो। 'अग्र + इण्' यह व्युत्पत्ति शतपथब्राह्मण में है संस्कृतप्रमाण पृष्ठ १६८ पर देखो। अग्रे एति=जो सब से आगे है।

लैटिन भाषा में इग्निस् (Ignis) शब्द है। अग्नि शब्द की व्याख्या समाप्त हुई।

(यज्ञस्य होतारम्)

वह अग्नि=परमात्मा यज्ञस्य=यज्ञ का होता है। उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

यज्ञ शब्द के नीचे लिखे अर्थ हैं—

१—देवपूजा=विद्वानों का सत्कार और विद्वानों से की हुई पूजा। २—सत्संगति। ३—विद्यादि दान। ४—महिमा। ५—कर्म। ६—अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ। ७—विद्या विज्ञान योगादि। ८—जगत्।

होता शब्द के नीचे लिखे अर्थ हैं—

१—दाता=देने वाला। २—अत्ता=भक्षक, प्रलयकर्ता। ३—आदाता=स्वीकार करने वाला। ४—आदाता-आधारभूत। ५—आदाता=संहर्ता।

वह परमात्मा (यज्ञस्य) विद्वानों के सत्कार, सत्संगति, विद्यादिदान, महिमा, विद्या विज्ञान योगादि और अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ का (होता) देने वाला है। (यज्ञस्य) जगत् का (होता) आधारभूत है और (यज्ञस्य) जगत् का प्रलयकाल में (होता) संहार करने वाला है। (यज्ञस्य) विद्वानों से की हुई पूजा का और हमारे श्रेष्ठ कर्मों का (होता) स्वीकार करने वाला है। इस प्रकार के (यज्ञस्य) यज्ञ के (होतारम्) होता (अग्निम्) परमात्मा को (ईडे) हम लोग स्तुति करते हैं और प्रार्थना करते हैं।

'यज्ञस्य' इस षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध यदि 'देवम्' आदि के साथ किया जावे तब केवल "होतारम्" शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

(होतारम्) वह परमात्मा होता=सब संसार के लिये सब भोग्य पदार्थों का देने वाला है और मोक्षसमय में मोक्ष को प्राप्त हुए लोगों का ग्रहण करने वाला है। अभिप्राय यह है कि—

१—परमेश्वर की कृपा से विद्वानों का सत्कार होता है।

२—सत्संगति, विद्यादि दान, विद्या विज्ञान योगादि और महिमा की प्राप्ति उस परमात्मा की कृपा से ही होती है।

३—अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों का और कर्तव्य कर्मों का वेदों के द्वारा बताने वाला वह ईश्वर ही है।

४—वह परमात्मा हमारी की हुई उपासना और श्रेष्ठ कर्मों को स्वीकार करता है।

५—वह विधाता ही जगत् का धारक और संहार कर्ता है।

६—वह प्रभु ही सब संसार को सब भोग्य पदार्थ देता है।

७—वह ही मोक्ष में पहुँचे जीवों को अपने आनन्द में विचरण कराने वाला है।

(यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति)

छे (६) यज्ञ शब्द हैं जो भिन्न भिन्न धातुओं से बनने के बाद सब की आकृति एक जैसी होजाती है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही यज्ञ शब्द है। जैसे 'हरि' शब्द का सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'हरौ' रूप होता है और 'हर' शब्द के प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में भी 'हरौ' यही रूप बनता है। पर ये दोनों 'हरौ' पृथक् पृथक् हैं। एक 'हरौ' के दो अर्थ नहीं होते। इसी प्रकार 'डुकृञ् करणे' धातु के लिट लकार में 'चकार' यह रूप होता है और 'कृ विक्षेपे' धातु का भी लिट् लकार में 'चकार' यही रूप बनता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि 'चकार' के दो अर्थ हैं प्रत्युत दो 'चकार' रूप हैं। एक का अर्थ है चकार = किया था और दूसरे का अर्थ है चकार = फेंका था। इसी प्रकार यज्ञ शब्द भी ६ हैं पर नाना धातुओं से अनेक प्रकार से पृथक् पृथक् बनने पर भी अन्त में आकृति एक जैसी हो जाती है अतः एक ही यज्ञ शब्द है ऐसा प्रतीत होता है। वे ६ यज्ञ शब्द इस प्रकार हैं—

१—एक यज्ञ शब्द—

"यज देवपूजा संगतिकरण दानेषु" इस धातु से (यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्षो नङ्) शब्दानु० ३।३।९० इस सूत्र से नङ् प्रत्यय करने पर बनता है। यजनं यज्ञः अर्थात् (१) देवपूजा = विद्वानों का सत्कार और विद्वानों से की हुई पूजा—उपासना। (२) संगतिकरण = विद्वानों से मेल—सत्संगति। (३) विद्यादि दान। "प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः" निरुक्त ३।१९॥ यज्+नङ्। यज्+न = यज्ञः।

२—दूसरा यज्ञ शब्द—

"टुयाचृ याच्ञायाम्" इस धातु से नङ् प्रत्यय करने पर पहले याच्ञा शब्द बनता है। फिर याच्ञा शब्द से (अर्श आदिभ्योऽच्) शब्दानु० ५।२।१२७॥ इस सूत्र से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर याच्ञाऽस्यास्तीति याच्ञः जिस की सब याचना करते हैं अर्थात् महिमा।

याच्ञा + अच्। याच्ञः। याच् + ञः। याज + ञः। यज् + ञः = यज्ञः।

'याच्ञो भवतीति वा' निरुक्त ३।१९॥ 'यज्ञो वै महिमा' (शतपथ० ६।३।१।१८॥) इस यज्ञ शब्द का अर्थ महिमा है।

३—तीसरा यज्ञ शब्द—

यजुः और "णीञ् प्रापणे" धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर बनता है। यजुर्भिः नीयते।

यजुः+णीञ्+क्विप् । यजुः + नी । यज् + नी । यज् + नः = यज्ञः । "यजूंष्येनं नयन्तीति वा" निरुक्त ३ । १६ ॥ यजुर्वेद के मन्त्र जिस का आरम्भ से लेकर प्रायः अन्त तक वर्णन करते हैं अर्थात् कर्म । ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड है, सामवेद में उपासना काण्ड है और अथर्ववेद में विज्ञान काण्ड है यह चारों वेदों का प्रधान विषय क्रम है । यजुर्वेद के मन्त्र आदि से अन्त तक कर्म का वर्णन करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शतपथ० १ । ५ । १ । ५ ॥) अर्थात् श्रेष्ठतमकर्म और यज्ञ पर्यायवाचक हैं । इस यज्ञ शब्द का अर्थ कर्म है ।

४—चौथा यज्ञ शब्द—

यजु और "उन्दी क्लेदने" धातु से क्त प्रत्यय करने पर बनता है । यजुर्भिः उन्नः । यजुः+उन्दी+क्तः । यजुः + उन्नः । यज् + न्नः । यज् + नः = यज्ञः । "यजुरुन्नो भवतीति वा" निरुक्त ३ । १६ ॥ अर्थात् जो यजुर्वेद के मन्त्रों से उन्न = क्लिन्न = परिपूर्ण होता है । अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो यज्ञ हैं वे यजुर्वेद के मन्त्रों से भरे हुए हैं क्योंकि यज्ञों में यजुर्वेद के मन्त्र ही अधिक होते हैं अन्य वेदों के बहुत कम । इस प्रकार इस चौथे यज्ञ शब्द का अर्थ है अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "व्यृद्धमु वा ऽएतद् यज्ञस्य यदयजुष्केण क्रियते" (शतपथ० १३।१।२।१॥) अर्थात् जो यज्ञकर्म यजुर्वेद के मन्त्रों के बिना किया जाता है वह यज्ञकर्म ऋद्धिहीन होता है ।

५—पाँचवां यज्ञ शब्द—

अजिन शब्द से (अर्श आदिभ्यो अच्) शब्दानु० ४।२।१२७॥ सूत्र से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर बनता है । अजिन शब्द का अर्थ है चर्म । अजिनमस्यास्तीति । अजिन + अच् । अजिन + अ । अ+ज्+इ+न्+अ । इ+अ+ज्+न्+अः । यज् + नः = यज्ञः । इस यज्ञ का अर्थ है चर्म वाला । अभिप्राय यह है कि स्वयंमृत कृष्णमृगचर्म का वैज्ञानिक उपयोग योगाभ्यासादि में प्राचीन काल से होता चला आया है । ब्रह्मचारी भी अजिनवान् = कृष्णमृग चर्म वाले होते हैं और योगी भी अजिनवान् = कृष्णमृग चर्मधारी होते हैं । "बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः" निरुक्त ३ । १६ ॥ अर्थात् औपमन्यव ऋषि ने अपने बनाये निरुक्त में लिखा है कि यज्ञ शब्द अजिन शब्द से बनता है । कृष्णमृग चर्म के उपयोग के सम्बन्ध में अन्य भी वैदिक प्रमाण बहुत हैं जैसे—

"कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः" शतपथ० ६ । ४ । २ । ६ ॥ "स (ब्रह्मचारी) यन्मृगाजिनानि वस्ते तेन तद् ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे" गोपथ० पू० २ । २ ॥ एतद् कृष्णाजिनं वै प्रत्यक्षं ब्रह्मवर्चसम्" ताण्ड्य० १७ । ११ । ८ ॥

[illegible] शब्द का अर्थ है विद्या विज्ञान योग आदि ।

इस पांचवें यज्ञ [illegible]

६—छठा यज्ञ शब्द—

'इण् गतौ' धातु से शतृ प्रत्यय करके यन् बनता है उस के आगे 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से ड प्रत्यय करने पर यन् + जन् + ड । यन् + जः । यज् नः = यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। जैसा कि शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

"स यन् जायते तस्माद् यन्जः । यन्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञ इति ।"
शतपथ ३।६।४।२३॥

यन्=प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारणसंगति गच्छन् प्राप्नुवन् जातः स यज्ञो जगदित्यर्थः। अर्थात्—जो प्रकृति से लेकर कार्य पृथिवी जगत् तक कार्यकारणसंगति को प्राप्त होता हुआ पैदा हुआ है उस को यज्ञ कहते हैं अर्थात् जगत्। इस छठे यज्ञ शब्द का अर्थ जगत् है।

इस प्रकार पृथक् पृथक् निर्वचन वाले छै यज्ञ शब्द हैं उनके पृथक् पृथक् अर्थ हैं।

यज धातु से बने यज्ञ शब्द के अर्थ हैं—

१—विद्वानों का सत्कार या विद्वानों से की हुई पूजा=उपासना, सत्संगति, विद्यादि दान।

२—याचृ धातु से बने यज्ञ शब्द का अर्थ—महिमा है।

३—'यजु+णीञ् प्रापणे' से बने यज्ञ शब्द का अर्थ—कर्म है।

४—'यजु+उन्दी क्लेदने' धातु से बने यज्ञ शब्द का अर्थ—अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ है।

५—अजिन शब्द से बने यज्ञ शब्द का अर्थ—विद्या विज्ञान योग आदि है।

६—'यन्+जनी प्रादुर्भावे' से बने यज्ञ शब्द का अर्थ—जगत् है।

(एक शब्द के अनेक निर्वचन)

प्राचीन वैदिक साहित्य में शब्दों के निर्वचन दिखाये हैं कि यह अमुक शब्द इस धातु से या इन इन धातुओं से बना है। इन निर्वचनों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् और उन के अनुयायी भारतीय विद्वान् भी यह समझते हैं कि ये निर्वचन काल्पनिक हैं झूठे हैं अर्थात् निर्वचन दिखाने वाले वैदिक साहित्य के लेखक ऋषियों को स्वयं निश्चय नहीं था कि यह अमुक शब्द किस धातु से बना है अतः सन्देह के कारण इस प्रकार

कहते हैं कि यह शब्द इस धातु से बना है या इस धातु से ? जैसा यास्क ने निरुक्त में लिखा है कि—

लक्ष्मी शब्द या तो 'लभ' धातु से बना है, या 'लक्ष' धातु से बना है, अथवा 'लाञ्छ' धातु से बना है, या 'लष' धातु से बना है, या 'लग' धातु से बना है, या 'लज्ज' धातु से बना है। (निरुक्त ४ । ६ ॥)

अतः नीचे लिखे विद्वानों ने इस प्रकार लिखा है कि—

१—किसी एक धातु को निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस धातु से यह शब्द बना है । अतः जितनी धातुओं की सम्भावना हो सकती है सब दिखा दी जाती हैं कि इन में से किसी धातु से यह शब्द बना होगा । (स्कन्द निरुक्त भाष्य १ । १ ॥)

२—किसी विशेष धातु के निश्चय न होने के कारण सब धातु दिखा दिये जाते हैं हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है जिस से हम यह कह सकें कि यह अमुक शब्द इस धातु से बना है उस धातु से नहीं । (दुर्ग निरुक्त वृत्ति १ । १ ॥)

३—अग्नि शब्द के निर्वचन अनेक प्रकार के यास्क ने दिखाये हैं इन में से बहुत से काल्पनिक झूठे हैं । (विलसन ऋ० ट्रा० १ । १ । १ ॥)

४— किसी विचारक को इन प्राचीन निर्वचनों पर विश्वास हो यह असंभव है । (अरविन्द 'आन दि वेद' पृष्ठ ५६)

५—यास्क के निर्वचन प्रलापमात्र हैं । (सिद्धेश्वर वर्मा 'एटीमालोजी आफ यास्क' पृष्ठ १०)

६—यास्क ने निर्वचन विकल्प से दिखाये हैं । (अरविन्दशिष्य कपालि ऋ० भाष्य १ । १ । १ ॥)

उन उन ग्रन्थों के मूल उद्धरण पृष्ठ १७१—१७२ पर देखो ।

(अनेक निर्वचन समीक्षा)

उपर्युक्त लेखकों के ऊपर लिखे विचार अज्ञानमात्र ही हैं । यास्क ने निरुक्त में एक शब्द के अनेक निर्वचन दिखाते समय 'वा' शब्द का प्रयोग किया है । 'वा' शब्द विकल्प, सन्देह, अथवा, अर्थ में भी आता है यही इनकी भ्रान्ति का कारण है । वस्तुतः 'वा' शब्द समुच्चय वाचक भी है । 'वा' शब्द का अर्थ 'और' भी होता है जैसा कि यास्क ने स्वयं लिखा है कि—

'अथापि समुच्चयार्थे भवति'

(निरु० १ । ४ ॥)

अर्थात्—वा शब्द समुच्चय अर्थ में भी है। जैसा कि लक्ष्मी शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में यास्क ने लिखा है कि—

लक्ष्मीर्लाभाद् वा, लक्षणाद् वा, लाञ्छनाद् वा, लपतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः, लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषाकर्मणः, लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः।

(निरुक्त ४। ६॥)

अर्थात्—एक लक्ष्मी शब्द 'लभ' धातु से बना है। और दूसरा लक्ष्मी शब्द 'लक्ष' धातु से बना है। और तीसरा लक्ष्मी शब्द 'लाञ्छ' धातु से बना है। और चौथा लक्ष्मी शब्द 'लप' धातु से बना है। और पाँचवां लक्ष्मी शब्द 'लग' धातु से बना है। और छठा लक्ष्मी शब्द 'लज्ज' धातु से बना है।

निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरण में आया 'वा' शब्द समुच्चय वाचक है न कि सन्देह वाचक। लक्ष्मी शब्द इस धातु से भी बना है और इस धातु से भी बना है इत्यादि। भिन्न भिन्न धातुओं से बने लक्ष्मी शब्द पृथक् पृथक् हैं पर सब की आकृति एक जैसी हो जाने से यह भ्रान्ति होती है कि यह एक ह शब्द है। उन सब लक्ष्मी शब्दों के पृथक् पृथक् अर्थ हैं। परन्तु सायणादि भाष्यकार एक शब्द के अनेक निर्वचनों को एक ही अर्थ में घटाने की चेष्टा करते हैं। जैसे अग्नि शब्द के जो अनेक निर्वचन हैं उन सब को एक ही अर्थ में समझते हैं। यज्ञाग्नि ही अग्रणी है और यज्ञाग्नि ही दग्धादि विशेषणयुक्त है। पर हमारा कहना यह है कि अनेक अग्नि शब्द हैं। अग्र+णी से बना अग्नि शब्द ईश्वर वाचक है। और इण्, दह्, तथा णञ इन तीन धातुओं से बने अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक आग है। इसी प्रकार यज धातु से बने यज्ञ शब्द का अर्थ देवपूजा संगतिकरण और दान है। याच् धातु से बने यज्ञ शब्द का अर्थ महिमा है। 'यजु+णीञ्' से बने यज्ञ शब्द का अर्थ कर्म है। 'यजु+उन्दी' से बने यज्ञ शब्द का अर्थ अग्निहोत्रादि यज्ञ है। अजिन शब्द से बने यज्ञ शब्द का अर्थ योग आदि है। इण् और जन् धातु से बने यज्ञ शब्द का अर्थ जगत् है।

परन्तु दुर्ग आदि ऐसा समझते हैं कि अग्निहोत्रादि यज्ञ में ही देवपूजा संगतिकरण और दान होता है। इसी यज्ञ की याचना की जाती है। इसी यज्ञ का यजुर्वेद वर्णन करता है। यह यज्ञ ही यजुर्मन्त्रों से परिपूर्ण होता है और इसी यज्ञ मे इण् और जन् धातु के अर्थ घटते हैं। (देखो दुर्गटीका निरुक्त ३। १९॥) वस्तुस्थिति यह है कि ये दुर्गादि वैदिकपरम्पराओं को भूल चुके थे और एक ही अर्थ में अनेक निर्वचन घटाने में अपना पाण्डित्य समझते थे। वैदिक साहित्य में दिये निर्वचन सब सत्य हैं और वे सब निर्वचन हमको ऋषिपरम्परा से प्राप्त हुए हैं। अतः वे सब निर्वचन प्रामाणिक हैं।

(अनेक प्रकार के शब्द होते हैं)

धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम्।

बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥
धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव च ।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥
(बृहद्देवता २ । १०३—१०४)

अर्थात्—शब्दों में कहीं धातु की ध्वनि होती है जैसे यज्ञ शब्द में यज धातु या याच धातु की ध्वनि है । किन्हीं शब्दों में उपसर्ग की ध्वनि होती है जैसे 'उस्त्रिया'[1] शब्द में उत् उपसर्ग की ध्वनि है । कुछ शब्द ऐसे हैं जिन में अन्य शब्दों के एक एक अवयव अक्षर की ध्वनि है जैसे अ+उ+म्='ओम्' इस में अग्नि शब्द के अ की ध्वनि और उत्कर्ष शब्द के उ की ध्वनि तथा मिनोति धातु के मकार की ध्वनि है । अग्नि—उत्कर्ष—मिनोति इन तीनों के एक एक अक्षर अ – उ – म् को लेकर ओम् बना है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के भी अवयव अ उ म् हैं। और कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिन में गुण =लाक्षणिक अर्थ की ध्वनि केवल है । जैसे कुशल=चतुर । इस कुशल शब्द में न कुश का उपयोग है और न 'ला' धातु का ही । कुशों को काट कर लाने वाला व्यक्ति बुद्धिमान् होता है इस लाक्षणिक अर्थ से कुशल शब्द का अर्थ चतुर होगया । या 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्च शब्द का मञ्चस्थ पुरुष लाक्षणिक अर्थ है । इसीलिये कहा है कि धातूपसर्गावयवगुणशब्दम् ।

ये शब्द कोई एक धातु से बने हुए होते हैं कुछ शब्द दो धातुओं से बने होते हैं और कुछ शब्द तीन धातुओं से बने होते हैं। एक धातु से बने शब्द यज्ञ आदि हैं। दो धातुओं से बने शब्द मिथुन आदि हैं मिथुन शब्द में थु प्रत्यय बीच में आबैठा है और आरम्भ में मिनोति धातु है और अन्त में दूसरी 'नी' या 'वनि' धातु है[2]। और अग्नि शब्द तीन धातुओं से बना है 'इण्' धातु 'दह्' धातु और 'नी' धातु । या 'इण' धातु 'अञ्ज्' धातु और 'नी' धातु[3]।

ये शब्द पांच प्रकार के होते हैं—

१—धातुज=धातु से बने शब्द जैसे यज्ञ आदि शब्द ।

२—धातुजाज् जातम्=धातु से बने शब्द से जो बने हैं । जैसे 'दद' धातु से दण्ड शब्द बनता है फिर दण्ड शब्द से दण्ड्य शब्द बनता है ।

३—समस्तार्थज=समस्त अर्थों से जो शब्द बने हैं जैसे—जगत् वाचक यज्ञ शब्द यन्+जन् से बना है ।

१—देखो निरुक्त ४ । १९ ॥
२—देखो निरुक्त ७ । २८ ॥
३—देखो निरुक्त ७ । १४ ॥

४—वाक्यज=जो पूरे वाक्य से शब्द बनते हैं जैसे इति=ह=आस=इतिहास अर्थात् इति=यह बात ह=प्रसिद्ध आस=हो चुकी है।

५—व्यतिकीर्ण=बिखरे अक्षरों को संग्रह करके एक शब्द बनाना। जैसे ह-द-य=हृदय[1]। अ-उ-म्=ओम्। अभिप्राय यह है कि शब्दों को बनाने का एक प्रकार यह भी है कि भिन्न भिन्न शब्दों के एक एक अक्षर को एकत्र करके एक नया शब्द बना लेते हैं जैसे अंग्रेजी भाषा में दिशावाचक चार शब्द हैं—North=उत्तर दिशा। East=पूर्व दिशा। West=पश्चिम दिशा। South=दक्षिण दिशा। इन चारों अंग्रेजी शब्दों के पहले पहले अक्षरों को एकत्र करो तो N-E-W-S=News शब्द बनता है जिसका अर्थ है चारों दिशाओं से प्राप्त बातें=समाचार। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के Violet=पाटलवर्ण, Indigo=श्यामवर्ण, Green=हरितवर्ण, Yellow=पीतवर्ण, Orange=नारंगवर्ण, Red=रक्तवर्ण। इन सब अंग्रेजी शब्दों के पहले पहले अक्षर लेकर Vibgyor शब्द बनता है जिसका अर्थ है सब रंग।

इसी प्रकार संस्कृत भाषा में भी यही प्रकार रहा है कि किसी शब्द का एक अक्षर उच्चारण किया जावे तो वह पूरे शब्द का अर्थ देता है जैसा किरातार्जुनीय में आता है कि—

"तवाभिधानाद् व्यथते नताननः" (किरातार्जुनीय १। ३४॥)

अर्थात् त=तार्क्ष्य और व—वासुकि का नाम सुन कर सर्प पीड़ित होता है।

१—शतपथ० १४ काण्ड ६ प्रपाठक। बृहदारण्यकोपनिषत् ४ प्रपाठक ७ ब्राह्मण में वर्णन है कि—

तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरम्—हरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। द इत्येकमक्षरम्—ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। यम् इत्येकमक्षरम्—एति स्वर्गं लोकम्, य एवं वेद।

अर्थात्—इस 'हृदय' शब्द में तीन अक्षर हैं हृ+द+यम्। 'हृ' यह एक अक्षर 'हृञ् हरणे' धातु का है। (अभिहरन्ति अस्मै स्वाश्च अन्ये च) स्वाः=निज इन्द्रियगण और अन्ये—शब्द स्पर्शादि विषय अपने अपने कार्य को इसी हृदय को अभिहरन्ति—समर्पण करते हैं। द यह एक अक्षर 'डुदाञ् दाने' धातु का है। (ददत्यस्मै स्वाश्च अन्ये च) निज इन्द्रियगण तथा शब्द आदि विषय सब बातों को बाहर से लाकर हृदय को देते हैं। 'यम्' हृदयम् शब्द में यम् यह एक अक्षर है। (एति स्वर्गं लोकम्) इस हृदय के द्वारा उपासक स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। (य एवं वेद) जो इस को समझता है उस को भी सब फल प्राप्त होते हैं।

किसी शब्द का एक अक्षर बोला जावे तो वह अक्षर संपूर्ण शब्द का अर्थ देता है,। इसी प्रकार का अवलम्बन करके ओ३म् शब्द बना है।

(ओ३म् शब्द के अ उ म् अक्षरों की विस्तृत व्याख्या)

महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि—

अकार से = विराट्—अग्नि—और विश्व—आदि
उकार से = हिरण्यगर्भ—वायु—और तैजस—आदि
मकार से = ईश्वर—आदित्य—और प्राज्ञ—आदि नामों का वाचक और ग्राहक है। (सत्यार्थ० समुल्लास १, श० सं० भा० १ पृष्ठ ८१)

माण्डूक्योपनिषत् में इन अ उ म् के मूलस्रोतों पर प्रकाश डाला गया है—

(वाचक और ग्राहक)

शब्दों के अवयव अक्षर सम्पूर्ण शब्द को प्रथम ग्रहण कराते हैं फिर ये अवयव अक्षर उस सम्पूर्ण शब्द के अर्थ के वाचक बनते हैं। जैसे अ अग्नि शब्द को ग्रहण कराता है और फिर अग्नि शब्द के अर्थ का वाचक बन जाता है।

अ
(क) विराट् — (ख) अग्नि — (ग) विश्व
उ
(क) हिरण्यगर्भ — (ख) वायु — (ग) तैजस
म्
(क) ईश्वर — (ख) आदित्य — (ग) प्राज्ञ

(स्ववर्ग व्याख्या = अग्नि-वायु-आदित्य)

ओम् (अ+उ+म्) में 'अ' अक्षर अग्नि शब्द का आद्यवयव है। यह अ अग्नि शब्द का ग्राहक है और अग्नि शब्द के अर्थ का वाचक है। 'उ' वायु शब्द का अन्तिम अवयव है। यह उ वायु शब्द का ग्राहक है और वायु शब्द के अर्थ का वाचक है। 'म्' मित्र अर्यमा आदि शब्दों का अवयव है और मित्र अर्यमा के समानार्थक आदित्य शब्द का ग्राहक है और आदित्य शब्द के अर्थ का वाचक है। अग्नि वायु और आदित्य शब्दों के अर्थ सत्यार्थप्रकाश में देखो।

१—"नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्"—शब्द के एक अक्षर के उच्चारण करने पर पूरे शब्द का ग्रहण होता है। वह अक्षर शब्द का पहला अक्षर भी हो सकता अन्तिम अक्षर भी हो सकता है; और बीच का अक्षर भी हो सकता है।

(कवर्ग व्याख्या=विराट्—हिरण्यगर्भ—ईश्वर)

माण्डूक्योपनिषत् में वर्णन है कि—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद् वा ।
स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितोया मात्रोत्कर्षात् उभयत्वाद् वा ।
सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा ।

(माण्डूक्योपनिषत् ९--११)

अर्थात्—ओम् में 'अ' अक्षर "आप्लृ व्याप्तौ" धातु और 'आदि' शब्द का दीर्घ आ ह्रस्व अ बन कर है । अतः यह अ अवयव आप् धातु और आदि शब्द को ग्रहण कराता है । इस लिये अ अक्षर का अर्थ आप्=सर्वव्यापक आदि भी हो सकता है । जैसा कि महर्षि ने लिखा है कि अकार से विराट् अग्नि और विश्व आदि ।

जीव के समान ब्रह्म की भी जागृत स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थायें होती हैं । और भगवान् की सृष्टि तीन प्रकार की होती है--

विश्वसृष्टि--तेजोहीन सृष्टि पृथिवी आदि ।
तैजस सृष्टि--जैसे सूर्य आदि ।
प्राज्ञ सृष्टि—चैतन्य सृष्टि ।

'अ' अक्षर आदि शब्द का अवयव है अतः 'अ' आदि शब्द का ग्राहक है और आदि शब्द के अर्थ का वाचक है ।

'उ' अक्षर उत्कर्ष और उभय शब्द का अवयव है अतः उ उत्कर्ष और उभय शब्द का ग्राहक है और उत्कर्ष और उभय शब्द के अर्थ का वाचक है ।

'म्' अक्षर मिति=ज्ञान और अपीति=समाप्ति शब्द का प् म् होकर अवयव है अतः म् मिति और अपीति शब्दों का ग्राहक है और मिति और अपीति शब्दों के अर्थ का वाचक है ।

मिति शब्द का म् होने से म अक्षर का अर्थ सर्वज्ञ आदि भी हो सकता है ।

अ+आदि=पहली जागृत अवस्था वाला ब्रह्म-- विराट् ।
उ+उभय=मध्य[1] स्वप्न अवस्था वाला ब्रह्म--हिरण्यगर्भ ।
म+अपीति=अन्तिम सुषुप्ति अवस्था वाला ब्रह्म--ईश्वर ।

माण्डूक्योपनिषत् में इस का इस प्रकार वर्णन है कि—

१—अकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारः　　(शंकराचार्यः)

(जीव और ब्रह्म की जागृत अवस्था का वर्णन)

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथमः पादः ।

अर्थात्—जागृत अवस्था वाला जीव बाह्य जगत् में बुद्धिवाला होता है । सात अङ्गों वाला और उन्नीस मुख वाला वह उस समय स्थूल जगत् को भोगने वाला होता है । और समस्त विश्व में गति वाला (वैश्वानरः) होता है यह प्रथम जागृत अवस्था है ।

जीवात्मा जागृत अवस्था में बाह्यजगत् को भोगता है । उसके प्रधान अङ्ग सात होते हैं—१--शिर, २--नाभि, ३--पाद, ४--चक्षु, ५--श्रोत्र, ६--प्राण--नासिका, ७--मुख। इसी प्रकार इस जीव के १९ मुख हैं जिन के द्वारा यह जीव भोगों को भोगता है। वे १९ मुख ये हैं— ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ प्राण (प्राण अपान व्यान समान उदान) मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ।

इसी प्रकार ब्रह्म की भी जागृत अवस्था वह है जिस में इस बाह्य संसार=स्थूलजगत् को बनाता है । विराट् रूप में ब्रह्म के भी सात अङ्ग होते हैं जिनका वर्णन वेद के पुरुषसूक्त यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र १२, १३ में है ।

१—शिर-द्युलोक, २—नाभि-अन्तरिक्ष, ३—पाद-भूमि, ४—चक्षुः-सूर्य, ५-श्रोत्र-दिशाएं, ६-प्राण-वायु, ७-मुख--अग्नि। संस्कृतप्रमाण पृष्ठ १७७-१७८ पर देखो।

अर्थात् विराट्रूप ब्रह्म का शिर द्युलोक है। अन्तरिक्षलोक परमात्मा की नाभि है और पृथिवी परमात्मा के पैर हैं । यह विराट्ब्रह्म की लम्बाई है । आगे इन्द्रियों का वर्णन करते हैं । सूर्य विराट्ब्रह्म की आंख है, दिशाएं कान हैं, और यह जो ब्रह्माण्ड में वायु बह रहा है यह विराट्ब्रह्म का प्राण है । ब्रह्माण्ड का अग्नि विराट् ब्रह्म का मुख है । जैसे मुख से सब कुछ खाया जाता है वैसे अग्नि में सब कुछ भस्म होजाता है ।

जो १९ मुख जीव के गिनाए हैं वे ही विराट्ब्रह्म के १९ मुख हैं । अन्तर केवल इतना है कि प्रकृति के जिस ढेर से जीवात्मा के इन्द्रिय आदि बने हैं वह ढेर परमात्मा का वह इन्द्रिय हैं। जैसे प्रकृति के विकार महत्तत्व के एक अंश से हमारी बुद्धि बनी है वह पूरा महत्तत्व का पुञ्ज विराट्ब्रह्म की बुद्धि है । इत्यादि ।

जीव जागृत अवस्था में बाह्य संसार=स्थूल जगत् को भोगता है । ब्रह्म की जागृत अवस्था वह है जब वह स्थूलसृष्टि को रचता है । तब वह (वैश्वानरः) समस्त विश्व को गति प्रदान करता है ।

आदि शब्द का आ ह्रस्व अ होकर ओम् में है। आदि अवस्था जागृत है। ब्रह्म जागृत अवस्था में विराट् कहाता है अतः—

अकार का 'विराट्' अर्थ हुआ।

जिसकी व्याख्या महर्षि ने इस प्रकार की है कि—

यो विविधं नाम चराचरं जगद् राजयति प्रकाशयति स विराट्

विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के सब जगत् को प्रकाशित करे इस से 'विराट्' नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है। (सत्यार्थ० श० सं० भाग १, पृष्ठ ६०)

यह ओम् के अ मात्रा की व्याख्या है।

(जीव और ब्रह्म की स्वप्नावस्था का वर्णन)

स्वप्नस्थानो ऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

अर्थात्—स्वप्नावस्था वाला जीव (अन्तः प्रज्ञः) अन्दर बुद्धि वाला होता है। उस स्वप्नावस्था में भी वे ही सात अङ्ग और १६ मुख जीव के होते हैं (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्मभोगी अर्थात् जागृतअवस्था में तो स्थूलभोगों को भोगता है पर स्वप्नावस्था में वासनामात्र भोग करता है (तैजसः) जिस के मन बुद्धि आदि बाह्यविषयों से शून्य अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म की भी स्वप्नावस्था वह है जब वह अवान्तर प्रलयों में सूक्ष्म भूतों में काम कर रहा होता है (अन्तः प्रज्ञः) अन्दर अन्दर काम करने वाला होता है। उस अवान्तर प्रलय में द्युलोक पृथिवीलोक अन्तरिक्षलोक सूर्य आदि सब कुछ होते हैं अतः ब्रह्म के वे सात अङ्ग जैसे के तैसे रहते हैं और वे प्रकृति के १६ ढेर भी विद्यमान रहते हैं। (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्मभूतों में काम करने वाला (तैजसः) सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला होता है।

'उ' उभय का अवयव है अतः उ का अर्थ उभय = मध्य है। ब्रह्म की मध्यावस्था स्वप्नावस्था है जिस में अवान्तर प्रलय के कारण अन्य बाह्यजगत् तो प्रलय में चला जाता है पर उस समय सूर्य आदि तेजस्वी लोक विद्यमान रहते हैं उस अवस्था वाले ब्रह्म को हिरण्यगर्भ कहते हैं अतः—

उकार का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' हुआ।

जिस की व्याख्या महर्षि ने इस प्रकार की है कि—

"यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः।"

जिस में सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिस के आधार रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवासस्थान है इस से परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है। (सत्यार्थ० श० सं० भाग १, पृष्ठ ६१)

यह ओम् की उकार मात्रा की व्याख्या है।

(जीव और ब्रह्म की सुषुप्तावस्था का वर्णन)

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

(यत्र सुप्तः) जिस अवस्था में गया जीव (न कंचन कामं कामयते) किसी कामना की इच्छा नहीं करता (न कंचन स्वप्नं पश्यति) और न किसी स्वप्न को देखता है (तत्सुषुप्तम्) वह सुषुप्ति अवस्था है। (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्ति अवस्था वाला जीव (एकीभूतः) उस समय वह जीव न स्थूलशरीर में कार्य करता है और न सूक्ष्मशरीर में ही। उस समय उस की सब वृत्तियां एकत्रित होजाती हैं (प्रज्ञानघनः) घनीभूत प्रज्ञावाला (आनन्दमयः) आनन्द बहुल (आनन्द भुक्) आनन्द का भोक्ता (चेतोमुखः) और निजी चेतन स्वरूप वाला (प्राज्ञः) अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है (तृतीयः पादः) यह तृतीय मात्रा म् है।

इसी प्रकार ब्रह्म की भी सुषुप्ति अवस्था महाप्रलयावस्था है जब वह ब्रह्म (न कंचन कामं कामयते) 'प्रजापतिरकामयत प्रजा येय इति' इस इच्छा से रहित होता है (न कंचन स्वप्नं पश्यति) अर्थात् उस अवस्था में ब्रह्म सूक्ष्मभूतों में भी कार्य करने वाला नहीं होता है। (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्ति अवस्था वाला ब्रह्म (एकीभूतः) अपने स्वरूप में स्थित (प्रज्ञानघनः) घनीभूत प्रज्ञा वाला (आनन्दमयः) आनन्द का भण्डार (आनन्द भुक्) केवल आनन्द को लेने वाला (चेतोमुखः) चैतन्यस्वरूप (प्राज्ञः) ज्ञानवान होता है। इस अवस्था वाला ब्रह्म कुछ नहीं करता केवल सब का स्वामीमात्र होता है।

म् अपीति शब्द का प् म् होकर ओम् में है और अपीति का अर्थ अन्तिम है अन्तिम अवस्था सुषुप्ति अवस्था है जिसमें ब्रह्म स्वामीमात्र रहता है अतः

मकार का अर्थ 'ईश्वर' हुआ।

जिस की व्याख्या महर्षि ने इस प्रकार की है कि—

य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्तते स ईश्वरः।

(सत्यार्थ० श० सं० भाग १, पृष्ठ ६१)

अन्यत्र भी कहा है कि—

यो ऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यते ऽनद ईश्वरः ।
अकार्यो निर्व्रणो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—जो सब वेदों में (अनदः) प्राणप्रद बताया गया है और जो (अकार्यः) कोई कार्य उस समय नहीं कर रहा होता है और (अव्रणः) अविकारी है वह ईश्वर है। वह मेरे मन को शुभसंकल्प वाला बनावे।

माण्डूक्योपनिषत् में भी यही कहा है कि—

'एष सर्वेश्वर एव'

अर्थात्—यह सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म (सर्वेश्वर एव) बस सब का स्वामी है इतना ही कहा जा सकता है। यह ओम् के मकार की व्याख्या है।

अ आदिशब्द का ग्राहक है। आदि—प्रथम अवस्था ब्रह्म की जागृत अवस्था है उस में ब्रह्म विराट् नाम वाला कहाता है अतः अ विराट् का वाचक है।

उ उभयशब्द का ग्राहक है। उभय—मध्यमावस्था ब्रह्म की स्वप्नावस्था है उसमें ब्रह्म हिरण्यगर्भ नाम वाला कहाता है अतः उ हिरण्यगर्भ का वाचक है।

म अपीतिशब्द का ग्राहक है। अपीति=अन्तिम अवस्था ब्रह्म की सुषुप्ति अवस्था है उस में ब्रह्म ईश्वर नाम वाला कहाता है। अतः म् ईश्वर का वाचक है।

(जीव और ब्रह्म की तुरीयावस्था का वर्णन)

प्रसङ्गवश हम चतुर्थ तुरीयावस्था का भी वर्णन करते हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

जीव की तुरीयावस्था इस प्रकार की है कि (न अन्तःप्रज्ञम्) जिस प्रकार स्वप्नावस्था में जीव अन्तःप्रज्ञ=अन्दर बुद्धि वाला होता है वैसा तुरीयावस्था में नहीं होता अर्थात् सूक्ष्मशरीर में कार्य करने वाला नहीं होता और (न बहिःप्रज्ञम्) जागृत अवस्था के समान बाह्य जगत् में काम करने वाला भी नहीं होता अर्थात् स्थूल शरीर में कार्य करने वाला नहीं होता। (न उभयतः प्रज्ञम्) और न जागृत और स्वप्न की मध्यावस्था वाला होता है और न दोनों अवस्थाओं में एक साथ होजाता हो ऐसा भी

नहीं (न प्रज्ञानघनम्) न वह सुषुप्त अवस्था के समान घनीभूत प्रज्ञा वाला हो (न प्रज्ञम्) न वह उस समय किसी को जानने वाला होता है क्योंकि बाह्य आभ्यन्तर जगत् से पृथक् हुआ हुआ है । (न अप्रज्ञम्) और ऐसा भी नहीं कि अज्ञानी हो । (अदृष्टम्) तुरीयावस्था वाले जीव के स्वरूप को कोई देख भी नहीं स (अव्यवहार्यम) वह व्यवहारों से परे है । (अग्राह्यम्) उस को कोई पकड़ भी सकता क्योंकि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार से वह पृथक् है (अलक्षणम) उसका लक्षण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह चिह्न रहित है (अचिन्त्यम्) उस का चिन्तन भी नहीं कर सकता क्योंकि वह मन की सीमा से परे है (अव्यपदेश्यम) शब्दों से नहीं कहा जासकता (एकात्मप्रत्ययसारम्) बस उस समय आत्मा है प्रतीति ही सार = प्रमाण उस में होती है (प्रपञ्चोपशमम) जागृत आदि अवस्था के सब प्रपञ्च शान्त होजाते हैं (शान्तं) अविकिय (शिवम्) कल्याणस्वरूप (अद्वैत अनुपम (चतुर्थं मन्यन्ते) ऐसे चौथे पाद को = तुरीयावस्था को समझते हैं ।

जीव के समान ब्रह्म की तुरीयावस्था वह है जब वह (न अन्तःप्रज्ञम्) जि प्रकार ब्रह्म अपनी स्वप्नावस्था में अवान्तर प्रलयों में सूक्ष्मभूतों में कार्य करने वाला है वैसा तुरीयावस्था में नहीं (न बहिःप्रज्ञम्) न उस समय स्थूलजगत् को बनाने व होता है (न उभयतःप्रज्ञम्) और न दोनों की अवस्थाओं की सन्धि में स्थित हो है और न एक साथ दोनों अवस्थाओं में स्थित होता है (न प्रज्ञानघनम्) न घनी प्रज्ञावाला ही होता है (न प्रज्ञम्) ज्ञाता ज्ञेय व्यवहार उस समय नहीं होता (न अप्रज्ञ उस समय अज्ञानी हो ऐसा भी नहीं (अदृष्टम्) जगत् में जिस प्रकार उस के गु देखे जाते हैं वैसा भी वह तुरीयावस्था में नहीं होता (अव्यवहार्यम्) जिस प्रक जगत् में उस का व्यवहार करते हैं वह भी नहीं (अग्राह्यम्) न वह ग्रहण कि जा सकता है (अलक्षणम्) ब्रह्म के उस स्वरूप का कुछ लक्षण भी नहीं बताया सकता है कि वह कैसा है (अचिन्त्यम्) उस स्वरूप का चिन्तन भी नहीं किया सकता क्योंकि वह स्वरूप मन की मर्यादा से परे है (अव्यपदेश्यम्) उस को शब्दों से नहीं कहा जा सकता है। इसीलिये यह चतुर्थ पाद=तुरीयावस्था अमात्र कहाती है।(एका प्रत्ययसारम्) बस आत्मा है यह प्रतीति ही उस का सार=लक्षण है। (प्रपञ्चो शमम्) बाह्यजगत् के सब प्रपञ्चों से रहित है (शान्तं शिवम् अद्वैतम्) उस के ती स्वरूप हैं शान्त = अविकारी शिवम् = कल्याणस्वरूप और (अद्वैतम्) अद्वितीय उस समय द्वैतभाव नहीं रहता । (चतुर्थं मन्यन्ते) इस को ब्रह्म का चौथा पाद कह गया है । परन्तु यह ध्यान रहे कि ब्रह्म की जागृत अवस्था अकार से कही जाती है और ब्रह्म की स्वप्नावस्था उकार से कही जाती है और ब्रह्म की सुषुप्त अवस्था मकार से कही जाती है वैसे यह तुरीयावस्था किसी अक्षर से कही नहीं जा सकती वह तो—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

अर्थात्—शान्त=प्रपञ्च वाले व्यवहार में न आसकने वाला, शिव और अद्वैत जो स्वरूप है वह चतुर्थ पाद (अमात्र) किसी अ उ म् मात्रा से नहीं कहा जासकता उस के लिये कोई मात्रा नहीं उस समय आत्मा में आत्मा का प्रवेश इस प्रकार एकात्म रूप होजाता है कि कोई द्वैत करके भान नहीं कर सकता ऐसा ज्ञान जिस का होता है वह ही उस अवस्था को प्राप्त होसकता है।

(गवर्ग व्याख्या—विश्व—तैजस—प्राज्ञ)

महर्षि ने लिखा है कि—

अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि उकार से हिरण्यगर्भ वायु तैजसादि मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ८५)

इन में अ—विश्व, उ—तैजस, म—प्राज्ञ की व्याख्या शेष रह जाती है। माण्डूक्योपनिषत् में लिखा है कि—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

अर्थात्—यह आत्मा ब्रह्म चतुष्पात्=चार पादों वाला है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।

अर्थात्—यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है=एक अक्षर उसका वाचक है। वह ओङ्कार अक्षर है। यह ओङ्कार मात्राओं में अधिष्ठित है। मात्रा का अर्थ पाद है और पाद का अर्थ मात्रा है और वे तीन हैं अकार उकार मकार।

वैश्वानरः प्रथमः पादः।
तैजसो द्वितीयः पादः।
प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

अर्थात्—प्रथम पाद अ—वैश्वानर, द्वितीय पाद उ—तैजस, तृतीय पाद म्—प्राज्ञ। अभिप्राय यह है कि अ का अर्थ वैश्वानर, उ का अर्थ तैजस, म् का अर्थ प्राज्ञ माण्डूक्योपनिषत् में लिखा है। 'वैश्वानर' और 'विश्व' का एक ही अर्थ है। निरुक्त में वैश्वानर के निर्वचनों में एक यह निर्वचन भी है कि—

अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः।

(निरुक्त ७। २१ ॥)

अर्थात्—प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि = जो सब भूतों में प्रविष्ट हो उसको विश्वानर कहते हैं। उस के अपत्य को वैश्वानर कहते हैं। दुर्गाचार्य अपनी निरुक्तवृत्ति में लिखता है कि—

विश्वानि ह्यसौ भूतानि प्रत्यृतः—प्रविष्ट इत्यर्थः तस्य अपत्यं विश्वानरस्य वैश्वानरः।

(दुर्ग ७। २१॥)

अर्थात्—जो सब भूतों में प्रविष्ट हो उसको विश्वानर कहते हैं और उस के पुत्र को वैश्वानर कहते हैं।

वेदों में पुत्र शब्द अत्यन्त अर्थ का वाचक होता है। विश्वानर जो सर्वत्र प्रविष्ट हो और वैश्वानर = जो सर्वत्र अत्यन्त प्रविष्ट हो। इसी प्रकार कण्वः—मेधावी और प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः = अर्थात् अत्यन्त मेधावी।

इसीलिये प्र शब्द अपत्य वाचक बना। कहना यह चाहिये कि अपत्य का अर्थ प्र = प्रकृष्ट है। यास्क ने स्वयं लिखा है कि—

मगन्दः कुसीदी ... ... तदपत्यं प्रमगन्दः अत्यन्तकुसीदिकुलीनः।

(निरुक्त ६। ३२॥)

अर्थात्—मगन्द का अर्थ है ब्याजखोर ब्याज की कमाई करने वाला। उसका अपत्य प्रमगन्दः = अत्यन्त ब्याजखोर। जैसे आजकल लोक में कहा जाता है कि यह तो उसका भी बाप है। यहां बाप शब्द अत्यन्त वाचक ही होता है वैसे ही वैदिक बोली यह है कि यह तो उसका भी बेटा है अर्थात् अत्यन्त। अतः वैश्वानर का अर्थ है कि अत्यन्त भूतों में प्रविष्ट। महर्षि ने 'विश्व' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है कि

विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वा ऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्ट स विश्व ईश्वरः।

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ६१)

अर्थात्—जिस में आकाश आदि सब भूत प्रविष्ट हैं या जो आकाश आदि सब भूतों में प्रविष्ट है वह विश्व नाम वाला ईश्वर है।

यद्यपि माण्डूक्योपनिषत्कार ने अ का अर्थ वैश्वानर या विश्व, उ का अर्थ तैजस और म् का अर्थ प्राज्ञ किया है तथापि यह विचारणीय है कि यह अर्थ भी अ उ म् के कैसे होगये इस पर भी प्रकाश डाला जाता है।

प्रभु की सृष्टि तीन प्रकार की है। एक विश्वसृष्टि = तेजोहीन सृष्टि पृथिवी आदि, दूसरी तैजससृष्टि = सूर्यादि और तीसरी प्राज्ञसृष्टि = चैतन्यसृष्टि। इन तीनों प्रकार की सृष्टि के रचयिता को तत्तत् सम्बन्ध से विश्व तैजस और प्राज्ञ नाम से कहा जाता है। जैसा महर्षि ने लिखा है कि—

सूर्यादीनां प्रकाशकत्वात् स्वयं प्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः।

(पञ्चमहायज्ञविधि श० सं० भाग १ पृष्ठ ८६६)

अर्थात्—सूर्यादि सृष्टि का प्रकाशक होने से और स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से 'तैजस' शब्द ईश्वर का वाचक है।

अकार सब व्यञ्जनों में प्रविष्ट है। अतः अ का अर्थ विश्व। म् मिति शब्द का अवयव ओम् में है यह पूर्व कहा जा चुका है। मिति का अर्थ ज्ञान है अतः भी म् अक्षर का अर्थ प्राज्ञ होसकता है।

महर्षि ने यह भी लिखा है कि अ उ म् अन्य नामों के भी वाचक और ग्राहक हैं—

अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि
उकार से हिरण्यगर्भ वायु और तैजसादि
मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि
नामों का वाचक और ग्राहक है।

यहां आदि शब्द का यह अर्थ है कि—

ओम् में 'अ' आप् धातु का भी दीर्घ आ ह्रस्व अ होकर ओम् में है अतः 'अ' सर्वव्यापक शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। ओम् में 'उ' उत्कृष्ट शब्द का उ अवयव है अतः 'उ' उत्कृष्ट शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। उत्कृष्ट= वरुण=सर्वोत्तम। ओम् में म् मिति शब्द का अवयव म है अतः म् मिति शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ सर्वज्ञ का वाचक है। अपीति का प् म् होकर ओम् का अवयव है अतः म् अपीति = अप्यय = प्रलयकर्ता संहर्ता शब्द का ग्राहक और उसके अर्थ का वाचक है। इसी प्रकार ओम् के अ उ म् अन्य नामों के भी ग्राहक और वाचक होते हैं। महर्षि ने वाचक और ग्राहक शब्द लिखकर सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषत् का रहस्य समझा दिया। यह सन्ध्यापद्धतिमीमांसा में हमने विस्तार से लिखा है। जिस रहस्य को श्री शंकराचार्यादि न समझ सके और नाही आर्यविद्वान् ही समझ सके और वृथा ही माण्डूक्योपनिषत् पर टीका लिखने बैठ गये। स्वामीशंकराचार्यजी अ उ म् की व्याख्या करते

हुए बारंबार यही लिखते रहे कि "केन सामान्येन केन सामान्येन"। जो अपव्याख्या ही है। स्थिति केवल यही है कि शब्दों के अवयव उच्चारण किये जावें तो भी वे सम्पूर्ण शब्द के ग्राहक और वाचक होते हैं जिसको हमने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य अपने शाङ्करभाष्य में लिखते हैं कि—

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्तिः व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग् व्याप्ता। अकारो वै सर्वा वाक्।

(माण्डूक्योपनिषत् शांकरभाष्य)

यह क्या व्याख्या है।

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में यह भी लिखा है कि—

विराट् ··· **अग्नि** ··· **विश्व** इत्यादि नामों का ग्रहण अकार मात्रा से होता है
हिरण्यगर्भ···**वायु**···**तैजस** इत्यादि नामार्थ उकार मात्रा से ग्रहण होते हैं
ईश्वर ··· **आदित्य** ···**प्राज्ञ** इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं

(सत्यार्थ० श० स० भाग १ पृष्ठ ६१—६२)

यहां सत्यार्थप्रकाश का शुद्धपाठ अकारमात्रा उकारमात्रा है। ऐसा ही सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखों में है परन्तु सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से ही यह भूल प्रारम्भ होगई और यह पाठ इस प्रकार छपने लगा कि—

"अकारमात्र से, उकारमात्र से, मकार से"

यहां 'अकारमात्र' 'उकारमात्र' यह अशुद्ध पाठ हैं। मुन्शी समर्थदान उर्दू के ज्ञाता थे अतः इसको समझ न सके। यदि अकारमात्र और उकारमात्र पाठ ठीक है तो मकारमात्र क्यों नहीं। माण्डूक्योपनिषत्कार ने मात्रा शब्द का प्रयोग पाद अर्थ में किया है। महर्षि की दृष्टि में यह बात थी कि स्वरों में मात्रा शब्द का प्रयोग ठीक है अकारमात्रा उकारमात्रा। पर मकार में मात्रा शब्द का प्रयोग अव्यवहार्य है अतः 'मकार' से केवल इतना ही लिखा।

इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के प्रारम्भ में महर्षि ने लिखा है—

"सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः"

यह 'सच्चिदानन्दाय ईश्वराय' पृथक पृथक असमस्त पद हैं पर सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से ही छपने लगा—

"सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः"

यह समस्तपद अशुद्ध है प्रभु के स्वरूपनिर्देश में महर्षि ने कहीं समास नहीं किया है जैसे—

नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय—संस्कारविधिः.

इसी प्रकार ऋषि के ग्रन्थों में सहस्रशः ऐसी बातें हैं जिनको संपादक और प्रकाशक नहीं समझते। महर्षि का एक स्वभाव यह भी है कि प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम प्रकरण का नाम नहीं लिखते केवल पुस्तक का नाम लिखते हैं। जैसे पञ्चमहायज्ञ-विधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रथम प्रकरण का प्रारम्भ नहीं लिखा। अगले प्रकरणों में प्रकरण का नाम है वैसे ही सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में 'प्रथमः समुल्लासः' नहीं लिखा है। पर संपादकों ने यह भी कर दिया। हम एक उदाहरण और उपस्थित करते हैं।

'तुम्हारा' और 'हमारा' यह आर्यभाषा के शब्द हैं जो संस्कृत के युष्मद् अस्मद् शब्द के विगड़े रूप हैं। युष्मद्—तुम्हारा। अस्मद्—हमारा।

युष्मद् के रूपों में 'तुभ्यम्' आदि में त श्रुति है अतः युष्मद् के बिगड़े शब्द में तुम्हारा होगया। पर युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में स या ष् प्रथम है और म् उसके बाद है। स का विकार ह होता है अतः अस्मद् का विकार 'हमारा' हुआ इसी प्रकार युष्मद् शब्द में भी ष पहले है अतः उसका बिगड़ा रूप 'तुह्मारा' होगा तुम्हारा नहीं। ऋषि के हस्तलेखों में तुह्मारा होते हुए भी महर्षि के ग्रन्थों के सब संपादक और प्रकाशक 'तुम्हारा' ही छापते हैं। इन सबने महर्षि की भाषा को न समझ कर महर्षि के ग्रन्थों का आधुनीकरण कर दिया। पर महर्षि के हस्तलेखों में ठीक पाठ महर्षिसंमत विद्यमान हैं। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण की दुहाई देने वाले वृथा चिल्लाते हैं क्योंकि ये सब पाठ द्वितीय संस्करण से ही बिगड़ चुके थे। हम बहुत विस्तार में चले गये। दुःख के साथ इतना ही कहना पड़ता है कि—

'जीर्णमङ्गे सुभाषितम्'

अस्तु प्रकरण यह है कि व्यतिकीर्ण शब्द भी होते हैं जो अक्षरों से बने होते हैं। वे अक्षर जिस शब्द के अवयव होते हैं उस शब्द के ग्राहक और वाचक होजाते हैं।

यह 'यज्ञ' शब्द जिसकी व्याख्या में हमने इतना लिखा वह 'यज्ञ' शब्द धातुज है। यज् न, याच् न, इत्यादि और यह 'यज्ञ' शब्द समस्तार्थज भी है। यन्+जः, यजु+उज्ञः इत्यादि।

यहां 'यज्ञस्य' पद की व्याख्या समाप्त हुई।

(होतारम्)

'होता' शब्द 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके' इस धातु से तृन् प्रत्यय करने

पर बनता है। 'हु' धातु के पांच अर्थ हैं—

१-दान = देना, २-आदान = ग्रहण करना, स्वीकार करना, ३-अदन = भक्षण करना, संहार करना, ४-प्रक्षेप = यज्ञ में आहुति डालना आदि, ५-प्रीणन = तृप्त करना।

प्रश्न—यहां धातुपाठ में दान शब्द पारिभाषिक है उस का अर्थ 'यज्ञ में आहुति का डालना' है। देना यह अर्थ नहीं। जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में लिखा है कि---

'दानं चेह प्रक्षेपः। स च वैधे आधारे हविषश्चेति स्वभावाल्लभ्यते'

(सिद्धान्तकौमुदी जुहोत्यादिगण)

अर्थात्—यहां दान का अर्थ यज्ञ कुण्ड में हविः का डालना है।

ऐसा ही मत सायणाचार्य, माधवीयाधातुवृत्तिकार और शब्दकल्पद्रुमकार आदि का है। अतः दानम् का देना अर्थ यहां असंगत है।

उत्तर—ये दीक्षित आदि लोकभाषा की दृष्टि से प्रत्येक बात कहते हैं महर्षि ने आख्यातिक में लिखा है कि—

"देना, खाना, और ग्रहण करना, यहां दान अर्थ से अग्नि में हवन करना भी लिया जाता है और इस धातु को भाष्यकार ने तृप्ति अर्थ में भी माना है"

(आख्यातिक जुहोत्यादिप्रकरण)

अतः दान शब्द का अर्थ देना मात्र भी है। जैसा कि देवराज यज्वा ने अपने निघण्टुभाष्य में लिखा है कि--

हविः············दीयते पिपासितेभ्यः आदीयते वा जनैरुपभोगाय।

(निघण्टु भाष्य १। १२ ॥)

अर्थात्--'हवि' शब्द 'हु' धातु से बनता है। हविः का अर्थ जल है जो हूयते = पिपासुओं को दिया जाता है और हूयते = मनुष्य उपभोग के लिये जिस का ग्रहण करते हैं।

यहां हु धातु का देना मात्र अर्थ है न कि यज्ञाग्नि में प्रक्षेप। और अदन = भक्षण। अर्थात् वह संहार करता है। जैसा कि वेदान्त सूत्र में लिखा है कि—

अत्ता चराचरग्रहणात् (वेदान्त १। २। ६॥)

अर्थात्—परमात्मा अत्ता है क्योंकि चराचर को ग्रहण करता है संहार करता है।

आदान शब्द का अर्थ आधार और स्वीकार करना है। (यज्ञस्य होतारम्) की व्याख्यासंगति पृष्ठ २२४ पर की जा चुकी है।

'यज्ञस्य होतारम्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(पुरोहितम्)

वह अग्नि=परमात्मा पुरोहित है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

१—पुरः=सृष्टि रचना से पूर्व जो परमाणुआदि जगत् है उसको धारण करने वाला है। २—पुरः=सर्व देहधारियों की उत्पत्ति से पूर्व ही सकल पदार्थ उत्पन्न करके धारण करने वाला है। ३—पुरः=धर्मात्माओं के भक्ति आरम्भ होने से पूर्व ही भक्ति उपयोगी विज्ञान आदि को जो परमात्मा धारण करने वाला है।

अभिप्राय यह है कि—१—सृष्टि रचना से पूर्व केवल ब्रह्म ही ब्रह्म नहीं था जैसा नवीन वेदान्ती मानने लग गये हैं। प्रत्युत ब्रह्म के अतिरिक्त परमाणुआदि नित्य पदार्थ भी विद्यमान थे जिन को परमात्मा स्वामी होने से प्रलय काल में धारण किये हुए था इसी से सृष्टि बनाई है। २—प्राणि संसार उत्पन्न होने से पूर्व प्राणियों के उपभोग का सामान प्रभु ने पहले से रच कर धारण किया हुआ था। ३—धर्मात्माओं की कोरी अपनी भक्ति कार्य नहीं कर सकती है जब तक प्रभुप्रदत्त ज्ञानविज्ञान सहायक न हों इस को प्रभु ने पूर्व से ही धारण किया हुआ था।

प्रश्न—पुरोहित शब्द कर्मवाच्य में बनता है जैसा कि यास्क ने निरुक्त में लिखा है कि—

"पुरोहितः पुर एनं दधति" (निरुक्त २।१२ ।।)

अर्थात्—पुरोहित उस को कहते हैं जिस को आगे धारण करते हैं। जैसे यज्ञ में ऋत्विजों को धारण करते हैं वे ऋत्विक् पुरोहित कहाते हैं। न कि धारण करने वाले को पुरोहित कहते हैं। यह तो कर्तृवाच्य का अर्थ है। और क्त प्रत्यय भी कर्मअर्थ में होता है।

उत्तर—क्त प्रत्यय आदिकर्म=क्रिया का प्रारम्भ इस अर्थ में भी होता और जो क्त प्रत्यय आदिकर्म अर्थ में होता है वह क्त प्रत्यय कर्ता में ही होता है। अतः पुरोहित शब्द का 'धारण करने वाला' अर्थ ठीक है। व्याकरणसूत्र पृष्ठ १८६ पर देखो। निरुक्त-कार ने कर्ता और कर्म दोनों अर्थों में पुरोहित शब्द को माना है। इसीलिये 'एनं' यह अन्वादेश का प्रयोग किया है। विशेष विवरण संस्कृतभाष्य में देखो।

प्रश्न—जहां आदिकर्म में क्त प्रत्यय होता है वहां 'प्र' उपसर्ग अवश्य लगा होता है जैसे—

प्रकृतः कटं देवदत्तः = देवदत्त ने चटाई को बनाना प्रारम्भ कर दिया।

उत्तर—आदिकर्म के रूपों में प्र उपसर्ग लगना कोई आवश्यक नहीं है। बिना प्र उपसर्ग के भी आदिकर्म में क्त प्रत्यय देखा जाता है जैसे—

"एते याताश्च सद्यः तव वचनामितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः"

(नागानन्द नाटक ३। १५॥)

अर्थात्—ये सिद्ध लोग तेरी आज्ञा को प्राप्त कर के युद्ध के लिये याताः= चल पड़े।

यहां 'याताः' आदिकर्म में है पर प्र उपसर्ग नहीं है अतः पुरोहित शब्द में भी क्त प्रत्यय बिना प्र उपसर्ग के आदिकर्म अर्थ में है।

'पुरोहितम्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(देवम्)

वह अग्नि = परमात्मा 'देव' है उस की हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

देव = सुखों का दाता, सब जगत् का प्रकाशक, अपने भक्तों को हर्ष देने वाला, अधर्मान्यायकारी मनुष्यशत्रु और काम क्रोधादि शत्रुओं के विजय की इच्छा से पूर्ण है और सब विद्वान् जिस की कामना करते हैं।

पांच देव शब्द हैं जो भिन्न भिन्न प्रकृतियों से बने हैं अन्त में सब की आकृति एक होजाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही देव शब्द है और उस के अनेक अर्थ हैं। वे पांच देव शब्द नीचे लिखे प्रकार हैं—

१—एक देव शब्द—

"डु दाञ् दाने" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। ददातीति देवः। दा+अच्। दाव्+अ। देव्[1]-अ। देवः।

२—दूसरा देव शब्द—

१—'डुदाञ् दाने' धातु के 'देयात्' आदि रूपों में एकार भी देखा जाता है।

"दीपी दीप्तौ" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। [1]दीप्यते प्रज्वलीति देवः। दीप्–अ। दीव्—अ। देवः।

३—तीसरा देव शब्द—

"द्युत दीप्तौ" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है।
द्योतते प्रकाशते इति देवः।
द्युत्+अ। दि+उ+अ। दि+व्+अ। देवः[2]।

४—चौथा देव शब्द—

दिव् शब्द से तद्धित् अण् प्रत्यय करने पर बनता है। दिवः इमे इति देवाः। दिव+अण्। देव+अ। देवः। द्युलोक में रहने वाले पदार्थ[3]।

५—पांचवां देव शब्द—

"दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति [4]गतिषु" धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। दीव्यतीति देवः। दीव्यते इति देवः।

महर्षि के विस्तृत भाष्य में 'सर्वैर्विद्वद्भिः कामनीयम्' सब विद्वान् जिस की कामना करते हैं यह कर्म में अच् प्रत्यय है।

'देवम्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(ऋत्विजम्)

वह अग्नि=परमात्मा ऋत्विक् है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

१—ऋत्विक्=ऋतौ ऋतौ – प्रत्येक सृष्टि के समय यजति–संसार को संगत करता है अर्थात् स्थूल सृष्टि को रचने वाला है।

ऋतु शब्द 'ऋ गतौ' धातु से बनता है। यहां गति का अर्थ है नियमित—मर्यादा पूर्ण गति। बसन्त आदि ऋतुएं ठीक समय पर बारम्बार लौट लौट कर आती

१—प्रज्वलनशील भौतिकाग्नि।

२—देवः प्रकामानः परमेश्वरः (महर्षिभाष्यम् ऋ० २। २२। २॥)

३—(देवाः) चन्द्रादयो दिव्याः पदार्था इव विद्वांसः (म० भा० ऋ० ४। १६। २॥)

४—'कमु कान्तौ' धातु से कान्ति शब्द बनता है।
'कान्ति' का अर्थ शोभा भी है और कामना=इच्छा अर्थ भी है। जैसे इच्छा अर्थ में कन्या कामयते पतिम्। निष्कण्टुमर्थं चकमे कुवेरात्।

हैं। स्त्री का ऋतु काल भी ठीक समय पर बार बार आता है। किसी स्त्री का २८ दिन बाद किसी स्त्री का २६ दिन बाद इत्यादि[1]। प्रत्येक नियमित समय को ऋतु कहते हैं। ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्द वेङ्कट आदि ने भी ऋतु का अर्थ प्रत्येक यागकाल इसी लिये किया है।

'ऋत' शब्द भी 'ऋ गतौ' धातु से बनता है।

'ऋतं च सत्यं च०' (ऋ० १०। १६०। १॥) मन्त्र में 'ऋतम्' का अर्थ वेद[2] है। क्योंकि वेद प्रत्येक सृष्टि में बारम्बार वही लौट कर आता है और सब मर्यादाओं को वर्णन करने वाला भी है। 'आर्य' शब्द भी 'ऋ गतौ' धातु से बनता है। जिसका जीवन मर्यादाओं से बंधा हुआ है वह आर्य कहाता है और जो मर्यादाओं का उल्लंघन करता है वह अनार्य कहाता है। यास्क ने निरुक्त[3] में 'ऋतुथा = काले काले' अर्थ किया है। ऋ धातु से बने प्रत्येक शब्द के अर्थ में मर्यादा पाई जाती है। अतः महर्षि ने ऋतु शब्द का अर्थ प्रत्येक सृष्टि उत्पत्ति का समय किया है।

२—ऋत्विक् = प्रत्येक समय जिस की पूजा हो सकती है।

३—ऋत्विक् = जो प्रभु ऋत्विक् के समान है। अर्थात् जैसे ऋत्विक् अग्निहोत्रादि यज्ञों का सम्पादन करता है वैसे परमात्मा भी ज्ञान आदि यज्ञों का संपादक है।

अनेक प्रकार के यज्ञ हैं तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ[4] आदि। अग्निहोत्रादि द्रव्ययज्ञ कहाते हैं।

'ऋत्विक्' की व्याख्या समाप्त हुई।

(रत्नधातमम्)

वह अग्नि = परमात्मा रत्नधातम है उसकी हम स्तुति और प्रार्थना करते हैं।

रत्नधातमम् = जीवों को देने के लिये रत्नों को अत्यन्त धारण करने वाला या

१—यही स्त्री का मास कहाता है उस के दस मास में गर्भस्थ बालक का जन्म होता हैं। जैसे जिस स्त्री का २८ दिन का मासिक ऋतु धर्म है उस के २८० दिन में बच्चा पैदा होगा। वेदों में 'एजंतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह' (यजु० ८। २८॥) दस मास गर्भ रह कर बच्चा पैदा होना लिखा है। वे १० मास स्त्री के मास के नियम से हैं न कि चैत्र आदि या जनवरी आदि।

२—देखो पञ्चमहायज्ञविधि ब्रह्मयज्ञप्रकरण।

३—निरुक्त ८। १७॥ और १२। २७॥

४—देखो भगवद्गीता (४। २८, ४। ३३॥)

अत्यन्त देने वाला है उसको । 'रत्न' शब्द 'रमु' धातु से 'न' प्रत्यय करने पर बनता है। जिसमें मन लगे उस को रत्न कहते हैं। अधिकारिभेद से पृथक् पृथक् विषय में मन लगता है। किसी का मन हीरा जवाहरात में रमा करता है। पर योगियों का मन ज्ञान में लगता है उन के लिये ज्ञान ही रत्न है । वह परमात्मा जीवों के लिये हीरा आदि रत्नों को भी देता है और मुमुक्षुओं को ज्ञान हीरा देता है।

'धा' धातु के धारण पोषण और दान तीन अर्थ हैं'[1] ।

रत्नधातम की व्याख्या समाप्त हुई।

विशेष द्रष्टव्य—'यज्ञस्य' इस षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध सब के साथ है। यज्ञस्य होतारम् । यज्ञस्य पुरोहितम् । यज्ञस्य देवम् । यज्ञस्य ऋत्विजम् । यज्ञस्य रत्नधातमम् ।

'यज्ञस्य पुरोहितम्' यह महर्षि ने पदार्थान्वय में लिखा है। 'यज्ञस्य होतारम्' यह पदार्थान्वयभाषा में है। 'यज्ञस्य देवम्' यह विस्तृतभाष्य में है।

(यज्ञस्य) यह शैषिकी षष्ठी है। पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और यज्ञ के विशेषण हैं।

(भ्रान्तिनिवारण श० सं० भाग २ पृष्ठ ६१२॥)

यज्ञस्य देवम्=विद्वत्सत्कार आदि का देने वाला और अग्निहोत्रादि यज्ञों का वेदों में प्रकाशक।

यज्ञस्य पुरोहितम्=विद्या विज्ञान आदि के आविर्मूल । इत्यादि ।

अरविन्दशिष्य कपालि सिद्धाञ्जनभाष्यकार ने लिखा है कि यज्ञस्य का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है यह बात अनावश्यक और अयुक्त है । कपालि का यह कथन कपोलकल्पना मात्र है जो विना नाम लिये महर्षि का खण्डन किया है।

अभियुक्तों का कहना है कि—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थोऽपि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्।

अर्थात्—जिस का जिस के साथ सम्बन्ध है वह दूर होने पर भी उस के साथ जुड़ेगा। हां अर्थ असंगत हो तो किसी शब्द का समीप होने मात्र से किसी के साथ जोड़ना असंगत कहावेगा।

यह ऋग्वेद की प्रथम ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ समाप्त हुआ । अब आगे भौतिकाग्नि परक मन्त्र की व्याख्या संस्कृत और आर्यभाषा में की जावेगी।

१—डु धाञ् धारणपोषणयोः । दानेऽप्येके । (माधवीयधातुवृत्तिः) 'रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम्' (निरुक्त ७।१५॥)

अथ द्वितीयोऽर्थः

(महर्षिभाष्यम्)

भौतिको वा ...... दग्धादिति विशेषणाद् भौतिकस्यापि । (ऋ० भा० पदार्थः)

भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणवत्त्वाच्छिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेदितव्यम् । (ऋ० भा० भावार्थः)

अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते । रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निम् । ... .

कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति । विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति । (म० विस्तृतं भाष्यम् द्वितीयोऽर्थः)

तथा उपकार के लिये । (ऋ० भा० पदार्थान्वयभाषा)

(ईळे) अधीच्छामि प्रेरयामि वा । (ऋ० भा० पदार्थः)

(ईळे) तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे । (ऋ० विस्तृतं भाष्यं भौतिकार्थे

मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ[1] ।

(ऋ० विस्तृतं भाष्यं भौतिकार्थे भावार्थः)

१—स्तुति करता हूँ अर्थात् गुणों का वर्णन करता हूँ ।

(अन्वितार्थप्रदीपः)

अथोपकारार्थमहम् (अग्निम्) भौतिकमग्निम् । (ईळे) अधीच्छामि=अधिकं यथा स्यात् तथा पुनः पुनरित्यर्थः इच्छामि । अथ च प्रेरयामि=क्रियोपयोगिनं करोमि । अथ च तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे=तस्य भौतिकाग्नेर्यानचालनादिगुणानामनुसन्धानं करोमीत्यर्थः । अथ च स्तुवे=तस्याग्नेर्गुणवर्णनं करोमि ।

'ईड स्तुतौ' इति धातुपाठे । 'ईडे······अनेकार्थः' इति कौत्सव्यनिघण्टौ । 'ईळिरध्येषणाकर्मा' इति निरुक्ते ७।१५।।

तत्र स्तुतिर्गुणवर्णनम् । अध्येषणायाश्चार्थत्रयम्—

१—अध्येषणा=अधिकं यथा स्यात् तथा पौनःपुन्येनेच्छा ।

२—अध्येषणा=प्रेरणा । ३—अध्येषणा=अन्वेषणम् ।

(१) अधिपूर्वाद् 'इष इच्छायाम्[१]' इत्यस्माद् धातोः स्त्रियां भावे युचि टापि अध्येषणा=पौनःपुन्येनेच्छा ।

२—अधिपूर्वाद् 'इष गतौ' इत्स्माद् धातोर्णिजन्तात् स्त्रियां भावे युचि टापि अध्येषणा=प्रेरणा ।

ननु 'इषेरनिच्छार्थस्य' (वा०३।३।१०७)

इत्यनिच्छार्थस्य युज्विधानात् कथं युच्प्रत्ययान्तस्य अध्येषणाशब्दस्य पौनःपुन्येनेच्छा इत्यर्थः ।

उच्यते—अनिच्छार्थस्यापि पदस्येच्छार्थे प्रयोग उपलभ्यते यथा—

उदङ् प्रयन्नाह अप इष्य होतः, इत्यप इच्छ होतरित्येवैतदाह ।।
(शत० ब्रा० ३।६।३।१५ ।।)

अस्यायमर्थः—उदङ् प्रयन्=उदङ्मुखं गच्छन् । आह=प्रैषान् ब्रूयात् । तत्र प्रथमं प्रैषमाह—

अप इष्य होतः—हे होतः ! अपः प्रति इष्य=इच्छ 'प्र देवत्रा०' (ऋ० १०।३०।।)

१—केचित्तु इषु इच्छायाम् इति पठन्ति ।

पानप्त्रीयमनुब्रूहीत्यर्थः । तथोक्तमैतरेये—अपोनप्त्रीयमकुर्वत 'प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ।

अत्राह सायणः—

इष्यतेरिच्छतिरर्थ इति व्याचष्टे—अप इच्छ होत इत्येवैतदाहेति (सायण शतपथभाष्य ३।६।३।१५।।)

३—दृश्यते च इच्छतिरन्वेषणार्थेऽपि । यथा—

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
रक्षसाऽपहृता सीता तामिच्छन्ताविहागतौ ।।

(वा० रा० अरण्य ७० सर्ग १५ श्लोक)

तामिच्छन्तौ तामन्वेषयन्ताविहागताविति कबन्धं प्रति लक्ष्मणस्योक्तिः । 'इच्छन्तौ अन्वेषयन्तौ' इति रामायणटीकाकृतः ।

(भौतिकार्थेऽग्निशब्दस्य व्याख्या)

अथ भौतिकार्थेऽग्निशब्दं व्याख्यास्यामः । अत्राह यास्कः—

अग्निः कस्मात् ... ... अङ्गं नयति सन्नममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इतात् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते । गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा । नी परः ।

(निरुक्त ७ । १४ ।)

१—अस्यायमर्थः—अयमग्निशब्दोऽङ्गपूर्वात् 'नी' धातोरपि निष्पन्नः । स हि सन्नममानः=यत् किंचिदपि समाश्रयन् अङ्गं नयति=स्वं रूपं प्रापयति । यत्र तृणे काष्ठे वा समाश्रयति तत् सर्वमात्मसात्करोति भस्मीकरोतीत्यर्थः । स अङ्ग+नी । अग्+नी सन् ङकारलोपेन ईवर्णस्य इवर्णव्याप्त्या च अग्निरित्युच्यते परोक्षेण । ईदृशोऽग्नि भौतिकाग्निः ।

२—अन्यथाग्निशब्दः नञ् पूर्वात् "क्नूयी शब्दे उन्दे च" इत्यस्माद् धातो

निष्पन्नः। यो हि न क्नोपयति[1]=न स्नेहयति रूक्षयतीत्यर्थः स न+क्नूय्। न क्नू। अक्नू। अक्निः। अग्निः सन् नकारयकारयो लोपेन ककारस्य गकारवर्णव्यापत्त्या ऊकारस्य च इकारव्यापत्त्या परोक्षेण अग्निरित्युच्यते। इति स्थौलाष्ठीविर्निरुक्ताचार्यो मन्यते स्वनिरुक्ते।

३—अन्यथाग्निशब्दस्त्रिभ्यो धातुभ्यो जायते। भवन्ति बहुधातुजा अपि शब्दा इत्युक्तं प्राक् २३० पृष्ठे। के च ते त्रयो धातव इत्यत्राह—

इण् धातुः, दह धातुः, नी धातुः। इण् धातोः अयनम् आदिशब्देषु दृष्टोऽकारः। दह धातोः दग्धम् आदिशब्देषु दृष्टो गकारः। नी परः। य एति=गच्छति गतिशीलः। यश्च दहति=भस्मसात् करोति। यश्च नयति=प्रापयति गतिं ददाति स्थानान्तरं प्रापयति सोऽग्निः। इण्=अ, दह=ग्, नी=नि=अग्निः।

४—अन्यथाग्निशब्दः इण् धातोः अञ्जू धातोः नीधातोश्च निष्पन्नः। य एति नयति पूर्ववत्। अनक्ति=रूपाणि प्रकटयति सोऽग्निः। इण्=अ, अञ्जू धातोः अक्तम् आदिशब्देषु दृष्टः ककारो गकारीकृतः। नी परः[3]। इण्=अ अञ्जू=ग्, नी=निः।

अत्रेदमप्यवबोद्धव्यम्—वैदिका हि शब्दा योगार्थं पुरस्कृत्य नानार्थेषु वर्तन्ते। यथा महर्षिभाष्ये—

(अग्निः) न्यायमार्गे गमयिता विद्वान्। (ऋ० भा० १।१०७।३॥)

१—क्नोपयतेरर्थान्तरप्रसिद्धत्वाद् अनेकार्था धातव इत्याह—इति स्कन्दः।

२—स्थूलाष्ठीवः कश्चित् तदपत्यं स्थौलाष्ठीविः। 'बाह्वादिभ्यश्च' (शब्दानु० ७।१।९६।।) इति बाह्वादेराकृतिगणत्वात् अपत्यार्थे इञ् प्रत्ययः। अयं स्थौलाष्ठीविराचार्यो अन्यत्रापि निरुक्ते स्मृतः। "वायुः.........एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः" (निरु० १०।१॥)

अस्यायमर्थः—स्थौलाष्ठीविराचार्यो मन्यते वायुः शब्द इण् धातोर्निष्पन्नः। अत्र वकारो अनर्थकः। एतीति वायुः।

३—निरुक्ते एतेः अनक्तेः दहतेः नयतेः इति वक्तव्ये इतात् अक्तात् दग्धात् नीतात् इति क्तान्तानामुपादानं रूपप्रत्यासत्तिप्रदर्शनार्थम्। क्तप्रत्यये हि अञ्जेर्जकारस्य दहतेर्हकारस्य कवर्गापत्तिर्दृष्टा। इतात् नीतात् इति तु साहचर्यात्।

(अग्नयः) नेतारो नयन्ति श्रेष्ठान् पदार्थान् ।

(यजु० भा० ५ । ३४ ॥

(अग्निः) विज्ञानस्वरूपः । (ऋ० भा० १ । ७७ । २ ॥

(अनेकनिर्वचनानि)

अत्रापि अनेकानि निर्वचनानि विभिन्नेषु वाच्येषु ज्ञेयानि । अङ्गनीरन्यः । अक्नोपनोऽन्यः । त्रिजौ चान्यौ । इति सर्वत्र निर्वचनप्रसङ्गेषु ज्ञेयम् ।

महर्षिणा भाष्ये भौतिकाग्नेर्गुणा उक्ताः—रूपम् । दाहः । प्रकाशः । वेगः छेदनम् । ऊर्ध्वगमित्वम् । भास्करत्वम् । एतद्गुणं भौतिकाग्निम् ईळे तस्य गुणान्वेषणं कुर्वे इत्यादि । तथा च मन्त्रवर्णाः—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा । (यजु० १८ । ५० ॥

अत्राह याज्ञवल्क्यः शतपथे—

यद्वेवाह । स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहेत्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि । (शत० ब्रा० ६ । ४ । २ । २५ ॥

अस्यायमर्थः—स्वर्ण घर्मः स्वाहा० इत्यादिमन्त्रे घर्मः—अर्कः—शुक्रः—ज्योतिः—सूर्य इत्यग्नेर्नामानि पञ्च ।

(१) घर्मः—जिघर्ति प्रक्षरति स्वेदः शरीराद् अनेनेति घर्मः आतप इत्यर्थः । जिघर्ति दीप्यते प्रकाशं ददाति यः स घर्मः । अग्नेर्यो घर्मो नाम तस्यातपप्रकाशावर्थौ । घृ+मक् । 'घृ प्रक्षरणदीप्त्योः' धातुः ।

(२) अर्कः—ऋच्छति=प्रापयति इत्यर्कः । यो हि गतिमान् वेगवानित्यर्थः सोऽर्को नामाग्निः । 'ऋ गतिप्रापणयोः' इत्यस्मात् कः प्रत्ययः । यथा कृ स्वर्कोऽन्तोदात्तः ।

१—स्वः । न इति पदद्वयम् न शब्द उपमावाचकः । स्वः नः = स्वरिव । रेखेऽधो रेखया स्वर्यते । शतपथे तु उदात्तोऽधोरेखया स्वर्यते ।

(३) शुक्रः—तस्माच्छुक्लं पवित्रं शुक्रः सोमः स शुक्लत्वाय ।

(ताण्ड्य० ६ । ६ । ६ ॥)

अस्यायमर्थः—पवित्रम्=दशापवित्रं शुक्लम्, सोमोऽपि शुक्रः= निर्मलः स सोमः शुक्लत्वाय शुक्लसोमानुगुण्याय भवति । शुक्र शुक्ल शब्दौ पर्यायौ शुक्रशब्दः शुक्लत्वेन परिणतः । तस्मादग्नेर्यो नाम शुक्र इति तस्यार्थः शुक्लः श्वेतो भास्वररूप इत्यर्थ ।

(४) ज्योतिः—द्योतत इति ज्योतिः । 'द्युत दीप्तौ' इत्यस्मात् 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' (उणा० २।१११॥) इति इसिन् प्रत्ययः धातोरादेर्दकारस्य जकारादेशश्च । नित्वादादाद्युदात्तः । अग्नेर्यो ज्योतिर्नाम तस्यार्थः तेजः । अत उक्तम्—

अग्निर्वा अरुषः । (तै० ब्रा० ३ । ६ । ४ । १ ॥)

तेजो वा अग्निः । (तै० ब्रा० ३ । २ । ४ । २ ॥)

(५) सूर्यः—सुवति प्रेरयतीति सूर्यः । अग्नेर्यः सूर्यो नाम तस्यार्थः प्रेरकः गतिप्रदाता ।

अथाग्निरूपाण्युच्यन्ते—

तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि । (शत० ६ । १ । ३ । १८ ॥)

अस्यायमर्थः—रुद्रः । शर्वः । पशुपतिः । उग्रः । अशनिः । भवः । महान् देवः । ईशानः । इत्यष्टौ अग्ने रूपाणि । यानि कार्याण्यसावग्निः करोति तान्यस्य रूपाण्युच्यन्ते । तत्र रुद्ररूपमुच्यते—

रौद्रो वै प्रतिहर्ता (गो० ब्रा० उ० ३ । १६ ॥)

अस्यायमर्थः—एषो ह्यग्निः प्रतिहर्ता छेदनभेदनकर्ता इत्यादि ज्ञेयम् । विस्तरभयान्न प्रपच्यते । तस्मात्साधूक्तं महर्षिणा—

भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणत्वात् शिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृत-

मस्तीति वेदितव्यम् ।

(ऋ० भा० भावार्थे)

अस्यायमर्थः—अग्निं विना सर्वोत्तमशिल्पविद्याया अभावः । तथा चोच्यते—

सोऽग्निमब्रवीत् । त्वं वै मे ज्येष्ठःपुत्राणामसि त्वं प्रथमो वृणीष्वेति ।

(जै० उ० १ । ५१ । ५६ ॥)

इयं प्रजापतेरग्निं प्रत्युक्तिः ।

यत्तूक्तं भाष्ये भावार्थे—

आर्यैर्याश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत् ।

इत्यत्र मन्त्रवर्णा एव प्रमाणम् । तथाहि—

वृषो॑ अ॒ग्निः समि॑ध्यते॒ऽश्वो॒ न दे॑व॒वाह॑नः ।
तं ह॒विष्म॑न्त ईळते ।

(ऋ० ३ । २७ । १४ ॥)

वृषो॒ इति॑ । अ॒ग्निः । सम् । इ॒ध्य॒ते॒ । अश्वः॑ । न । दे॒व॒ऽवाह॑नः । तम् । ह॒विष्म॑न्तः । ई॒ळ॒ते॒ ।

भाष्यम्—यदा शिल्पिभिः अयम् (अग्निः) भौतिकाग्निः (समिध्यते) यन्त्रकलादिभिर्यानेषु प्रदीप्यते तदाऽयमग्निः (वृषा उ) वृष इव (अश्वो न) अश्व इव (देववाहनः) देवान् विदुषः शीघ्रं देशान्तरे प्रापकः (तम्) अग्निं (हविष्मन्तः) [2]अतिशयेन होतुम्—दातुमादातुमत्तुं योग्यैर्वस्तुभिर्युक्ता मनुष्या

१—वृषा उ इति पदद्वयम् । उञः प्रगृह्यसंज्ञामाश्रित्य ओकारस्य प्रकृतिभाव इव इवार्थः ।

२—अतिशायने मतुप् । तथा चोक्तम्—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

(ईळते) कार्यार्थमधीच्छन्तीति ।

अग्नेर्भौतिकार्थे ब्राह्मणमपि चात्र भवति ।

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य । (शत० १।४।३।११॥)
तूर्णिर्हव्यवाडिति । (शत० १।३।४।१२॥)
अग्निर्वा अश्वः श्वेतः । (शत० ३।५।१।५॥)

कीदृशं भौतिकाग्निमित्यत्राह

(यज्ञस्य होतारम्) (यज्ञस्य देवम्)

(महर्षिभाष्यम्)

(यज्ञस्य) .... विद्यादिदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा .... (होतारम्) दातारम् ।
(देवम्) द्योतकम् । (म० भा० ऋ० १।१।१॥ पदार्थः)

(यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य । (देवः) व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् ।

(म० विस्तृतं भाष्यं द्वितीयोऽर्थः)

(अन्विताथप्रदीपः)

भौतिकमग्निं विशिनष्टि—(यज्ञस्य) विद्यादिदानस्य । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इति यज धातोर्नङ् प्रत्ययः । (यज्ञस्य) शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य=शिल्पक्रियाभिरुत्पादयितुं योग्यस्य पदार्थसमूहस्य । यन् = शिल्पक्रियां प्राप्नुवन् जात इति । यन्+जः सन् यज्ञ इत्युच्यते ।

स यन् जायते तस्माद् यञ्जः । यञ्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः ।
(शत० ३।६।४।२३॥)

१७० पृष्ठे व्याख्यातम् ।

(यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य= विविधाभिः अनेकप्रकाराभिः क्रियाभिः शिल्पक्रियाभिः जातस्य उत्पन्नस्य शिल्पविद्यादिक्रियाभिः तदनुभवैः जन्यो यो बोधः ज्ञानं तदात्मकस्य संगतस्य संगतिकरणरूपस्य शिल्पविद्यादिमयस्य यज्ञस्य (होतारम्) दातारम् । अथ च तादृशस्य यज्ञस्य (देवम्) प्रकाशकम् । अथ च (देवम्) व्यावहारिकविद्यायाः प्रकाशकम् ।

(महर्षिभाष्यम्)

(पुरोहितम्) पुरस्ताद्.........दधाति छेदनधारणाकर्षणादिगुणान् (म० भाष्य ऋ० १।१।१ पदार्थ)

(पुरोहितम्) अतएव सोऽग्निः पुरोहितः पुरस्ताद् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः । (म० विस्तृतं भाष्यं द्वितीयोऽर्थः)

अन्वितार्थप्रदीपः

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—(पुरोहितम्) पुरस्तात्=शिल्पविद्याजातानां पदार्थानामुत्पत्तेः प्रागपि दधाति=छेदनधारणाकर्षणादिगुणान् धारयतीति तम् । अस्मिन् भौतिकाग्नौ छेदनधारणाकर्षणादिगुणा विद्यन्त इत्यर्थः । शिल्पविद्यायामग्निद्वारैव छेदनं धारणम् आकर्षणं च क्रियत इति यावत् ।

विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणम्—विमानम् = पक्षिवदुड्डयनम्, कला=गीतवादित्रादि, कौशलम्=क्षिप्रकारित्वम्, क्रिया=चक्रवृत्तत्वादि, प्रचालनम्=यानादिचालनम् तदादिगुणम्=तदादिगुणमयम् शिल्पविद्यास्वरूपं पुरस्तात् दधातीति तम् । अयमग्निः सर्वशिल्पविद्यानां प्रथमो हेतुः निदानं बीजं कारणमिति।

विमानशब्दो विमानशास्त्रे व्याख्यातस्तथाहि—

विमानो वेगसाम्यादण्डजानामिति । (वि० शा० १।१।)

अस्यायमर्थः—वीनामण्डजानां पक्षिणामिति यावत् वेगसाम्यात् तेषां वेगशक्तिं य मातुं समर्थः स वि+मान इत्युच्यते । अस्य विमानशास्त्रस्य वृत्तौ विश्वम्भरो ऽप्याह—

देशाद् देशान्तरं तद्वद् द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा।
लोकाल्लोकान्तरं चापि यो ऽम्बरे गन्तुमर्हति।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः ।।

खे आकाशे ऽटतीति खेटो विमानः तच्छास्त्रज्ञानां वरैः श्रेष्ठैः। स्पष्टमन्यत्।

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—

(ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ=सर्वर्तुषु यजति=सर्वशिल्पसाधनानि संगमयति, सर्वर्तुसुखानि शिल्पविद्याजन्यसाधनानि प्रापयतीत्यर्थस्तम् । यथासमयं वा शिल्पविद्यासाधनहेतुम् । सर्वशिल्पविद्याव्यवहारस्य द्योतनार्हं=द्योतकम् ।

अथ च ऋत्विजमिव=यथा ऋत्विक् समये सर्वसाधनानि संगमयति तथाऽयमग्निः समयानुरोधेन सर्वं संपादयति ।

महर्षिभाष्यं चाऽत्र द्रष्टव्यम्—

ऋतौ ऋतौ शिल्पसाधनानि संगमयति ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १ । पदार्थः)

सर्वशिल्पविद्याव्यवहारद्योतनार्हम् । (महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम्)

पुनर्भौतिकाग्निं विशिनष्टि—

(रत्नधातमम्) रत्नानि सुवर्णादीनि दधाति धापयतीत्यर्थः । अन्तर्णीतण्यर्थः । स रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम् । यद्वा तद्विधानिष्ठानां जनानां रत्नैरतिशयेन दधाति पोषयति तम् । अथ च रत्नशब्देन रत्नविद्योच्यते तस्याधारभूतमिति च ।

अयं धा धातुर्दानेऽपि वर्तते तथा चोक्तम्—

डु धाञ् ाल धारण पुष्टौ दान ।　　(कविकल्पद्रुमः)

अत्र 'लि' इति जुहोत्यादिगणसंज्ञा । अयं धातुर्धारणे पुष्टौ दाने च वर्तत इत्यर्थः । यथा--

'द्विषता विहितं त्वयाथवा'　　(किरातार्जुनीयम् २ । १७ ॥)

विहितं दत्तमित्यर्थः । विहितमिति वि पूर्वाद् धा धातोः क्तान्तरूपम् ।

शिल्पविद्यायां साधितोऽग्नी रत्नप्रदः । तत्प्रभावेण शिल्पिजना रत्नाकरा भवन्ति । एतस्याग्नेरेव प्रभावेण रत्नानि निर्मीयन्ते इति शुक्रनीत्यादौ प्रसिद्धम् । महर्षिभाष्यं चात्र द्रष्टव्यम्—

(रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम् ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १ ॥ पदार्थः)

तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्, तद्विद्याधारकं वा ।　　(महर्षेर्विस्तृतं भाष्यम्)

(अथालंकारविवेचनम्)

अत्राह महर्षिः—

अत्र श्लेषालंकारेणोभयार्थग्रहणमस्तीति बोध्यम् ।

(म० भा० ऋ० १ । १ । १ ॥ भावार्थः)

श्लेषालंकारः = अभङ्गशब्दश्लेषालंकार इत्यर्थः । तल्लक्षणमुच्यते—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥

भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

(काव्यप्रकाश ६ । ८४ ॥)

अस्यायमर्थः—वाच्यभेदेन अर्थभेदेन भिन्ना युगपद्भाषणमेकोच्चारणं स्पृशन्तीति युगपद्भाषणस्पृशः शब्दा यत् श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषो नामालंकारः । यथा—अग्निः=परमेश्वरः । अग्निः=भौतिकाग्निरिति वाच्यभेदेन भिन्नौ द्वौ अग्निशब्दौ अग्निरित्येकरूपतया भासमानौ श्लिष्यतः । अतोऽत्र श्लेषालंकारः । असौ श्लेषो वर्ण--पद--लिङ्ग--भाषा--प्रकृति--प्रत्यय--विभक्ति--वचन भेदादष्टविधः सभङ्गश्लेषः । प्रकृत्यादिभेदरहितो नवमोऽभङ्गश्लेषोऽत्र मन्त्रे । अयमभङ्गश्लेषः शब्दालंकार इति मम्मटः ।

अभङ्गश्लेषोऽर्थालंकार इत्यालंकारसर्वस्वकारादयो जगन्नाथश्च ।

श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षता, उभयोरपि प्राकरणिकत्वात् ।

आर्यभाषा

भौतिकार्थव्याख्या

अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से किया जाता है—

हम लोग उपकार के लिये (अग्निम्+ईळे) भौतिकाग्नि की बार बार इच्छा करते हैं, उसको क्रियोपयोगी अर्थात् काम के योग्य बनाते है, उसको यानादि में प्रेरित करते हैं, उसके गुणों का वर्णन करते हैं, उसके गुणों का अन्वेषण करते हैं ।

(ईड धातु के अनेक अर्थ)

ईड धातु के अनेक अर्थों के सम्बन्ध में हम पृष्ठ १६६ से १६६ तक प्रकाश डाल चुके हैं कि ईड धातु के ६ अर्थ हैं। १—स्तुति, २—प्रार्थना, ३—अध्येषणा=पुनः पुनः अर्थात् अत्यन्त इच्छा, ४—अध्येषणा=प्रेरणा, ५—अध्येषणा=गुणों का अन्वेषण, ६—पूजा। इन में से प्रार्थना और पूजा अर्थ भौतिकार्थ में उपयुक्त नहीं हैं। १—स्तुति करते हैं=भौतिकाग्नि के गुणों का वर्णन करते हैं। २—भौतिकाग्नि की व्यवहारविद्या के लिये अत्यन्त इच्छा करते हैं । ३—भौतिकाग्नि को यानादि में प्रेरित करते हैं। ४—भौतिकाग्नि के गुणों की खोज करते हैं। ये चार अर्थ भौतिक अर्थ में ग्राह्य हैं।

धातुपाठ में "ईड स्तुतौ" है अर्थात् ईड धातु का अर्थ स्तुति है। स्तुति=गुणों का वर्णन। और निरुक्त में "ईळिरध्येषणाकर्मा" है। अध्येषणा के तीन अर्थ हैं—

१—अध्येषणा=प्रेरणा

२—अध्येषणा=पुनः पुनः इच्छा

३—अध्येषणा=अन्वेषण—खोज

१—अधि उपसर्ग पूर्वक 'इष गतौ" धातु से णिजन्त से स्त्रीलिङ्ग में भाव अर्थ में युच् प्रत्यय करके टाप् करने पर अध्येषणा शब्द बनता है । इस का प्रेरणा अर्थ है
अधि+इष्+णिच्+युच्+टाप्=अध्येषणा ।

२—दूसरा अध्येषणा शब्द अधि उपसर्ग पूर्वक 'इष इच्छायाम्' धातु से स्त्रीलिङ्ग भाव अर्थ में युच् प्रत्यय करके टाप् करने पर बनता है । इसका अर्थ है पुनः पुनः इच्छा और—

३—अन्वेषण=खोज।

प्रश्न—'इषेरनिच्छार्थस्य' (वा० ३।३।१०७) इस में इष धातु को युच् प्रत्यय होता है पर इच्छा अर्थ में नहीं । अतः प्रेरणा अर्थ में "इष गतौ" धातु से णिजन्त से

युच प्रत्यय हो सकता है । परन्तु 'इष इच्छायाम्' इस धातु से युच् प्रत्यय नहीं हो सकता । अतः युच् प्रत्ययांत अध्येषणा शब्द का अर्थ इच्छा या खोजना नहीं हो सकता है ।

उत्तर—यह सत्य है परन्तु वैदिक साहित्य में अनिच्छार्थक भी पद का इच्छा अर्थ में प्रयोग देखा जाता है जैसे शतपथ ब्राह्मण में आता है कि—

उदङ् प्रयन्नाह—'अप इष्य होतः' इत्यप इच्छ होतरित्येवैतदाह ॥
(श० ब्रा० ३ । ६ । ३ । १५ ॥)

अर्थात्—(उदङ् प्रयन्) उत्तराभिमुख जाता हुआ (आह) अध्वर्यु कहता है कि (अपः इष्य होतः (तै०सं०६।४।३।३॥) हे होतः (अप इष्य=अप इच्छ) जलों के प्रति इच्छा कर । अर्थात् "प्र देवत्रा ऋ० १० । ३० ।." इस अपोन्त्रीय प्रैष को बोल ।

यह 'इष्य' क्रिया जो इच्छार्थक नहीं है उस का इष्य=इच्छ यह इच्छा अर्थ शतपथ ब्राह्मण में किया है । इसी लिये सायणाचार्य शतपथ के भाष्य में लिखता है कि—

इष्यतेरिच्छतिरर्थं इति व्याचष्टे । (सायणाचार्यः)

अर्थात्—इष्य का इच्छा अर्थ यहां किया गया है ।

इस अध्येषणा शब्द का खोज अर्थ भी है । क्योंकि यह इच्छार्थक धातु अन्वेषण खोज अर्थ में भी आती है जैसा कि बाल्मीकिरामायण का प्रयोग है कि—

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
रक्षसाऽपहृता सीता तामिच्छन्ता विहागतौ ॥

(बा० रा० अरण्य ७० सर्ग १५ श्लोक)

अर्थात्—कबन्ध राक्षस से लक्ष्मण कह रहे हैं कि—देवताओं के तुल्य प्रभावशाली विजन वन में रहते हुए इन राम की सीता राक्षस ने हर ली है उसको इच्छन्तौ=ढूंढते हुए हम दोनों यहां आये हैं । यहां रामायण के टीकाकारों ने भी "इच्छन्तौ" का अर्थ ढूंढना ही किया है ।

इस प्रकार अध्येषणा शब्द के तीन अर्थ होते हैं— १—प्रेरणा । २—पुनः पुनः इच्छा । ३—ढूंढना ।

(अग्नि शब्द की भौतिक अर्थ में व्याख्या)

अग्नि शब्द के खण्डविभाग को पृष्ठ २०२ पर देखो । यास्क ने निरुक्त में अग्नि

शब्द के निर्वचन इस प्रकार दिखाये हैं कि—

अग्नि ! कस्मात् ... ... अग्रं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात् अक्तात् दग्धाद् वा नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते । गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नी परः ।

(निरुक्त ७ । १४ ॥)

अर्थात्—प्रश्न—(अग्निः कस्मात्) अग्नि शब्द किस से बनता है ।

उत्तर—(अग्रं नयति संनममानः) अग्नि शब्द 'अग्र+नी' से बनता है।

(संनममानः) किसी भी ओर झुकता हुआ उस को (अग्रं नयति) अपने स्वरूप को जो प्राप्त करा लेता है उस को अग्र+नी=अग्नि कहते हैं ।

(स्थौलाष्ठीविः) स्थूलाष्ठीव का पुत्र आचार्य यह मानता है कि (अक्नोपनो भवति न क्नोपयति न स्नेहयति) जो चिकना नहीं करता प्रत्युत रूखा कर देता है उस को नञ्+क्नूय्=अक्नू=अक्नि=अग्नि कहते हैं । शब्दकल्पद्रुम में 'क्नूय' धातु के तीन अर्थ दिये हैं—

'क्नूयीङ्[1] दुर्गन्ध आर्द्रवे शब्दे' (शब्दकल्पद्रुम)

क्नूय् धातु के तीन अर्थ हैं—

१—दुर्गन्ध करना । २—गीला करना । ३—शब्द करना । जैसे—क्नूयते मत्स्यः=मछली दुर्गन्ध फैला रही है । क्नूयते वस्त्रमम्भसा=जल से वस्त्र गीला हो रहा है । प्रक्नोपयन्तं मुरलीम्=बांसुरी बजाने वाले (श्रीकृष्ण को) । पर धातुओं के अनेक अर्थ होने से इस 'क्नूय्' धातु का अर्थ चिकना करना यहां है ।

शाकपूणि निरुक्ताचार्य कहते हैं कि अग्नि शब्द तीन धातुओं से बनता है। १—इण । २—अञ्जू । णीञ् । और—१—इण । २—दह । ३—णीञ् । इण+अ अञ्जू+ग, णीञ्+नि । और इण्+अ, दह+ग । णीञ्+नि । इण धातु के 'अयनम्' आदि शब्दों में 'अ' होता है । दह धातु से बने 'दग्धम्' आदि शब्दों में 'ग्' हो जाता है । 'अञ्जू' धातु के 'अक्तम्' आदि शब्द बनते हैं वह ककार गकार हो कर अग्नि शब्द में है ।नि णीञ् धातु का है इस प्रकार वे अग्नि शब्द बने हैं ।

य एति=जो गतिशील है उस को अग्नि कहते हैं ।
यो दहति=जो जलाता है उस को अग्नि कहते हैं ।
यो ऽनक्ति=जो रूपों को प्रकट करता है उस को अग्नि कहते हैं ।

१—ङ अनुबन्ध आत्मनेपदी यह धातु है बताने के लिये है ।

यो नयति=जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाता है उसको अग्नि कहते हैं। ये गुण भौतिक अग्नि में हैं अतः इस प्रकार बना अग्नि शब्द भौतिकाग्नि का वाचक है।

वैदिक शब्द विशेष अर्थों के वाचक होते हुए भी धात्वर्थ को लेकर विशेषण रूप से भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि
स इद् देवेषु गच्छति।　　(ऋ० १।१।४॥)

अर्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर आप (विश्वतः) सर्वत्र व्याप्त होकर (यम्) जिस (अध्वरम्) हिंसादि दोष रहित[1] (यज्ञम्) यज्ञ को (परिभूः असि) सब प्रकार से पालन करने वाले हैं (स इत्) वही यज्ञ (देवेषु) विद्वानों के बीच में (गच्छति) फैल के जगत् को सुख देता है।

इस मन्त्र में 'यज्ञ' और 'अध्वर' दोनों शब्द यज्ञ के वाचक हैं इन में से एक को विशेषण बनाना पड़ेगा। (अध्वरं+यज्ञम्) हिंसादि दोष रहित यज्ञ को। इसी रीति से अग्नि शब्द भी बहुत स्थानों पर विशेषण के रूप से भी प्रयुक्त है और धात्वर्थ को ले कर अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। विशेषण रूप में प्रयुक्त जैसे—

अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः।　　(ऋ० ।१०५।१४॥)

अर्थ—(अग्निः) श्रेष्ठ विद्या को जानने वा समझाने वाला (मेधिरः) बुद्धिमान् (देवेषु देवः) विद्वानों में प्रशंसनीय विद्वान् (हव्या) देने योग्य पदार्थों को (सुषूदति[2]) देता है। यहां अग्नि शब्द विशेषण है और देव शब्द विशेष्य है।

धात्वर्थ को लेकर अर्थान्तर में प्रयुक्त जैसे—

(अग्निः) न्यायमार्गे गमयिता विद्वान्।　(ऋ० म० भा० १।१०७।३॥)

वेदों में एकार्थवाचक अनेक शब्द एक ही वाक्य में आते हैं इस से स्पष्ट है कि इन में से एक विशेषण है दूसरा विशेष्य जैसे—

१—सायणाचार्य को भी यज्ञवाचक दोनों शब्दों में से एक शब्द अध्वर को विशेषण मानना पड़ा है।

(अध्वरम्) हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति।　(सायण ऋ० १।१।४)

२—"षूद क्षरणे" धातुः। लेट्। शपः श्लु। ततो धातोर्द्वित्वम्।

१—यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्[1]। (ऋ० १०।६०।९॥)
२—अश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः[2] (ऋ० ७।७।१॥)
३—शुचिं घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः[3]।
(ऋ० ४।१।६॥)

(एक शब्द के अनेक निर्वचन)

यहां भौतिकाग्नि अर्थ में जो अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन दिखाए हैं उन सब का अर्थ एक ही प्रकार की भौतिकाग्नि नहीं प्रत्युत नाना प्रकार की अग्नियां तथा अन्य पदार्थ एक एक निर्वचन के समझने चाहिये । जिन का विस्तृत विवेचन पदार्थप्रदीप में किया जावेगा ।

(अग्नि के गुण)

महर्षि ने वेदभाष्य में अग्नि के नीचे लिखे गुण बताए हैं देखो पृष्ठ २५४ ।

रूप । दाह । प्रकाश । वेग । छेदन । ऊर्ध्वगामित्व=ऊपर को गति वाला होना। भास्करत्व=चमक । ये ही अग्नि के गुण वेद में बताए गए हैं—

स्वर्ण घर्मः स्वाहाः स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा । (यजु० १८ । ५० ॥)

इस मन्त्र में अग्नि के पांच नाम बताए हैं—

१—घर्मः । २—अर्कः । ३—शुक्रः । ४—ज्योतिः । ५—सूर्यः । इस मन्त्र की यह व्याख्या शतपथ में की है—

यद्वेवाह स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहेत्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि।
(शत० ब्रा० ९। ४।२।२५॥)

१—यहां 'पृथिवी' और 'मही' दोनों शब्द भूमिवाचक हैं । अतः सायण भाष्य के दोनों हस्तलेखों में यह पाठ भी है कि—मही महती पृथिवी (सायण)। अर्थात् 'मही' शब्द का अर्थ 'महती' है ।

२—यहां 'वाजी' और 'अश्व' दोनों शब्दों का अर्थ घोड़ा है पर एक को विशेषण सायण को भी बनाना पड़ा है। वाजिनं वगवन्तं वलवन्तं वा (सायण) अर्थात् यहां वाजी का अर्थ बलवान् है ।

३—यहां 'अघ्न्या' और 'धेनु' दोनों शब्दों का अर्थ गौ है अतः एक शब्द को सायण ने भी विशेषण बनाया है । अघ्न्याया अहन्तव्याया (सायण) अर्थात यहां 'अघ्न्या' का अर्थ है जो मारने योग्य नहीं है ।

अर्थात्—जो यह कहा है कि 'स्वर्णं घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः' ये सब अग्नि के नाम हैं। इन नामों की व्याख्या इस प्रकार है—

१—घर्मः—'घृ प्रक्षरणदीप्त्योः' धातु से मक् प्रत्यय होने पर घर्म शब्द बनता है। प्रक्षरण=टपकना, दीप्तिः=प्रकाश। जिघर्ति प्रक्षरति स्वेदः शरीराद् अनेनेति घर्मः= जिसके द्वारा शरीर से पसीना निकलता है उस को घर्म कहते हैं अर्थात् आतप= गर्मी। यह दाह गुण अग्नि में है। जिघर्ति दीप्यते प्रकाशं ददाति यः स घर्मः=जो प्रकाश देता है उसको भी घर्म कहते हैं। यह प्रकाशगुण अग्नि में है।

२—अर्कः—"ऋ गतिप्रापणयोः" धातु से क प्रत्यय होने पर अर्कः शब्द बनता है जैसे कृ धातु से कर्कः बनता है। गतिः=ज्ञान गमन प्राप्ति। प्रापण=पहुंचाना। यः ऋच्छति प्रापयति सः अर्कः। यो हि गतिमान् वेगवानित्यर्थः=जो गतिमान् अर्थात् वेगवान् हो अपने वेग से स्थानान्तर पर जो पहुँचाने वाला है उस को अर्कः कहते हैं। यह वेगगुण अग्नि में है।

३—शुक्रः—शुक्र शब्द में र को ल होकर शुक्ल शब्द बनता है। शुक्ल=श्वेत= भास्कररूप=चमक। यह गुण अग्नि में हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण में लिखा है कि—

तस्माच्छुक्लं पवित्रं शुक्रः सोमः स शुक्लत्वाय। (ताण्ड्य० ६।६।६॥)

अर्थात्—दशापवित्र=सोम छानने का छन्ना शुक्ल होता है। सोम भी शुक्र है अर्थात् शुक्ल। शुक्र शब्द ही शुक्ल हो जाता है।

४—ज्योतिः—'द्युत दीप्तौ धातु से इसिन् प्रत्यय करने पर और धातु के द को ज करने पर ज्योतिः शब्द बनता है। दीप्तिः=तेज। इसी लिये कहा है कि—

अग्निर्वा अरुपः। (तै० ब्रा० ३।६।४।१॥)

तेजो वा अग्निः। (तै० ब्रा० ३।३।४३॥)

अर्थात्—अग्नि चमकता हुआ तेज है।

५—सूर्यः—'षू प्रेरणे' धातु से "राजसूयसूर्य० (शब्दानु० १।३।११४॥) सूत्र से क्यप् प्रत्यय और रुट् का आगम निपातित है। सुवति प्रेरयतीति सूर्यः= जो गति देता है उस को सूर्य कहते हैं। यह गुण अग्नि में है।

(अग्नि के रूप=कार्य)

अग्नि के आठ रूप बताये गये हैं—

तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि । (शत० ब्रा० ६ । १ । ३ । १८ ॥)

अर्थात्—अग्नि के आठ रूप हैं । १—रुद्रः । २—शर्वः । ३—पशुपति । ४—उग्रः । ५—अशनि । ६—भवः । ७—महान् देवः । ८—ईशानः । जिन जिन कार्यों को यह अग्नि करता है वे इस के रूप कहाते हैं जैसे—

रौद्रो वै प्रतिहर्ता । (गो० ब्रा० ३ । १६ ॥)

अर्थात्—यह अग्नि प्रतिहर्ता=छेदन भेदन कर्ता है । अतः महर्षि ने ठीक लिखा है कि—

भौतिकस्य रूप दाह प्रकाश वेग छेदनादिगुणत्वात् शिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेद्यम् । (ऋ० १ । १ । १ । भाष्य भावार्थः)

अर्थात्—भौतिक अग्नि में रूप दाह प्रकाश वेग छेदन आदि गुण और शिल्पविद्या के मुख्य साधक आदि हेतुओं से प्रथम मन्त्र में भौतिक अर्थ के रूप में भी ग्रहण किया गया है । क्योंकि अग्नि के विना सर्वोत्तमशिल्पविद्या का कार्य नहीं हो सकता है। अतः कहा है कि—

सोऽग्निमब्रवीत् । त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि त्वं प्रथमो वृणीष्वेति ।
(जै० उ० १ । ५१ । ५६ ।)

अर्थात्—प्रजापति अग्नि से कहते हैं कि जिन जिन पदार्थों को मैंने पैदा किया है वे सब मेरे पुत्र के समान हैं उन में तू सब से ज्येष्ठ है मुख्य है ।

महर्षि ने अपने भाष्य में जो यह कहा है कि—

आर्यैर्याऽश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते साऽग्निविद्यैवासीत् । (ऋ० १।१।१ भाष्य भावार्थ)

अर्थात्—यह जो सुना जाता है कि आर्यों ने शीघ्र गति वाली अश्वविद्या का आविष्कार किया था वह अग्निविद्या ही थी । उस का वर्णन वेद में है जैसे—

वृषो अ॒ग्निः समि॑ध्य॒तेऽश्वो॒ न दे॑व॒वाह॑नः ।
तं ह॒विष्म॑न्त ईळते ॥ (ऋ० ३ । २ । १४ ॥)

अर्थ—जब शिल्पी लोगों के द्वारा (अग्निः) यह भौतिकाग्नि (समिध्यते) बन-

कलाओं द्वारा यानों में प्रदीप्त किया जाता है तब यह अग्नि (वृषा[1] + उ) बैल के समान और (अश्वः[1] न) घोड़े के समान (देववाहनः) विद्वानों को शीघ्र देशान्तर में पहुँचाने वाला होता हे । (तम्) उस अग्नि को (हविष्मन्तः) देने और लाने योग्य पदार्थों से अत्यन्त युक्त[2] मनुष्य (ईडते) तत्तत्कार्यार्थ वार वार चाहते हैं ।

अग्नि शब्द का भौतिकाग्नि अर्थ भी है इस सम्बन्ध में ब्राह्मण प्रमाण पृष्ठ २५७ पर देखो ।

(यज्ञस्य होतारम्+यज्ञस्य देवम्)

वह भौतिकाग्नि यज्ञ का होता है और यज्ञ का देव है उसको हम बारम्बार चाहते हैं इत्यादि।

(यज्ञस्य) शिल्पविद्यादिदान के (होतारम्) देने वाले अग्नि को। (देवम्) उस के प्रकाशक अग्नि को। यज्ञ शब्द का दान अर्थ है । यह यज्ञ शब्द "यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से बनता है । (यज्ञस्य) शिल्प क्रियाओं से उत्पन्न होने योग्य पदार्थों के (होतारम्) देने वाले अग्नि को और (देवम्) उन के प्रकाश करने वाले अग्नि को। यह यज्ञ शब्द—'यन् + जन्' से भी मिल कर बनता है । यन्=शिल्पक्रियां प्राप्नुवन् जातः = उत्पन्नः । अर्थात् शिल्पक्रिया को प्राप्त होता हुआ जो पैदा हुआ । शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है कि—

स यन् जायते तस्माद् यज्ञः । यज्ञो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः ।
(शत० ३ । ६ । ४ । २३ ॥)

अर्थात्—इण् धातु से शतृ प्रत्यय होने पर यन् बनता है यन्= प्राप्त होता हुआ जो जातः=पैदा हुआ । 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से ड प्रत्यय होकर 'यन् जः बना है । यन्+जः । यज न् अः=यज्ञः । (यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य = अनेक प्रकार की शिल्पक्रियाओं से जो उत्पन्न होता है उस पदार्थ समूह के ।

(यज्ञस्य) शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य=शिल्पविद्यादिक्रियाभिः=अनेक प्रकार की शिल्पविद्यादि क्रियाओं से अर्थात् उस के अनुभवों से जन्यः=उत्पन्न जो बोध=ज्ञान उस के संगतस्य = तद्रूप संगतिकरण रूप शिल्पविद्यादिमय यज्ञ के । यह यज्ञ शब्द संगतिकरण अर्थ वाले यज धातु से भी बना है ।

१—बैल की उपमा बोझा अधिक ढोने के लिए है और घोड़े की उपमा शीघ्र गति के लिए है ।

२—व्यापारार्थ जब मनुष्य देशान्तर लाता है तब कुछ पदार्थ वहाँ बेच कर आता है और कुछ लेकर आता है । 'हु दानादनयोः' हु धातु देने और लेने दोनों अर्थों में है इस धातु से हवि शब्द बनता है ।

(पुरोहितम्).

पुरोहित है इस को हम बारम्बार इच्छा करते हैं इत्यादि।

(पुरोहितम्) पुरः=पुरस्तात्=उन पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी दधाति=छेदन धारण और आकर्षण आदि गुणों के धारण करने वाले अग्नि को।

(पुरोहितम्) विमान कला कौशल क्रियाप्रचालनादिगुणम्=विमान—वायुयान, कला—गीत वाद नृत्य आदि, कौशल—शीघ्र कार्य कराना, क्रिया—चक्रादिवत् गति, प्रचालन—यानों का चलाना आदि गुण रूप (एवं शिल्पविद्यामयम्) उपर्युक्त शिल्पविद्यास्वरूप को प्रयोग से पूर्व ही धारण करने वाले अग्नि को। (पुरोहितम्) सब विद्याओं के प्रथम हेतु अग्नि को।

विमान शब्द की व्याख्या विमानशास्त्र में इस प्रकार की है कि—

विमानो वेगसाम्यादण्डजानामिति। (वि० शा० १।१॥)

(अण्डजानाम्) पक्षियों के (वेगसाम्यात्) वेग की समानता से वायुयान का नाम विमान रखा गया है। अर्थात् जो यान पक्षियों की गति को अपनी गति से तुल्य माप दे। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है वैसे जो यान आकाश में उड़े उस को विमान कहते हैं। वेद में भी वायुयान के उड़ने की उपमा पक्षी से दी गई है जैसे—

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः॥

(ऋ० १।११८।१॥)

अर्थ—(वृषणौ) हे बलवान् (अश्विनौ) अश्वियों=शिल्पविद्या जानने वाले स्त्री पुरुषों (वाम्) तुम दोनों का (यः) जो (रथः) रथ (त्रिवन्धुरः[1]) जिस में सारथि के बैठने के तीन स्थान हैं नीचे ऊपर और बीच में। (श्येनपत्वा) बाज पक्षी के समान गति वाला है (वातरंहाः) वायु के समान वेग वाला (मर्त्यस्य मनसो जवीयान्) मनुष्य के मन से भी तेज गति वाला है। (सुमृळीकः) सुख से जिस में यात्रा की जा सके।

१—बन्धुर=सारथि के बैठने का स्थान। यथा महाभारते—

अन्ये छत्रं वरुथं च बन्धुरं च तथाऽपरे॥
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम्॥

अर्थ—हजारों संख्या वाले गन्धर्वों ने रथ के टुकड़े टुकड़े उड़ा दिये किन्हीं ने छत्र तोड़ दिया किन्हीं ने वरुथ=छत्र के ऊपर के भाग को तोड़ दिया अन्यों ने बन्धुर=सारथि के बैठने के स्थान को नष्ट कर दिया।

है (स्ववान्) धन तथा आत्मीय जन जिस में विद्यमान हैं। वह रथ (अर्वाङ्, हमारी ओर नीचे (आ यातु) आवे।

भरद्वाजनिर्मित विमानशास्त्र के व्याख्याकार विश्वम्भर ने लिखा है कि—

देशाद् देशान्तरं तद्वद् द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा।
लोकाल् लोकान्तरं चापि यो ऽम्बरे गन्तुमर्हति।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः ॥

अर्थ—विमान उस को कहते हैं जो एक देश से दूसरे देश को, एक द्वीप से दूसरे द्वीप को और एक लोक से दूसरे लोक को आकाश मार्ग से लेजाने में समर्थ हो। खेटशास्त्रविद्[1] =खेटशास्त्र = विमान शास्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ आचार्यों[2] का मत है।

(ऋत्विजम्)

वह भौतिकाग्नि ऋत्विज् है उस को हम अत्यन्त चाहते हैं इत्यादि।

(ऋत्विजम्) ऋतौ ऋतौ = सब ऋतुओं में तदनुसार यजति = सर्वशिल्पसाधनानि संगमयति तम् = सब शिल्पसाधनों को जो जुटाता है उस अग्नि को। इस लिये अयोध्या को "सर्वर्तुसुखामयोध्याम्" कहा है। अयोध्या में शिल्पसाधनों के द्वारा सब ऋतुओं में सुखपूर्वक लोग रहते थे। शीत में शीत नहीं गर्मी में गर्मी नहीं इत्यादि।

(ऋत्विजम्) ऋत्विक् के समान अग्नि को। जैसे ऋत्विक् यज्ञ के समय सब यज्ञीय साधनों को जुटाता है इसी प्रकार अग्नि भी प्रत्येक ऋतु में सब शिल्पसाधनों को देता है।

(रत्नधातमम्)

वह अग्नि रत्नधातम है उस को हम चाहते हैं इत्यादि।

(रत्नधातमम्) रत्नानि = सुवर्ण आदि रत्नों को दधाति[3] = जो देता है उस को 'रत्नधा' कहते हैं और जो रत्नों को अत्यन्त देता है उस को 'रत्नधातम' कहते हैं ऐसे अग्नि को। तथा अग्निविद्या जानने वाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त पुष्ट करता है उस

१—खे = आकाश में अटति = चलता है उस को खेट = विमान कहते हैं।

२—भरद्वाज रचे विमानशास्त्र से पूर्व भी 'विमान चन्द्रिका' 'व्योमयानतन्त्र' 'यन्त्रकल्प' 'यानबिन्दु' 'खेटयानप्रदीपिका' 'व्योमयानार्कप्रकाश' ग्रन्थ थे।

३—कविकल्पद्रुम में 'धा' धातु के तीन अर्थ दिये हैं १—धारण, २—पोषण, ३—दान।

अग्नि को। अथ च रत्न शब्द से रत्नविद्या का ग्रहण है उस रत्नविद्या का जो आधार[1] है उस अग्नि को।

(रत्नधातमम्) रत्न = रमण करने के जो पृथिवी आदि स्थान हैं उन को परमेश्वर धारण करता है। (आध्यात्मिक अर्थ में)

यहां पर भौतिकाग्नि परक ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या आर्यभाषा में समाप्त हुई अब दोनों अर्थ करने के कारण अलंकारों पर विचार किया जाता है।

(अलङ्कार विवेचन)

महर्षि ने लिखा है कि इस मन्त्र में श्लेषालंकार है अतः आध्यात्मिक और भौतिक दोनों अर्थ इस मन्त्र के हैं।

(श्लेषालंकार का लक्षण)

जिन शब्दों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं पर आकृति एक जैसी है वे शब्द समान उच्चारण के कारण जहां परस्पर मिले होते हैं उस को श्लेषालङ्कार कहते हैं। जैसे अग्+नि—अग्निः = परमेश्वर और अ+ग्+नि—अग्निः = भौतिक अग्नि। दोनों अग्नि शब्दों के अर्थ पृथक् पृथक् हैं पर आकृति एक जैसी है अतः "अग्निमीळे पुरोहितम्" मन्त्र में श्लेषालंकार है। अग्नि के विशेषण भी सब श्लिष्ट हैं।

यह श्लेषालंकार ९ प्रकार का है—

१—वर्णश्लेष। २—पदश्लेष। ३—लिङ्गश्लेष। ४—भाषाश्लेष। ५—प्रकृतिश्लेष। ६—प्रत्ययश्लेष। ७—विभक्तिश्लेष। ८—वचनश्लेष। ९—अभङ्गश्लेष।

इस मन्त्र में अभङ्गश्लेष अलङ्कार है। पूर्वोक्त आठ भेदों को सभंगश्लेष कहते हैं क्योंकि उन श्लेषों में पदों को भिन्न भिन्न रूप से विश्लेषण करना पड़ता है। जैसे वर्णश्लेष में—विधि सप्तमी एक वचन में विधौ और विधु सप्तमी एक वचन में भी विधौ बनता है। इ उ का श्लेष है। पर अग्निम् = परमात्मानम्। अग्निम् = भौतिकाग्निम्। यहां दोनों अग्निम् का समान रूप से निर्देश है अतः यहां अभङ्गश्लेष नामक नवम् श्लेष है। इन दोनों 'अग्निम्' में स्वरादि का भी कोई भेद नहीं है।

इस मन्त्र में अग्निम् के भी दो अर्थ हैं और 'अग्निम्' के विशेषणों के भी दो दो अर्थ हैं। जहां विशेषणों के ही दो अर्थ होते हैं पर विशेष्य के दो अर्थ नहीं होते वह

१—शुक्रनीति आदि में यह बात बताई गई है कि इस अग्नि के प्रभाव से रत्नों का निर्माण होता है।

'समासोक्ति' अलंकार होता है। और जहां विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट दीखते हों पर प्रकरण आदि के द्वारा एक ही अर्थ हो सकता हो वहां दूसरा अर्थ अभिलामूल व्यञ्जना से होता है। इस मन्त्र में दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः यहां लब्दश्लेष अलंकार है। इस मन्त्र में आए 'अग्निम्' आदि शब्दों के पर्यायवाचक शब्द वह्नि या परमेश्वर रख देने पर अलङ्कार नहीं बन सकता। इन्हीं शब्दों के रहने पर अलंकार रह सकता है अतः यह श्लेषालङ्कार शब्दश्लेषालङ्कार है अर्थालङ्कार नहीं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २६०, २६१ पर देखो।

यह अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार है शब्दालङ्कार नहीं। ऐसा अलङ्कार सर्वस्वकार और पण्डितराज जगन्नाथ मानते हैं। परन्तु मम्मट इस अभङ्गश्लेष को शब्दालङ्कार मानते हैं।

(अथ ऋषि-दैवत-छन्दः—स्वर-ब्राह्मण-मीमांसा)

महर्षिणा स्ववेदभाष्ये सर्वत्र सूक्तस्य ऋक्संख्या ऋषिदैवतच्छन्दांसि षड्जादयः स्वराः मन्त्रभूमिकारूपं ब्राह्मणं च प्रदर्शितानि । तथा चोक्तमन्यत्र ।

ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥

(अथ ऋषिमीमांसा)

अत्राह कात्यायनः सर्वानुक्रमण्याम्—

अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । (ऋ० सर्वा०)

अस्यायमर्थः—अग्निमिति सूक्तस्य मन्त्रप्रतीकम् । नवेति ऋक्संख्या । अग्निमीळे० इति सूक्ते नव ऋचः सन्तीत्यर्थः । ऋषिश्च वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः । विश्वामित्रस्य गोत्रापत्यं वैश्वामित्रः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (शब्दानु० ४।१।११४) इति विश्वामित्रशब्दादपत्यार्थे गोत्रेऽण् । महर्षिस्तु ऋषिः मधुच्छन्दा इत्येवाह न तु वैश्वामित्रः । नवममण्डलस्य प्रथमसूक्तस्य च मधुच्छन्दा ऋषिः । अयं मधुच्छन्दा ऋषिर्द्वादशाधिकशत (११२) ऋचामर्थद्रष्टा । अतएवायं शतर्चि इत्युच्यत । तत्साहचर्यात् प्रथममण्डलस्यार्थद्रष्टारः सर्वे ऋषयः शतर्चिन इत्युच्यन्त इत्युच्यते । अत उक्तम्—

शतर्चिसंज्ञा विज्ञेया ह्याद्यमण्डलदर्शिनः ।
ददर्शादौ मधुच्छन्दा द्व्यधिकं यदृचां शतम् ॥
तत्सहाचर्यादन्येऽपि विज्ञेयास्तु शतर्चिनः ।
अच्छत्राश्छत्रिणैकेन यथा वै छत्रिणोऽभवन् ॥

अत्र द्व्यधिकं यदृचां शतमित्युक्तं तत् प्रथममण्डलाभिप्रायेण । प्रथमे मण्डले आदितो दशसूक्तानां मधुच्छन्दा ऋषिः । तत्र द्व्यधिकं शतमृचः । नवममण्डलस्य प्रथमसूक्तस्यापि मधुच्छन्दा ऋषिस्तत्र च दशऋचः । एवं द्वादशाधिकशतऋचानां द्रष्टाऽयमृषिरित्युक्तम् । एत ऋषयश्च मन्त्रार्थद्रष्टारो न तु मन्त्रकर्तारो वा मन्त्रद्रष्टारो वा ।

उक्तं च महर्षिणा—

येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः । यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामोल्लेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः ।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका श० सं० भा० २ पृ० ६८६)

अत्रेदमप्यवबोद्धव्यम्—यैः सर्वप्रथमं यस्य मन्त्रस्य प्रचारोऽध्यापनं तेन कर्म न प्रथमं कृतं त एते मन्त्रार्थद्रष्टार ऋषय उच्यन्ते । इत्यादिकं सत्यार्थप्रकाशे[1] महर्षिणा प्रतिपादितम् ।

तथा चोक्तम् ऋग्विधाने—

ऋग्वेदाद्यस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ।
यथा ऋषिर्मधुच्छन्दा कर्मैतेनाकरोत् पुरा ॥ (ऋ० १ । ७६ ॥)

मधुच्छन्दा ऋषिः एतेन 'अग्निमीळे०' सूक्तेन कर्म पुरा प्रथममकरोत् न तु मन्त्रं कृतवान् दृष्टवान् वा । पुरा=सर्वप्रथममित्यर्थे । यथा—

"आलोके ते निपतति पुरा[2]"　　(मेघदूत उत्तरमेघ २२)

अत्र केचिदाहुः—ऋषयो मन्त्रकर्तारः[3] । अपर आहुः करोतिर्धातुर्दर्शनार्थः[4] । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति । महर्षिस्त्वाह मधुच्छन्द आदय ऋषयो न मन्त्रकर्तारो नापि मन्त्रद्रष्टारः । एते हि मन्त्रार्थद्रष्टारः । उक्तं हि निरुक्ते—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः ।　(निरु०)

अत्र हि मन्त्रार्थद्रष्टृत्वमभिप्रेतं न तु मन्त्रदृष्टृत्वम् । 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति हि पूर्वतोऽनुक्रान्तम्[5] । मन्त्रकृत ऋषयः इत्यत्र करोतिर्धातुः प्रयुक्तार्थो

१—सत्यार्थप्रकाश श० सं० भाग १ पृ० ३१८ ।।

२—पुरा, व्य, पुरति अग्रे गच्छतीति । पुर + वाहुलकात् का । इतिशब्दकल्पद्रुमः । at first, in the first, Place, इत्याप्टे । at first, in the beginning इति मोनियर विलियम ।

आरम्भ गुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् इति भर्तृहरिः नीति० ६० ।

३—नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः । (तै० आ० ४ । ११ ॥)

४—दर्शनमेव कर्तृत्वम् । भट्टभास्करः तै० आ० ४ । ११ ।।

५—'निरुक्त के समझने में प्राचीन आचार्यों की मूल' इत्याचार्यकृते ग्रन्थे विस्तरतः प्रतिपादितम् ।

धातूनामनेकार्थत्वात् । यथा चर्मकारः सुवर्णकार इत्यादयः । नहि चर्मकारैः सुवर्णकारैर्वा चर्मादिकं निर्मीयते । प्रयुज्यते हि तैः केवलम् । करोतिधातुः प्रयोगार्थे वर्तते यथाऽऽह स्कन्दः—

तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ।
(निरु० ७।२॥)

करोतिः क्रियासामान्यवचनत्वात् विशेषं लक्षयन् प्रयुक्तेरर्थे द्रष्टव्यः । कृताः प्रयुक्ताः ।
(स्कन्द निरु० ७।२॥)

तन्त्रवार्तिकेऽप्युक्तम्—

मन्त्रकृच्छन्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः ।

अथ च भवन्ति मन्त्रकर्तारोऽपि ऋषयः । ते तु गृह्यादिमन्त्राणां कर्तारो भवन्ति न वेदमन्त्राणाम् । यथा—

"अयन्त इध्म आत्मा जातवेदः०" इत्यादिमन्त्राणां कर्तार ऋषय आसन् महर्षिरपि 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' इत्यादिमन्त्राणां कर्ता । तथा चोक्तं तेनैव—

'इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः'[1]
(ऋग्वेदादि० शं० सं० भा० २ पृ० ४२)

यदि वेदमन्त्राणामपि ऋषय एव कर्तारः स्युस्तदा कथमेकस्यैव मन्त्रस्य ऋग्वेदादिभेदेन भिन्ना ऋषयः । यथा—

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चतीर्मधुना पयः ।
(ऋ० १।२३।१६, अथर्व १।४।१॥)

अत्र ऋग्वेदस्थस्यास्य मन्त्रस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः । अथर्ववेदस्थस्यास्य मन्त्रस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः नह्येकस्य काव्यस्यानेके कवयो भवन्ति । मन्त्रार्थद्रष्टृदृष्ट्या तु संगच्छते । चतुर्विंशत्यृचस्य विशिष्टप्रकरणस्यास्य ऋग्वेद-सूक्तस्य मन्त्रार्थद्रष्टा मेधातिथिः काण्वः । चतुर्ऋचस्य प्रकरणान्तरस्थस्याथर्ववेद-सूक्तस्य सिन्धुद्वीपो मन्त्रार्थद्रष्टा ।

१—आचार्यकृतायां यज्ञपद्धतिमीमांसायां विस्तरतो व्याख्यातम् ।

ननु मन्त्रार्थद्रष्टा इति नवीनमुच्यते । सर्वत्र कर्ता स्तोमानाम् । स्तोमान् ददर्श । इत्यादिषु मन्त्रकर्तारो मन्त्रद्रष्टारो वा ऋषयः श्रूयन्ते न तु मन्त्रार्थद्रष्टारः ।

शृणु—

१—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'　　(निरुक्त)

अत्र धर्मशब्देनार्थोऽभिप्रेतो न तु मन्त्र इत्युक्तं प्राक् ।

२—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम् ।　　(न्याय० वात्स्यायन २ । १ । ६८ ॥)

३—ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः । (बौद्धायन धर्मसूत्रभाष्ये गोविन्दस्वामी २।६।३६)

४—ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता ।　　(उवट यजु० ७ । ४६ ॥)

५—निरुक्ते प्रतिपादितम्—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् । को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळम् ।　　(निरु० १३ । १२ ॥)

अस्यायमर्थः—मनुष्या ऋषिषु उत्क्रामत्सु स्वर्गतेषु देवान् वेदज्ञान् अब्रुवन्-अपृच्छन् अधुना क ऋषिः । ते वेदज्ञास्तेभ्यो मनुष्येभ्यस्तर्कमृषिं प्रायच्छन् ददुः । मन्त्रार्थस्य चिन्ता विचारस्तत्र अभ्यूळम् अन्तःपातितम् अभ्यूहं स्फुरणरूपम् । ऋषिस्थानापन्नस्तर्को मन्त्रार्थबोधको न तु मन्त्रकर्ता मन्त्रद्रष्टा वा भवति । तस्माद् ऋषयो मन्त्रार्थद्रष्टार इति सुस्थम् ।

६—'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः' इत्यत्र मन्त्रेषु दृष्टिर्दर्शनं साक्षात्कारोऽर्थस्य येषां ते मन्त्रदृष्टय ऋषय इति व्याख्येयम् ।

७—अपि चोक्तं निरुक्ते—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।

(निरु० १० । १०, ४६ ॥)

अस्यायमर्थः—दृष्टार्थस्य दृष्टः साक्षात्कृतः अर्थो मन्त्रार्थो येन तस्य मन्त्रार्थसाक्षात्कर्तुः ऋषेः आख्यानसंयुक्ता प्रीतिर्भवति । ते ह्यृषयः कंचिदाख्यानं पुरस्कृत्य तं मन्त्रं व्याख्यान्ति इत्यत्र तेषां प्रीतिः । यथा—'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु' इति भर्तृहरिकृतश्लोकव्याख्याने कश्चिद् दयानन्दसरस्वतीस्वामिनं आख्यायेत ।

तथैव 'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविंष्टिषु'
(ऋ० ८।४।१९ ॥)

अत्राह यास्कः—'कुरुङ्गो राजा बभूव'   (निरु० ६।२२ ॥)

अस्यायमर्थः—कुरुङ्गस्य शत्रुकुलगामिनो राज्ञो दिविष्टिषु द्यौः स्वर्गं इष्यते गम्यते इष्यते वा याभिः क्रियाभिः तासु दिविष्टिषु क्रियासु स्वर्गप्राप्तिहेतुषु युद्धेषु सत्सु । तथा चोक्तं वेदे—"ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः" अथर्व (१८।२।१७॥) इति शताश्वं शतेनाश्वैर्युक्तं राधो धनमित्यादि । कुरुङ्गः शत्रुकुलगामी राजा युद्धे धनं लभत इत्यभिप्रायः । "कुलगमनात्" इति यास्कः (६।२।२।) "शत्रुकुलानि हि स नित्यमेव याति विजेतुम्" इति दुर्गः । तत्र वेदशब्दादेव केनचित् स्वपुत्रस्य कुरुङ्ग नाम धृतम् । सः कश्चिद् राजा कुरुङ्गनामा बभूवापि इत्येव यास्कस्याभिप्रायः "अत आह कुरुङ्गो राजा बभूव" एवं 'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्०' (ऋ० १०।९८।५॥) इत्यत्र यास्कप्रदर्शिता देवापिशन्तनुकथा ज्ञेया । सर्वत्र दृष्टार्थस्य ऋषेराख्यानं प्रीतिरेव कारणम् । "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' (महा० आदि० १।२६७॥) इत्यादिकमपि तथैव ज्ञेयम् । तस्माद् ऋषयो मन्त्रार्थद्रष्टार इति सिद्धं भवति ।

ये तु मन्त्रद्रष्टार ऋषयस्ते तु सर्गादौ अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोनामानो बभूवुः । तथा चोक्तम्—

तेभ्यो[1]ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्० । (ऐतरेय ब्रा० २५।३३)

एते हि ऋषयो निर्मला जन्मतः शुद्धाः अमैथुनिसृष्टौ सर्गादावुत्पन्नाः । न ते मातृगर्भाज्जायन्ते । अतः साधारणजन्मप्रकारशून्यत्वात् अजा इत्युच्यन्ते । तथा च तैत्तिरीयारण्यके—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तद् ऋषीणामृषित्वम् ।   (तैत्तिरीयारण्यक २।९।१)

अस्यायमर्थः—अत्राह सायणाचार्यः "कल्पादौ ब्रह्मणा सृष्टा ब्रह्मचारिणः

१—आचार्यकृतायां सन्ध्यापद्धति मीमांसायां व्याख्यातम् ।

हृत्यमध्ये पुनः पुनः जायन्ते तस्मादजाः । ते च पृश्नयः शुक्ला स्वरूपे निर्मलाः सन्तोऽपि पुनस्तप आचरन्" । (सायणः)

'अग्निमीळे०' इति मन्त्रस्य मधुच्छन्दा ऋषि वैश्वामित्रः=विश्वामित्रपुत्रः । नह्यसौ मधुच्छन्दा अजः । अतो नायं मन्त्रद्रष्टा मन्त्रकृद् वा ।

अथ च क्वचित् मन्त्रार्थदर्शनानन्तरमपरनामधेयप्रतिलम्भो बहूनामृषीणाम् । यथा विश्वरथो राजा मन्त्रार्थदर्शनानन्तरं विश्वामित्रनाम लेभे । एवं श्रद्धासूक्तस्य[1] मन्त्रार्थद्रष्ट्र्या नाम श्रद्धा कामायनी । शिवसंकल्पसूक्तस्य[2] द्रष्टुः नाम शिवसंकल्प इति । तदिदं संवाद[3]सूक्तेषु विशेषतः ।

अथ च—यथा मन्त्रार्थद्रष्टारऋषयस्तथैव मन्त्रार्थद्रष्ट्र्य ऋषिका अपि । यथा—रोमशा[4], ब्रह्मवादिनी, लोपामुद्रा[5], नदी[6], विश्ववाराआत्रेयी[7] शश्वती आङ्गिरसी[8], अपाला आत्रेयी[9], इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी[10], घोषा काक्षीवती[11], अदितिर्दाक्षायणी[12], सूर्या सावित्री[13], इन्द्राणी[14], जुहू ब्रह्मजाया[15], गोधा[16], इन्द्राणी[17], श्रद्धा कामायनी[18], देवजामय इन्द्रमातरः[19], यमी वैवस्वती[20], शची पौलोमी[21], सार्पराज्ञी[22], संवादसूक्तेषु च ऋषिकाः । बहवो भावाः स्त्रीभिरेव साक्षात्कर्तुं शक्याः । नहि स्त्रीभावाः पुरुषैर्ज्ञायन्ते यथा प्रसवपीड़ा । क्वचिदुभावपि ऋषी[23] प्रतिपाद्यविषयवैशिष्ट्यात् । कात्यायन सर्वानुक्रमण्यामेता ऋषिका निर्दिष्टा । महर्षिस्तु क्वचित् क्वचिद् विप्रतिपद्यते ऽर्थवैशिष्ट्यात् ।

ननु नद्यपि ऋषिका भवितुमर्हति । सत्यम् । उक्तं हि पूर्वं यथा मन्त्रार्थदर्शनानन्तरमपरनामधेयप्रतिलम्भः । नह्यत्र नदीनाम्ना जलप्रवाहरूपा सरिद्

१—ऋ० १० । १५१ ॥		२—यजु० ३४ । १—६ ॥

३—ऋ० १० । १० ॥ यमयमी संवादः सूक्तम् ।		ऋ० १० । ९५ पुरुरव उर्वशी संवादः । ऋ० १० । १०८ पणिसरमा संवादः ।		४—ऋ० १ । १२६ । ६ ॥

५—ऋ० १ । १७९ । १—२ ॥		६—ऋ० ३ । ३३ । ४, ६, ८, १० ॥

७—ऋ० ५ । २८ ॥		८—ऋ० ८ । १ । ३४ ॥		९—ऋ० ८ । ९१ ॥

१०—ऋ० १० । २८ । १ ॥		११—ऋ० १० । ३९ ॥		१२—ऋ० १० । ७२ ॥

१३—ऋ० १० । ८५ ॥		१४—ऋ० १० । ८६ ॥		१५—ऋ० १० । १०९ ॥

१६—ऋ० १० । १३४ ॥ षष्ठ मन्त्रस्योत्तरार्धस्य सप्तममन्त्रस्य च ॥

१७—ऋ० १० । १४५ ॥		१८—ऋ० १० । १५१ ॥		१९—ऋ० १० । १५३ ॥

२०—ऋ० १० । १५४ ॥		२१—ऋ०१० । १५९ ॥		२२—ऋ० १० । १८९ ॥

२३—ऋ० १० । ८६, १० । १०९ ॥

तु तद्विद्यावेत्री काचिन्महिला ऋषिका ऽभिप्रेता । तस्या 'नदी' नामधेय प्रतिलम्भः । तन्नाम्नैव सा व्यवाह्रियत ।

(अथ दैवत मीमांसा)

अथातो दैवतम् । अत्राह कात्यायनः—

मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात् । (ऋ० सर्वा०)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य सर्वेषु मण्डलेषु प्रथमं सूक्तमग्निदेवताकम् । ऐन्द्र शब्दसंशब्दनात् प्राक् । अनादेशेऽग्निर्देवता मण्डलादिषु । ऐन्द्र शब्दसंशब्दनात् परं तु "अनादेशे त्विन्द्रो देवता" ऋ० स० १२ । ५ ॥ इति परिभाषया यत्र देवता नोक्ता तत्र इन्द्रो देवता मन्यते एव । अग्नि देवता प्रकरण समाप्त्यनं पुनः 'इन्द्रो देवता' इति कथ्यतेऽनुक्रमण्याम् । अन्यत्र यस्य सूक्तस्य मन्त्रस्य वा या देवता प्रोक्ता सैव ज्ञेया यथा नवम मण्डलस्यादिसूक्ते पवमानदेवता।

बृहद्देवतायामप्युक्तम्—

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आर्षकम् । (बृह० १।१२६॥)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य प्रथमं सूक्तम् आग्नेयम् अग्निदेवताकम् । अग्निर्देवताऽस्येति आग्नेयम् । सा ऽस्य देवतेत्यर्थे 'अग्नेर्ढक्' (शब्दानु०४।२।३३) इति ढक् । मधुच्छन्दसश्च आर्षकम् । आर्षकमिति सूक्तविशेषणम् । ऋषेः इदं आर्षम् 'शेषे' (शब्दानु० ४।२।९१॥) इत्यण् । आर्षमेव आर्षकम् । इदं वास्य ऋषेः कर्म यदयं मन्त्रार्थं दृष्टवान् अनेन प्रथमं कर्माकरोत् प्रयुक्तवान् प्रचारितवांश्च ।

अग्निशब्दस्य कः पदार्थ इति विचार्यते—

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०' (निरुक्त ७।१४।)

इत्यादिकम् १४१—१८२ पृष्ठेषु विस्तरतो व्याख्यातम् । प्रतिनिर्दिष्टं शब्दो भिद्यतेऽर्थश्चेत्यप्युक्तम् । तत्र प्रथममण्डलस्य प्रथमे सूक्तेऽग्निशब्देन परमेश्वरं भौतिकाग्निश्च महर्षिणा व्याख्यातौ । द्वितीयमण्डलस्य प्रथमे सूक्ते ऽग्निशब्देन विद्युदादयो व्याख्याताः । तृतीयचतुर्थमण्डलयोः प्रथमे सूक्ते ऽग्निशब्देन विद्वान् व्याख्यातः । पञ्चमषष्ठमण्डलयोः प्रथमे सूक्ते अग्निशब्देन पुनर्भौतिको व्याख्यातः । सप्तममण्डलस्य प्रथमे सूक्तेऽग्निशब्देन विद्युद् व्याख्याता ।

अथान्यत्र स्ववेदभाष्ये महर्षिणाऽग्निशब्दस्य नानाऽर्था गृहीताः । तद्यथा—

अग्निः=जठरस्थः । (यजु० ५ । ६ ॥)

अग्निः=सूर्यः । (यजु० ५ । ६ ॥)

अग्निः=युद्धजन्यक्रोधाग्निः । (यजु० ६ । १८ ॥)

अग्निः=सर्वविद्याप्राप्तो विद्वान् । (यजु० ६ । १६ ॥)

अग्निः=न्यायमार्गं गमयिता विद्वान् ।

(ऋ० १ । १०७ । ३ ॥)

अग्निः=सर्वविद्याया वेत्ता विज्ञापयिता वा विद्वान् ।

(ऋ० १ । १०५ । १४ ॥)

इत्यादिनानाभिधेयेषु महर्षिणाऽग्निशब्दो व्याख्यातः । निघण्टौ पञ्चमाध्याये ऽग्निरिति पदनामसु पठितम् तत्रानेकार्था अनवगतसंस्काराश्च शब्दा यास्केन पठिता । तत्राग्निशब्दस्याप्युल्लेखः । वेदे ऽपि—

विदेदग्निर्नभो नाम्ना ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि (यजु० ५ । ६ ॥)

अत्र तृतीयस्यां पृथिव्यां द्युलोकेऽग्निर्वर्णितः स च सूर्यः पृथिवीशब्दो लोकवचनः अयमग्निशब्दोऽगिधातोरपि निष्पन्नः "अगि गतौ" इति । गतेश्च त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति गत्यर्थमादाय 'न्यायमार्गं गमयिता' । ज्ञानार्थमादाय 'सर्वविद्याया वेत्ता' इत्यादि ।

यत्तु निरुक्ते प्रतिपादितम्—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः ।

(निरुक्त ७ । १८ ॥)

इति वचनं तु 'निरुक्तमधिदैवतम्' इति स्वविषयाभिप्रायेण ।

(अथ दैवतमीमांसा)

अथ देवताशब्दस्य कः पदार्थः इति विचार्यते । अत्राह महर्षिः—

यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सोऽर्थस्तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्।

(ऋग्वेदाविं शता० सं० भा० २ पृष्ठ ६६०।)

कात्यायनोऽप्याह—

या तेनोच्यते सा देवता। (ऋक् सर्वा० २।५॥)

षड्गुरुशिष्यश्च व्याख्यातवान्—

तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता।

अत्र केचिदाहुः मन्त्रेण या देवता स्तूयते सा देवताशब्दभाक्। सा च विग्रहवती तदधिष्ठात्री देवता वा प्रोच्यते। तदसत्। बहुत्र पदार्था अपि स्तूयन्ते यथा 'उलूखलम्' (ऋ०१।२८।५–६॥) 'उलूखलमुसले' (ऋ० १।२८।७।६॥) यूपः' (ऋ० १।३६।१३–१४॥) इत्यादि तथा कालोऽपि स्तूयते यथा उषो रात्री' (ऋ० १।११३।१॥) 'कालचक्रम्' (ऋ०१।१६४।४८) इत्यादि। 'क्वचिद् भावा अपि स्तूयन्ते यथा 'भाववृत्तम्'[1] (ऋ० १०।१९०।१०३) स्तूयन्ते वर्ण्यन्त इत्यर्थः। तस्मान् मन्त्रप्रतिपाद्यविषय एव देवताशब्देनोच्यते

त एते चतुर्णां वेदानां प्रतिमन्त्रं प्रतिपाद्यविषया महर्षिणा शतवर्षकल्पपूर्वं चतुर्वेदविषयसूचीनाम्नि स्वनिर्मिते ग्रन्थे प्रदर्शिताः। दौर्भाग्यात् पूर्वेषां १९३० विक्रमसंवत्सरे यस्मिन् काले महर्षिणा आर्षत्वं लब्धं निर्मिता अधुना मुद्रिता। परोपकारिणीसंग्रहस्था जराजीर्णा महताप्रयत्नेन मया प्रतिच्छायलिपिं कारिता ऽऽसीत्। तदज्ञानात् क्षेमकरणदासत्रिवेदिनोऽथर्ववेदभाष्यं तुलसीरामस्वामिनः सामवेदभाष्यं महामहोपाध्यायार्यमुनेः शिवशंकरकाव्यतीर्थस्य च महर्षिशिष्टं[2] ऋग्वेदभाष्यममूलकं जातम्। महर्षिणा व्याख्यातयोर्वेदयोः पुनः व्याख्यातारस्तु भाष्यकारपदलुलुप्सव एव। चतुर्णां वेदानां प्रतिमन्त्रं विषयान् निर्दिष्य महर्षिश्चतुरो वेदान् व्याख्यातवानेव। एषु मन्त्रेषु किं वर्णितमिति न मनुष्या ज्ञातुं प्रभवन्ते। उक्तं हि—

१—भावानां पदार्थानां वृत्तिः सृष्टयादिप्रवृत्तिः यस्य देवता तद् भाववृत्तीयमिति प्राप्ते छार्षण्। (वेदार्थदीपिका १०।१२६॥)

२—महर्षिणा ऋ० ७।६१।२ मन्त्र पर्यन्तं व्याख्यातम्। ततोऽग्रे महामहोपाध्यायार्यमुनि शिवशंकरकाव्यतीर्थभ्यां ऋग्वेदो व्याख्यातः। सोऽप्यपूर्णः।

'नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेः' (निरु०१३। १२ ॥)

अस्यायमर्थः—एषु मन्त्रेषु ऋषेरेव प्रत्यक्षं भवति ज्ञाते तु तस्मिन् विषये वयमाचार्या अपि मन्त्रान् व्याख्यातुं क्षमाः इत्यलं दुःखप्रदर्शनेन

(अथ छन्दोमीमांसा)

अथ छन्दोविचारः । अत्राह महर्षिः—

एवं यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । (ऋग्वेदादि० श० सं० भाग २ पृष्ठ ६६० ॥)

कात्यायनश्चाह—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः । (ऋक्सर्वा० २ । ६ ॥)

तत्र प्रथमम्—

आदौ गायत्रं प्राग्हैरण्यस्तूपात् । (ऋक्सर्वा० १२ । १४ ॥)

अस्यायमर्थः—ऋग्वेदस्य आदौ प्रारम्भे गायत्रं सूक्तम् । गायत्री एव गायत्रम् छन्दः । (छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम्) (महाभाष्य ४।२।५५॥) नपुंसकार्थाभिधायिनः छन्दोवाचिनः शब्दात् अणादिप्रत्ययविधानं कर्तव्यम् । स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते । सूक्तानां गायत्रीछन्दः सामान्येन प्राक् हैरण्यस्तूपात्=येषां मन्त्राणां हिरण्यस्तूप ऋषिः (ऋ० १।३१॥) ततः प्राक् इत्यप्यनादेशे ज्ञेयम् । आदेशे तु यथा ऋ० १।१० सूक्तविषये ऽनुक्रमण्यामुक्तम्

गायन्ति द्वादशानुष्टुभं तु । (ऋक्सर्वा० १ । १ ॥) इति छन्दोऽनुष्टुप्

"अग्निमीळे" इत्यत्र उपर्युक्तपरिभाषया गायत्री छन्दः सा च त्रिपदा गायत्रीति ज्ञेयम् इति तथा चोक्तमनुक्रमण्याम्—

प्रथमं छन्दस्त्रिपदा गायत्री (ऋक्सर्वा० ४ । १ ॥)

अनादेशे ऽष्टाक्षरा पादाः (ऋक्सर्वा० ३ । ११ ॥)

ऋषिछन्दांसि गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा ।
अष्टाक्षरा वा त्रयः पादा चत्वारो वा षडक्षरा ॥
(ऋ० प्रा० १६ । १५ । १६ ॥)

अत्राष्टाक्षरा त्रयः पादा इति विभाव्यम् ।

यथा लौकिकेषु काव्येषु विषयवैशिष्ट्यात् छन्दोरचना भवति तथा वेदेऽपि विचार्यम् । यथा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
(रघुवंश ८। ६७ ॥)

अजस्य विलापो वैतालीयच्छन्दसि कविनोपनिबद्धः । करुणारसो वैतालीय-मन्दाक्रान्तादिषु वर्ण्यते न तु तोटकदोधकादिच्छन्दःसु । तथा च प्रपञ्चित कविभिः—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तरसंग्रहे ।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥१॥

शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥२॥

रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु ।
षाड्गुण्यविषया नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥३॥

वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः ।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥४॥

उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता ।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा ॥५॥

साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथिवी भरक्षमा ।
प्रावृट् प्रवास व्यसने मन्द्राक्रान्ता विराजते ॥६॥

शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितं मतम् ।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥७॥

अथ च छन्दःपादव्यवस्थाऽपि सूक्ष्मेक्षिकया ऽर्थवशेन ध्येया तथा चाह जैमिनिः—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।　　　(मीमांसा २।१।३५॥)

अस्यायमर्थः—तेषां मन्त्राणां यत्र यस्मिन् मन्त्रे अर्थवशेन अर्थानुरोधेन पादव्यवस्था पादरचनेत्यर्थः सा ऋक् । ते मन्त्रा ऋच इति ज्ञेयाः । पादशो ऽर्थो ज्ञेयः । अन्वयस्तु भावार्थप्रदर्शकः । यथा—

आ त्वा कण्वा अहूषत
गृणन्ति विप्र ते धियः
देवेभिरग्न आ गहि　　　　　(ऋ० १।१४।२॥)

अत एवात्र गृणन्ति इति तिङन्तमुदात्तवत् । तथा च—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभि-
रीड्यो नूतनैरुत ।　　　　　(ऋ० १।१।२॥)

इत्यस्य भाष्ये नूतनैरिति स्वतन्त्रं पदं महर्षिणा व्याख्यातम्
अर्थवशेन पादव्यवस्थाममन्यानौ शबरकुमारिलौ भ्रान्तावेव

छन्द आदिविषये यत्र यत्र सर्वानुक्रमणीकारान् महर्षेर्भेदः तत्र तत्र सकारणं विवेचयिष्यते ।

(अथ षड्जादिस्वरमीमांसा)

अस्मिन् मन्त्रे षड्जःस्वर इति महर्षिणोक्तम् । षड्जस्वरे ऽयं मन्त्रो गेय इति उक्तं हि—

तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद् विज्ञेयम् ।

(ऋग्वेदादि० श० सं० भा० २ पृ० ६६०)

तत्रैवं व्यवस्था क्रियते—

१–षड्जः २–ऋषभः ३–गान्धारः ४–मध्यमः ५–पञ्चमः ।
६–धैवतः ७–निषादः इति सप्त स्वराः ।

१--गायत्री २--उष्णिक् ३--अनुष्टुप् ४--बृहती ५--पङ्क्ति
६–त्रिष्टुप् ७–जगती इति सप्त छन्दांसि ।

उक्तं च वेदाङ्गछन्दोग्रन्थे—

स्वराः षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादाः ।
(वेदाङ्गछन्दः)

स्वराः षड्जादयः (पिङ्गल ३ । ६४)

इति सूत्रव्याख्याने हलायुध आह—

षड्जर्षभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादा स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः (हलायुध ३ । ६४ ॥)

अस्यायमर्थः—गायत्री षड्जस्वरा उष्णिक् ऋषभस्वरा अनुष्टुप् गान्धारस्वरा बृहती मध्यमस्वरा पङ्क्तिः पञ्चमस्वरा । त्रिष्टुप् धैवतस्वरा । जगती निषादस्वरा

एवमुत्तरसप्तकेऽपि क्रमेण षड्जादिस्वरा ज्ञेया तथाहि—

अतिजगती षड्जस्वरा । शक्वरी ऋषभस्वरा । अतिशक्वरी गान्धारस्वरा । अष्टिः मध्यमस्वरा । अत्यष्टिः पञ्चमस्वरा । धृतिः धैवतस्वरा । अतिधृतिः निषादस्वरा । तथैव तृतीये सप्तके क्रमेण षड्जादयः स्वरा ज्ञेयाः

१—कृतिः २—प्रकृतिः ३—आकृतिः । ४—विकृतिः ५—संकृतिः । ६—अभिकृतिः ७—उत्कृतिः

महर्षिकृता छन्दःसूच्यपि परोपकारिणीसंग्रहस्था शतवर्षकल्पनिर्मिता नाधुनापि मुद्र्यते । साम्प्रतं महर्षिहस्तलेखेष्वन्विष्टा ऽपि न लब्धा अतः तृतीयसप्तकस्वरभेदविषये न किंचिद् वक्तुं पार्यते ।

वेङ्कटमाधवः छन्दानुक्रमण्यामाह—

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुप् जगत्यौ सप्तेति छन्दांसि कवयो विदुः
ननु चातिजगत्यस्ति शक्वर्यप्यातिशक्वरी
तथैव चाष्टिरत्यष्टिर्धृतिश्चातिधृतिस्तथा–
सर्वाणि दृष्टानि च संहिताया–
न्तथैव चासंश्चतुरुत्तराणि
ततश्च वेदे वचनीयमित्थ–
मिमानि छन्दांसि चतुर्दशेति
चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति ।
चतुराधिकछन्दांसि दर्शितानि चतुर्दश
यानि दाशतयीष्वासन् उत्तराणि सुभेषजे

अत्र वेद इति ऋग्वेदे इत्यर्थः ऋग्वेदे चतुर्दश छन्दासि सन्ति । तृतीयसप्तकछन्दांसि तु यजुःषु । तेषां नामानि—

कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संस्कृतिस्तथा
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युकृतिरुच्यते
अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवतिः
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमं तु चतुःशतम्

अस्यायमर्थः—कृतिः अशीत्यक्षरा एवमग्रे चत्वारोऽक्षरा वर्धन्ते । सप्तमं छन्दः चतुःशताक्षरकम्

निदानसूत्रे तृतीयसप्तकछन्दोनामानि—

१—सिन्धुः । २—सलिलम् ३—अम्भः । ४—गगनम् । ५—अर्णवः । ६—आपः ७—समुद्रः कृत्यादिनामस्थाने क्रमशो ज्ञेयानि ।

एषां सर्वेषां प्रथमद्वितीयतृतीयसप्तकच्छन्दसां षड्जादयः स्वरा क्रमशो भवन्ति

भरतोऽपि सप्तस्वरानाह—

स स्वरो यः श्रुतिस्थाने स्वरन् हृदयरञ्जकः ।
षड्ज ऋषभ गान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥
धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ।

नारदेन च तल्लक्षणान्यप्युक्तानि तथाहि—

षड्जं रौति मयूरोऽपि वृषो नदति चर्षभम् ।
अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्चो नर्दति मध्यमम् ॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम् ।
अश्वश्च धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः ॥

षड्जलक्षणं चाह—

नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन् ।
षड्भ्यः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥

अथ षड्जादिस्वरविषये किञ्चित् प्रपञ्च्यते—

शब्दार्थौ कूटस्थौ आकाशवद् व्यापकत्वात् । तथाहि व्योम्नि सर्वं स्वराः । तेषु द्वौ अचलौ षड्जः पञ्चमश्च । पञ्चमस्य षड्ज एव प्रकृतिः ऋषभगान्धारमध्यमधैवतनिषादानां षड्ज एव प्रकृतिः एषु उत्तराङ्गश्च भवतः । पूर्वाङ्गे षड्ज एवाचलः ततः प्रारम्भात् । उत्तराङ्गे चलः ततः प्रारम्भात् । पूर्वाङ्गोत्तराङ्गयोर्यस्य स्वरस्य प्रथमं स्थापना कूटस्थ इति षड्जोऽचलो जायते अन्ये विवादिनः संवादिनः शाब्दिका भाषन्ते शब्दो नित्यः परं तत्र षड्जस्यापेक्षया स्वराः न दृश्यन्ते । संगीतशास्त्रेषु चेदं विचार्यते

यथा पर्वतवत् शब्दः कूटस्थो व्यवस्थितः तथायमचलश्च ड्यते । न चल अचलो नित्य इत्याशयः स्वराणां मध्ये षड्ज श्रुतयो ऽनन्ताः । अतो हि यत्र षड्जो गृह्यते तत्रैवाचलो जायते । स्वरः । अस्याष्टौ भेदा भवन्ति अस्योच्चारणस्थानं कण्ठः । अस्य ए

भरतनाट्यशास्त्रे द्वाविंशतिः श्रुतयो निर्दिष्टाः तथाहि—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः
द्वौ द्वौ निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिः ऋषभधैवतौ ।

अस्यायमर्थः—षड्जमध्यमपञ्चमेषु चतस्रः चतस्रः श्रुतयो भवन्ति निषाद-गान्धारयोः द्वे द्वे श्रुतो भवतः। ऋषभधैवतयोः तिस्रः तिस्रः श्रुतयो भवन्ति तदेतत् सर्वमधोन्यस्तचित्रेण ज्ञेयम्

(सप्तके श्रुतीनां व्यवस्था)

स्वरनामानि—	श्रुतिसंख्या—		उदात्तानुदात्त— स्वरितविभागाः—
	१	तीव्रा	षड्जः
	२	कुमुद्वती	
	३	मन्दा	उ.
स	४	छन्दोवती	अ.
		दयावती	ऋषभः
रे̱		रञ्जनी	
रे	७	रक्तिका	अ.
ग̱	८	रौद्री	गान्धारः
ग	९	क्रोधा	उ.
	१०	वज्रिका	मध्यमः
	११	प्रसारिणी	उ.
म	१२	प्रीतिः	अ.
मं	१३	मार्जनी	
	१४	क्षितिः	पञ्चमः
	१५	रक्ता	उ.
	१६	संदीपिनी	अ.
प	१७	आलापिनी	
	१८	मदन्ती	धैवत
ध̱	१९	रोहिणी	अ.
ध	२०	रम्या	
नि̱	२१	उग्रा	नि
नि	२२	क्षोभिणी	उ.

४	७	९	१३	१७	२०	२२
स	रे	ग	म	प	ध	नि
६	८	१४	१९	२१		
रे̱	ग̱	मं	ध̱	नि̱		

पञ्चश्रुतिक धैवतः (रामामात्यदाक्षिणात्यमते)

षड्जग्रामः पञ्चमः
मध्यम ग्रामः पञ्चमः

तीव्रो मं लोचनानुसारम्
(पञ्चदशख्रिष्टशताब्दी)

पञ्चम श्रुतिक ऋषभः (रामामात्य दाक्षिणात्यमते)

१	५	८	१०	१४	१८	२१	आधुनिक
स	रे	ग	म	प	ध	नि	शुद्धस्वराः

तथा चोक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—

तीव्रा कुमुद्वती मन्द्रा छन्दोवत्यस्तु षड्जा।
दयावती रञ्जनी च रक्तिका ऋषभेस्थिता॥
रौद्री क्रोधा च गान्धारे, वज्रिकाऽथ प्रसारिणी।
प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः।
क्षिती रक्ता च सन्दीपिन्यालापिन्यपि पञ्चमे॥
मदन्ती रोहिणी रम्येत्येता धैवतसंश्रयाः।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती॥

श्रुतीनां नामान्तराणि—
नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना।
मातङ्गी सरसाऽमृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी॥
वाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया।
मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिः द्वाविंशतिः कीर्तिताः॥

गान्धारादिसप्तस्वराणामुदात्तादिवर्णनम्—
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

अस्यायमर्थः—निषादगान्धारौ स्वरौ उदात्तलक्षणेन गीयन्ते। ऋषभधैवतौ अनुदात्तलक्षणेन गातव्यौ षड्जमध्यमपञ्चमाश्च स्वरितलक्षणेन गेयाः।

ऋषिदैवतछन्दःस्वरविषये विस्तरस्तु विश्वप्रदीपे व्याख्यास्यते।

अथ किंचिदवग्रहादिषु विचार्यते—

पदपाठकाले समस्तानां पदानां पदविभागं कृत्वा तत्रावग्रहः प्रदर्श्यते। यथा—

'पुरोहितम्' इति निर्भुजसंहितायाम्[1]।

'पुरःऽहितम्' इति प्रतृण्णसंहितायाम्[2]।

१—संहितापाठ इत्यर्थः।

२—पदपाठ इत्यर्थः।

ननु (समासे ऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः) (वा० प्रा० ५ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—समासे ऽवग्रहो भवति स च ह्रस्वसमकालः एकमात्राकालो व्यवधाने भवतीत्यर्थः । तथा सति 'पुरःऽहिंतम्' इत्यत्र उदात्तादुत्तरस्यानुदात्तस्य कथं स्वरितः प्रचयश्च 'पुरःऽहिंतम्' इति । अतएव तैत्तिरीयसंहितापदपाठे उदात्तादुत्तरस्य अवग्रहोत्तरस्यानुदात्तस्य न स्वरितः क्रियते । न वा स्वरितादुत्तरस्यानुदात्तस्य प्रचयः। यथा—

प्रजावंतीरिति—प्रजाऽवतीः । (तै० १ । १ । १ ॥)
श्रेष्ठंतमायेति—श्रेष्ठंऽतमाय । (तै० १ । १ । १ ॥

अत्रावग्रहे न स्वरितप्रचयौ दृष्टौ ।

अत्रोच्यते—

यथा सन्धीयमानामेकीभवतां स्वरः ।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे ॥ (ऋ० प्रा० ३ । २४ ॥

क्व उपदिष्टः ? उच्यते—

उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा ।
स्वर्यते ऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥
(ऋ० प्रा० ३ । १६ ॥)

अस्यायमर्थः—उदात्तः पूर्वो यस्मात् तत् उदात्तपूर्वम् उदात्तात्परमित्यर्थः । नियतम् अनुदात्तं विवृत्या प्रकृतिभावेन व्यञ्जनेन वा ऽन्तर्हितमपि स्वर्यते स्वरित भवति यदि तस्माद् अनुदात्तात् पर उदात्तः स्वरितो वा न भवति । अयमेव नियमो मात्राकालव्यवधाने ऽवग्रहे ऽपि । अतः पूर्वमुक्तम्—"तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे" इति तस्मात् "पुरःऽहिंतम्" इत्यत्र स्वरितप्रचयौ ज्ञेयौ ।

ननु रत्नानि दधाति इति रत्नधा अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमः । इत्यत्र—
बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा । (वा० प्रा० ५ । ७ ॥)

अस्यायमर्थः—यस्मिन् समस्ते पदे ऽनेकानि पदानि तत्र पश्चात्कालिकं यत् पदं तेनावग्रहो भवति । ततः रत्नधाऽतमः इत्यवग्रहः स्यात् न तु रत्नऽधातमः । इति ।

अत्राह कात्यायनः—

(वीतम हूतम–सूनम–गोपातम–रत्नधातम–वसुधातमाः पूर्वेण)
वा० प्रा० ५ । ३ ॥

अस्यायमर्थः—वीतमादयः शब्दाः पूर्वेण पदेनावगृह्यन्ते इति नियमः । तस्माद् रत्न ऽधातमः इत्यवग्रहः ।

'ईळे' इत्यत्र ईड धातुः । तस्य डकारस्य—

द्वयोश्च स्वरयोर्मध्यमेत्य ।
संपद्यते स डकारो ळकारः ॥
(ऋ० प्रा० १ । ५२ ॥)

अस्यायमर्थः—द्वयोः स्वरयोर्मध्ये स्थितो डकारः ळकारो भवति । विस्तरस्तु पदार्थप्रदीपे द्रष्टव्यः ।

(ब्राह्मणमीमांसा)

अथ मन्त्रभूमिकारूपं ब्राह्मणं प्रोच्यते । तत्राह महर्षिः—

तत्राद्ये मन्त्रे ऽग्निशब्देनेश्वरेण आत्मभौतिकावर्थावुपदिश्येते । (ऋ० भा० १ । १ । १ ॥)

अस्यायमर्थः—ईश्वरेण प्रथमे मन्त्रे ऽग्निशब्दद्वारा आत्मनो भौतिकस्याग्नेश्चोपदेशः कृतः । उक्तं च—

यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यते इति क्रियापदं प्रयुज्यते ऽस्य सर्वत्र कर्त्तेश्वर एव बोध्यः ।
(ऋ० भा० भावार्थ १ । १ । १ ॥)

ब्रह्मणः=मन्त्रस्य इदम् प्रयोजनमिति ब्राह्मणम् ।

इति ऋषि देवता छन्दः स्वर ब्राह्मण मीमांसा ।

आर्यभाषा

(ऋषि-देवता-छन्दः-स्वर-ब्राह्मण-विचार)

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में सर्वत्र प्रत्येक सूक्त की ऋक्संख्या और प्रत्येक मन्त्र का ऋषि देवता छन्द तथा छन्दों के षड्ज आदि स्वर और प्रत्येक मन्त्र के भाष्य के प्रारम्भ में मन्त्रभूमिका—ब्रह्म=मन्त्र की संक्षिप्त विषयनिर्देशिका रूप ब्राह्मण भी दिखाया है। क्योंकि जो व्यक्ति उपर्युक्त सब बातों को बिना जाने मन्त्र का प्रयोग करता है अर्थात् मन्त्र की स्वेच्छया व्याख्या करके उस मन्त्र को किसी बात का समर्थक बताता है वह व्यक्ति मन्त्र कण्टक कहाता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७४ पर देखो।

(ऋषिमीमांसा)

ऋषि आदि को कात्यायन अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में उल्लेख करता है—

अग्नि नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। (ऋ० सर्वा० १)

अर्थात्—अग्निम् शब्द से प्रारम्भ होने वाले ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में नौ ऋचाएं हैं और विश्वामित्र गोत्रोत्पन्न मधुच्छन्दा इस सूक्त का ऋषि है। महर्षि ने केवल मधुच्छन्दा ऋषि लिखा है विश्वामित्र गोत्रोत्पन्न का उल्लेख नहीं किया है। बृहद्देवता तथा ऋग्विधान आदि में भी केवल मधुच्छन्दा लिखा है वैश्वामित्र नहीं। यह मधुच्छन्दा ऋषि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के आरम्भ के दश सूक्तों का ऋषि है जिनमें १०२ ऋचाएं हैं। यह मधुच्छन्दा ऋग्वेद के नवम मण्डल के प्रथम सूक्त का भी ऋषि है उस में १० ऋचाएं हैं। इस प्रकार यह मधुच्छन्दा ऋग्वेद के ११२ मन्त्रों का अर्थ द्रष्टा है अतः इस मधुच्छन्दा को शतर्ची=सौ ऋचाओं का अर्थद्रष्टा ऐसा कुछ कहते हैं और इसके साहचर्य से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अर्थद्रष्टा सब ऋषि छत्रि-न्याय से शतर्ची कहाते हैं।

यद्यपि सब ने सौ सौ ऋचाओं का अर्थ दर्शन नहीं किया पर क्योंकि मधुच्छन्दा ने १०२ ऋचाओं[1] का अर्थदर्शन किया उस के साहचर्य से प्रथम मण्डल के सब ऋषियों को शतर्ची कहते हैं। जैसे विना छाता लिये कुछ व्यक्ति जा रहे हो उनमें एक के पास भी यदि छाता है तो सब को कहा जाता है कि वे छाते वाले जा रहे हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७४ पर देखो।

१—प्रथममण्डल की १०२ ऋचाओं का अर्थद्रष्टा मधुच्छन्दा है। अन्य १० ऋचाएँ तो नवम मण्डल के प्रथम सूक्त की है जिनका भी अर्थद्रष्टा यह मधुच्छन्दा है।

(मन्त्रकर्ता–मन्त्रद्रष्टा–मन्त्रार्थद्रष्टा = ऋषि)

ऋषियों के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के वर्णन वैदिक साहित्य में आते हैं।
क—कहीं ऋषियों को मन्त्रकर्ता लिखा है जैसे—

नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः (तै० आ० ४ । ११ ॥)

ख—कहीं ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा लिखा है जैसे—

मन्त्रदर्शी । (संहितोपनिषद् ब्राह्मण ३)

ग—कहीं ऋषियों को मन्त्रार्थ द्रष्टा लिखा है जैसे—

य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः । (न्याय० वात्स्यायन २ । १ । ६८ ॥

(मन्त्रद्रष्टा–ऋषि)

मन्त्र द्रष्टा सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा नाम के केवल चार ऋषि हुए। अग्नि ऋषि के द्वारा ऋग्वेद, वायु ऋषि के द्वारा यजुर्वेद, आदित्य ऋषि के द्वारा सामवेद और अङ्गिरा ऋषि के द्वारा अथर्ववेद प्रकट हुआ जैसा कहा है कि—

तेभ्यो ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत । यजुर्वेदो वायोः । सामवेद आदित्यात्[1]० । (ऐतरेय० २५ । २२ ॥)

ये ऋषि सृष्टि के आदि में बिना माता पिता के अमैथुनी सृष्टि में पैदा हुए थे। ये जन्म से ही शुद्ध थे फिर भी इन्होंने तप किया तब क्रमशः एक एक ऋषि को एक एक वेद प्रकट हुआ। अग्नि ऋषि को ऋग्वेद ही प्रकट हुआ इत्यादि। तैत्तियारण्यक में इन ऋषियों के सम्बन्ध में लिखा है कि—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयो ऽभवन् । तद् ऋषीणामृषित्वम् । (तैत्तिरीयारण्यक २ । ९ ॥)

अर्थात्—(अजान्) जो माता पिता से नहीं पैदा हैं अमैथुनी सृष्टि में पैदा हुए उन को और जो (पृश्नीन्) पूर्वजन्म के संस्कार जिनके अन्तःकरण में नहीं थे उनको और जो (तपस्यमानान्) तपस्वी शुद्ध चरित्र वाले अब भी थे उनको

१—इस प्रमाण की विस्तृत व्याख्या आचार्यकृत सन्ध्यापद्धतिमीमांसा में है।

(स्वयंभु ब्रह्म) नित्य वेद (अभ्यानर्षत्) प्राप्त हुआ । वे ऋषि कहलाए । यह ऋषि शब्द का अर्थ है कि जिन्हें कुछ प्राप्त हो गया ।

ऋषि शब्द 'ऋषी गतौ' धातु से बनता है और यह ऋषि शब्द 'ऋषिर्दर्शने' धातु से भी बनता है । अमैथुनी सृष्टि के इन अग्नि आदि को ऋषि इस लिये कहा गया है कि इनको वेद प्राप्त हो गया । इनका अपना कोई समाधि आदि द्वारा परिश्रम नहीं करना पड़ा । परन्तु जो अगले ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा हुए उन्होंने समाधि बल से मन्त्रार्थ का दर्शन किया अतः 'ऋषिर्दर्शने' धातु से बना ऋषि शब्द उन के लिये प्रयुक्त हुआ । मन्त्रदृष्टयः का अर्थमन्त्रार्थदर्शन भी है ।

(मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि)

महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि जिन्होंने ईश्वर के ध्यान और ईश्वर के अनुग्रह से ठीक ठीक जिस मन्त्र का अर्थ जाना और सर्व प्रथम जिन्होंने उस मन्त्र का प्रचार अध्यापन किया वे उस उस मन्त्र के अर्थ द्रष्टा ऋषि कहलाये । उनका नाम कृतज्ञता प्रकाशनार्थ प्रत्येक मन्त्र के साथ अब तक लिखा चला आता है । प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७५ पर देखो ।

ऋग्विधान में लिखा है कि—

ऋग्वेदाद्यस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ।
यथा ऋषिर्मधुच्छन्दा कर्मैतेनाकरोत् पुरा ॥
(ऋग्विधान १ । ७९ ॥)

अर्थात्—ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का ऋषि मधुच्छन्दा है इसने सर्व प्रथम इस सूक्त से कर्म किया ।

यहां पुरा शब्द सर्व प्रथम अर्थ में है । प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७५ पर देखो ।

(मन्त्रकर्ता ऋषि)

कुछ लोग इन मधुच्छन्दा आदि ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानतें हैं जैसे—

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः (तै० आ० ४ । १५ ॥)

इसको कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि यहां कृ धातु का अर्थ दर्शन है अर्थात् ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं । परन्तु महर्षि इन मधुच्छन्दा आदि को न मन्त्रकर्ता मानते हैं और न मन्त्रद्रष्टा । ये मधुच्छन्दा आदि मन्त्रार्थद्रष्टा हैं और मन्त्रों को प्रयोग करने वाले हैं । अर्थात् यहां कृ धातु का अर्थ प्रयोगमात्र है । जैसे सुवर्णकार चर्मकार आदि लोग

सुवर्ण या चमड़े को बनाते नहीं है केवल प्रयोग करते हैं। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७६ पर देखो।

हां ऋषि लोग श्रौत तथा गृह्य मन्त्रों के कर्ता अवश्य हैं वेद मन्त्रों के नहीं जैसे (अयन्त इध्म आत्मा जातवेदः०) इत्यादि गृह्यमन्त्रों के कर्ता ऋषि हुए। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने भी यज्ञ की पद्धति में भूरग्नये प्राणाय स्वाहा आदि मन्त्र स्वयं बनाये जैसा उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वयं लिखा है संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७६ पर देखो। इस दृष्टि से हम स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी को भी मन्त्रकर्ता ऋषि कह सकते हैं।

यदि वेद मन्त्रों के भी ऋषि कर्ता है तो एक ही मन्त्र के अनेक ऋषि कैसे हो सकते हैं। मन्त्रों के अर्थ द्रष्टा ऋषि तो अनेक हो सकते हैं पर किसी एक रचना के कई कवि नहीं हो सकते। उदाहरण संस्कृत भाग पृष्ठ २७६ पर देखो।

ऋषियों को मन्त्रार्थ द्रष्टा कौन कौन मानता है प्रमाण संस्कृत भाग पृष्ठ २७७ पर देखो। इन ऋषियों का यह स्वभाव रहा है कि मन्त्रार्थ का वर्णन करते हुए उदाहरण के रूप में किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख कर देते हैं। जैसे भर्तृहरि का वड़ा प्रसिद्ध श्लोक है "निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु०" इत्यादि। यह श्लोक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी को अतिप्रिय था और उन्होंने अपने जीवन में इसको चरितार्थ करके दिखा दिया। इस स्थिति में उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में यदि कोई व्याख्याता महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का उल्लेख करदे तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि महर्षि के बाद भर्तृहरि ने यह श्लोक बनाया और इस श्लोक में महर्षि का वर्णन है। इसी प्रकार वेद मन्त्रों की व्याख्या में यास्क ने जो 'कुरङ्गो राजा' ऋ० ८ । ४ । १९ ।। की व्याख्या में दिखाया या ऋ० १० । ९८ । ५ ।। की व्याख्या में जो देवापि शन्तनु की कथा लिख दी उसका अर्थ यह नहीं कि वेद में इन ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २७७, २७८ पर देखो।

(मन्त्रार्थ को साक्षात् करने वाली ऋषिकाएँ)

जिस प्रकार मन्त्रों के अर्थों को साक्षात् करने वाले ऋषि हुए हैं इसी प्रकार ऋषिकाएँ भी हुई हैं। उनके नाम कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में इस प्रकार लिखे हैं—

१–रोमशा ब्रह्मवादिनी (ऋ० १ । १२६ । ६ ।।)

२–लोपामुद्रा (ऋ० १ । १७९ । १–२ ।।)

३–नदी (ऋ० ३ । ३३ । ४, ६, ८, १० ।।)

४–विश्ववारा आत्रेयी (ऋ० ५ । २८ ॥)

५–शश्वती आङ्गिरसी (ऋ० ८ । १ । ३४ ॥)

६–अपाला आत्रेयी (ऋ० ८ । ६१ ॥)

७–इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी (ऋ० १० । २८ । १ ॥)

८–घोषा काक्षीवती (ऋ० १० । ३९ ॥)

९–अदितिर्दाक्षायणी (ऋ० १० । ७२ ॥)

१०–सूर्या सावित्री (ऋ० १० । ८५ ॥)

११–इन्द्राणी (ऋ० १० । ८६ ॥)

१२–जुहू ब्रह्मजाया (ऋ० १० । १०९ ॥)

१३–गोधा (ऋ० १० । १३४ ॥)

१४–इन्द्राणी (ऋ० १० । १४५ ॥)

१५–श्रद्धा कामायनी (ऋ० १० । १५१ ॥)

१६–देवजामय इन्द्रमातरः (ऋ० १० । १५३ ॥)

१७–यमी वैवस्वती (ऋ० १० । १५४ ॥)

१८–शची पौलोमी (ऋ० १० । १५९ ॥)

१९–सार्पराज्ञी (ऋ० १० । १८९ ॥)

इसी प्रकार संवाद सूक्तों में जैसे ऋ० १० । ८६ ॥ ऋ० १० । १०९ ॥ बहुत सी ऋषिकाएँ निर्दिष्ट हैं। कहीं कहीं ऋषियों के प्रचलित नाम मन्त्रार्थ दर्शन के बाद पड़े हैं जैसे विश्वरथ का नाम विश्वामित्र तथा शिवसंकल्प ऋषि आदि नाम पुरुषों के, तथा नदी आदि नाम जो कात्यायन ने दिखाये हैं। इसका अर्थ जलप्रवाह रूप नदी नहीं है प्रत्युत तद्विद्या जानने वाली ऋषिका है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने ऋषियों के नाम के सम्बन्ध में कहीं कहीं मतभेद प्रकट किया है। जिसका विशेष कारण वहां वहां दिखायेंगे।

(देवता मीमांसा)

मन्त्रों के देवता भी कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में दिखाये हैं। जहां जहां महर्षि का कात्यायन से मतभेद है वहां हम सकारण विवेचना करेंगे। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवता के विषय में लिखा है कि—

मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात् । (ऋ० स० १ ।)

अर्थात्—सर्वानुक्रमणी की यह परिभाषा है कि जिस का देवता न लिखा हो वहां इन्द्र देवता समझो (अनादेशेत्विन्द्रो देवता ऋ० स० १२ । ५ ॥) परन्तु सब मण्डलों के आदि सूक्तों में देवता न बताने पर अग्नि देवता जानो । जब अग्नि देवता का अधिकार समाप्त होगा वहां 'इन्द्रो देवता' कह दिया जावेगा जैसे ('सुरूपकृत्नु दर्शेन्द्रम्' ऋ० १ । ४ ॥) । वैसे जिनका देवता इन्द्र हैं उनको कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'अनादेशेत्विन्द्रो देवता' वैसे ही होगा पर अग्नि देवता के प्रकरण को समाप्त करने के दृष्टिकोण से इन्द्रो देवता कहा जायेगा ।

इस प्रकार सब मण्डलों के आदि सूक्तों में अग्नि देवता न कहने पर भी अग्नि देवता रहेगा । पर क्योंकि नवम मण्डल में पवमान सोम देवता बताया गया है वहां पवमान सोम देवता ही ६ मण्डल के आदि सूक्त में रहेगा ।

बृहद्देवता में भी लिखा है कि—

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आर्षकम् । (बृहद्देवता १ । १२६ ॥)

अर्थात्—ऋग्वेद का प्रथम सूक्त अग्नि देवता वाला है । और यह मधुच्छन्दा ऋषि का ऋषिकर्म है । ऋषिकर्म = मन्त्र का अर्थ दर्शन और सर्वप्रथम उसका प्रचार ऋषिकर्म है ।

(अग्नि शब्द का अर्थ)

अग्नि शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में पृष्ठ २०२ से २२४ तक विस्तार से लिखा जा चुका है । अग्नि शब्द के जितने निर्वचन हैं उतने पृथक् पृथक् अर्थ हैं यह भी पृष्ठ २२८ से २४३ तक बताया जा चुका है ।

ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिकाग्नि को व्याख्या ऋषि ने की है । द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि से विद्युदादि की व्याख्या की है । तृतीय और चतुर्थ मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से विद्वान् की व्याख्या की है । पञ्चम और षष्ठ मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से फिर भौतिकाग्नि का व्याख्यान किया है । सप्तम मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि शब्द से विद्युत् की व्याख्या ऋषि ने की है ।

अन्यत्र अपने वेद भाष्य में महर्षि ने अग्नि शब्द के अनेक अर्थ किये हैं जैसे—

अग्नि = जाठराग्नि (यजुर्वेद ५ । ६ ॥)
अग्नि = सूर्य (यजुर्वेद ५ । ६ ॥)

अग्नि = युद्धजन्यक्रोधाग्नि (यजुर्वेद ६ । १८ ॥)

अग्नि = सर्वविद्याप्राप्त विद्वान् (यजुर्वेद ६ । १६ ॥)

अग्नि = न्याय मार्ग में चलाने वाला विद्वान् (ऋ० १ । १०७ । ३ ॥)

अग्नि = सब विद्या का जानने वाला और बताने वाला विद्वान्

(ऋ० । १०५ । १४ ॥)

इत्यादि अनेक अर्थों में महर्षि ने अग्नि शब्द की व्याख्या की है। निघण्टु के पञ्चमाध्याय में अग्नि शब्द पदनामों में यास्क ने पढ़ा है। यास्क ने निघण्टु के चतुर्थ और पञ्चम अध्याय के सम्बन्ध में लिखा है कि—

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । अनवगतसंस्कारांश्च निगमान । तदैकपदिकमित्याचक्षते ।

(निरुक्त ४ । १ ॥)

अर्थात्—निघण्टु के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अध्यायों में एक अर्थ वाले पर्याय शब्दों का संग्रह है। और चतुर्थ पञ्चम अध्याय ऐकपदिक कहाता है इसमें अनेकार्थ वाले शब्दों का संग्रह है तथा जिनमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग स्पष्ट नहीं है ऐसे अनवगतसंस्कार वैदिक शब्दों (निगमान्) का संकलन है। अग्नि शब्द भी अनेकार्थ है अतः उसका संकलन ऐकपदिक प्रकरण में किया है। वेद में भी—

विदेदग्निर्नभो नामाऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि । (यजु० ५ । ९ ॥)

यहां पृथिवी शब्द लोक वाचक है अतः तृतीय लोक में अग्नि का जो वर्णन किया है वह सूर्य है।

यह अग्नि शब्द 'अगि गतौ' धातु से भी बनता है। गति के तीन अर्थ होते हैं। ज्ञान गमन और प्राप्ति। गत्यर्थ को लेकर 'न्याय मार्ग में चलाने वाला अर्थ है। और ज्ञानार्थ को लेकर सब विद्या का वेत्ता अर्थ है।

प्रश्न—निरुक्त में तो लिखा है कि—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते ऽयमेव सो ऽग्निः ।

(निरुक्त ७ । १८ ॥)

अर्थात्—जहां पूरा सूक्त अग्नि देवता का है या जहां अग्नि के लिये हवि प्रदान बताया गया है वहां अग्नि शब्द का भौतिकाग्नि अर्थ है।

उत्तर—निरुक्त का प्रधान विषय अधिदैवत है अतः यास्क ने यह बात अपने शास्त्र के प्रधान विषय के दृष्टि कोण से लिखी है ।

(देवता शब्द का अर्थ)

मन्त्रों के देवता जो है उनके सम्बन्ध में महर्षि ने लिखा है कि—

जिस मन्त्र का जो विषय है वह उस मन्त्र का देवता है । कात्यायन ने भी कहा है कि—

उस मन्त्र से जो बात कही जाती है वह उस मन्त्र का देवता है । षड्गुरुशिष्य ने भी ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी की अपनी टीका में लिखा है कि—

उस मन्त्र रूप वाक्य से जो विषय प्रतिपादन किया गया है वह देवता कहाता है । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८१–२८२ पर देखो ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मन्त्र में जिस देवता की स्तुति की जाती है वह मन्त्र की देवता अधिष्ठात्री देवी और शरीरधारिणी है । यह बात सत्य नहीं क्योंकि मन्त्रों के देवता कहीं पदार्थ भी है जैसे उलूखल (उखली (ऋ० १ । २८ । ५–६ ॥) उखली और मूसल (ऋ० १ । २८ । ७ । ६ ॥), यूप (खम्भा) (ऋ० १ । ३ । ६ । १३–१४), कहीं कहीं कालवाचक शब्द भी मन्त्रों के देवता हैं । जैसे—उषारात्रि (ऋ० १ । ११३ । १ ॥), कालचक्र (ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥), इत्यादि । कहीं कहीं भाववृत्त देवता है । भाववृत्त शब्द का अर्थ षड्गुरुशिष्य ने इस प्रकार किया है कि—

भावानां पदार्थानां वृत्तिः सृष्ट्यादिप्रवृत्तिः यस्य देवता तद् भाववृत्तीयमिति प्राप्ते छार्थे ऽण् । (वेदार्थ दीपिका १० । १२६ ॥)

अर्थात्—सृष्टि की उत्पत्ति आदि का जो वर्णन है यह भाववृत्त शब्द का अर्थ है । अतः मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता कहाता है ।

(महर्षि की चतुर्वेदविषयसूची)

चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र में किस किस विषय का वर्णन है इस सम्बन्ध में महर्षि ने जब उन्हें सम्वत् १६३० में ऋषित्व प्राप्त हो गया तब चतुर्वेद विषय सूची नाम का ग्रन्थ ऋषि ने अब से एक सौ वर्ष पूर्व पूरा लिखा था । महर्षि के हस्तलेख पिछले महायुद्ध के समय रक्षार्थ पृथिवी में गाड़ दिये गये थे । वहां से उन्हें निकाला गया । उस में चतुर्वेद विषय सूची नाम का ग्रन्थ भी था जो जराजीर्ण हो चुका था उसके पन्ने चिपक गये थे बड़ी कठिनता से उन्हें छुड़ाया और अत्यन्त आग्रह करके

मैंने परोपकारिणी सभा के अधिकारियों से उसका फोटो कराया। और वर्षों कहते सुनते उसको छपवाया भी। परन्तु यह चतुर्वेदविषयसूची महर्षि का ग्रन्थ अनुत्तरदायित्वपूर्ण शैली से छापा गया है। महर्षि ने पहले ऋग्वेद के १०५२२ सब मन्त्रों का प्रत्येक का विषय लिखा था। उसके अनन्तर सामवेद के मन्त्रों के विषय अनुपद ही लिखे थे। क्योंकि वेद के अध्ययन करने वालों ने एक मिथ्या किंवदन्ती चला दी थी कि ऋग्वेद के मन्त्र ही सामवेद में हैं जो सर्वथा असत्य बात थी। ऋग्वेद के उन्हीं मन्त्रों का पदपाठ शाकल्य ने किया और सामवेद के उन मन्त्रों का पदपाठ गार्ग्य ऋषि ने किया था जो परस्पर एक नहीं है। सामवेद के मन्त्रों का भाष्य गार्ग्य के पदपाठ के अनुसार करना चाहिये था। यह गार्ग्य का पदपाठ सामवेद के भाष्यकारों ने किसी ने भी नहीं देखा था।

महर्षि ने ऋग्वेद सामवेद के सब मन्त्रों के पृथक् पृथक् विषय बताकर अथर्ववेद के मन्त्रों के विषय लिखे थे क्योंकि यजुर्वेद के मन्त्रों के विषयों के पश्चात् यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय ऋषि ने दिखाये हैं अतः महर्षि का क्रम यह था कि—

ऋग्वेद सामवेद। अथर्ववेद। यजुर्वेद तथा उसकी शाखायें और ब्राह्मण ग्रन्थ पर इस बात को न समझकर चतुर्वेदविषयसूची का मुद्रण ऋक् यजु साम अथर्व इस प्रचलित क्रम से कर दिया और शाखा ब्राह्मण छोड़ दिया। कुछ तो पहले ही गल गया था जो रह गया था वह भी नहीं छापा। इसके अतिरिक्त इसका सम्पादन भी अशुद्धियों से भरा है अतः यह ग्रन्थ हस्तलेख के आधार पर फिर से छपना चाहिये।

खेद का विषय है कि अथर्ववेद के भाष्यकार पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने तथा सामवेद के भाष्यकार पं० तुलसीराम स्वामी ने तथा महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि और पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ जिन विद्वानों ने महर्षि के ऋग्वेद के बचे वेदभाष्य को पूरा करने का यत्न किया इन सबने चतुर्वेदविषयसूची को उठा कर नहीं देखा। अतः इन सब के वेद भाष्य काल्पनिक ही हैं। ऋषि के किये वेद भाष्य पर भी अपना मन गढन्त वेद भाष्य करने वाले तो अत्यन्त दण्डनीय हैं। आजकल भी वेदों पर भाष्य करने की कुचेष्टा अज्ञानी लोग कर रहे हैं। अपठित वेद श्रद्धालु इस को समझते नहीं हैं।

महर्षि ने चारों वेदों के जब विषय सब मन्त्रों के लिख दिये तो चारों वेदों का भाष्य हो गया। इस कारण हम महर्षि को चतुर्वेदभाष्यकार कह सकते हैं। क्योंकि मन्त्रों में किस विषय का वर्णन है यह ऋषि ही जान सकते हैं जैसा कि लिखा है कि—

नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। (निरुक्त १३। १२।।)

अर्थात्—वेद मन्त्रों में क्या लिखा है इसका प्रत्यक्ष ऋषि को ही होता है। विषय ज्ञान हो जाने पर तो हम आचार्य लोग भी भाष्य कर सकते हैं। पर आश्चय

का विषय है कि चतुर्वेद विषय सूची छप जाने पर भी आधुनिक वेदभाष्यकण्डूति वाले उस को अब भी नहीं देखते हैं। जो वेदभाष्य आजकल चारों वेदों के पूर्ण किये जा रहे हैं शताब्दी के नाम पर। एक उदाहरण देता हूँ—

ऋग्वेद में एक मन्त्र है—"सुत्रामाणं पृथिवीं०" ऋ० १० । ६३ । १० ॥ यह मन्त्र संस्कारविधि स्वस्तिवाचन प्रकरण में है। इस पर ऋषि का भाष्य नहीं है। अत: इस मन्त्र में जिस दैवी नौका का वर्णन है उस के नाना काल्पनिक अर्थ आजकल के आर्यविद्वान् कर रहे हैं। कोई अर्थ करता है। दैवी नौका=मानवतनू। कोई कहता है दैवी नौका=मुक्तिरूपी नौका इत्यादि अर्थ बिना चतुर्वेद विषय सूची को देखे हो रहे हैं। महर्षि ने इसका देवता यज्ञ लिखा है और यज्ञ के प्रकरण में ही संस्कारविधि में रखा है। प्राचीन ऋषियों ने भी दैवी नौका यज्ञ को माना है।

दैवीह्येषा नौर्यद् यज्ञः। (जे० ब्रा० १ । १६६ ॥)

अर्थात् दैवी नौका यज्ञ है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने सब प्राचीन ऋषियों को पढ़ा था तथा उनकी आर्षदृष्टि स्वयं भी थी। आर्य विद्वान् बहाना टरति है कि मन्त्र के अनेक अर्थ होते है अत: यह भी एक अर्थ हमारा सही। मैं उनसे पूछता हूं परमात्मा ने जो २०३४६ मन्त्रों की रचना की है यह व्यर्थ है क्योंकि एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ कर लिये जावेंगे फिर बस एक मन्त्र ही पर्याप्त था।

ऋषि लोग अपने काल की समाप्ति पर तर्क ऋषि दे गये हैं उससे भी सोचकर देखलो नौका पर बैठ कर कहीं पार जाया जाता है। नौका में ही नहीं बैठा रहा जाता है। यदि दैवी नौका मोक्ष है तो उस में बैठ कर और आगे कहां जाओगे प्राचीन ऋषियों ने इस दैवी नौका के अरित्र आदि सबका वर्णन किया है काल्पनिक मानवी तनु आदि अर्थ में सबके काल्पनिक अर्थ करने पड़ेंगे। एक असत्य को छिपाने के लिये सौ असत्य बोलने पड़ते हैं। विस्तृत अर्थ इस मन्त्र का हमारे संस्कारविधिमहाभाष्य में देखो।

अत: अब इन सब अनार्ष और अनार्य वेदभाष्यों को फेंककर चतुर्वेदविषयसूची के आधार पर वेदभाष्य आर्यसमाज की इस दूसरी शताब्दी में होने चाहिये। :यह चतुर्वेदविषयसूची अमूल्य ग्रन्थ रत्न है।

(छन्दो मीमांसा)

महर्षि ने मन्त्रों के छन्दों के सम्बन्ध में लिखा है कि—जिस जिस मन्त्र का जो गायत्री आदि छन्द है उसके ज्ञान के लिये मन्त्रों के छन्द लिखे हैं। कात्यायन ने भी लिखा है कि—अक्षरों का परिमाण छन्द है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८३ पर देखो।

आदौ गायत्रं प्राग्हैरण्यस्तूपात्। (ऋ० स० १२ । १४ ॥)

अर्थात्—ऋग्वेद के आरम्भिक सूक्तों का गायत्री छन्द है। 'त्वमग्ने ऋ० १ । ३१ ।।) हिरण्यस्तूप ऋषि वाले से पूर्व पूर्व। उनमें भी जहां विशेष छन्द दिखाया है वहां वही छन्द होगा। जैसे—

गायन्ति द्वादशानुष्टुभं तु । (ऋ० सर्वानु० १ । १० ।।)

अर्थात्—**गायन्ति त्वा गायत्रिणो०** (ऋ० १ । १० ।।) इस सूक्त में १२ ऋचा हैं और अनुष्टुप् छन्द है । यहां अनुष्टुप् छन्द है गायत्री नहीं । उपर्युक्त परिभाषा से **'अग्निमीळे०'** मन्त्र में गायत्री छन्द है । और यहां त्रिपदा गायत्री है। कात्यायन ने लिखा है कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का त्रिपदा गायत्री छन्द है । और जहां अक्षर संख्या न बताई जावे वहां आठ आठ अक्षर का पाद जानो यह सर्वानुक्रमणी की परिभाषा है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य ने भी लिखा है कि आर्ष छन्द गायत्री दो प्रकार का है या तो आठ अक्षर वाले तीन पाद या छै अक्षर वाले चार पाद की गायत्री होती है तदनुसार यहां आठ अक्षर वाले तीन पाद वाली गायत्री है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८३ पर देखो।

लौकिक साहित्य में भिन्न भिन्न विषय में भिन्न भिन्न छन्द होते हैं। जैसे करुणारस वैतालीय छन्द या मन्दाक्रान्ता छन्द में वर्णित किया जाता है। तोटक दोधक आदि छन्दों में करुणा रस नहीं लिखा जा सकता। इसी प्रकार शान्ति उपदेश में अनुष्टुप् छन्द, चन्द्रोदयादि के वर्णन में रथोद्धता छन्द, राजनीति में वंशस्थ छन्द, वीर और रौद्र रस में बसन्ततिलका छन्द, क्रोध और धिक्कार में पृथिवी छन्द, वर्षा प्रवास दुःख में मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओं की स्तुति में शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रशस्त है। विस्तृत वर्णन संस्कृत में पृष्ठ २८४ पर देखो। मन्त्रों को छन्दों रचना पर तथा एकाक्षरादि न्यून अधिक पर विस्तृत विवेचन आवश्यक है। छन्दों के देवता वर्ण गोत्र आदि विषय भी विवेचनीय हैं। वैदिक निधि अपार है। वैदिक छन्द भी लौकिक छन्दों के समान अर्थसापेक्ष हैं। इस पर भी विश्वप्रदीप में लिखा जावेगा। छन्दों की पाद रचना भी अर्थानुसारिणी है जैसा जैमिनि ने लिखा है कि—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । (मीमांसा २ । १ । ३५ ।।)

अर्थात्—जिनमें अर्थ के अनुसार पाद रचना हो वे ऋचाएं कहाती हैं। **'अग्निः पूर्वेभि०'** मन्त्र के सम्बन्ध में शवर का कथन युक्तिसंगत नहीं है । अतः महर्षि ने 'अग्नि। पूर्वेभि०' मन्त्र में द्वितीय पादगत 'नूतनैः' शब्द की स्वतन्त्र व्याख्या की है और इसी लिये—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः देवेभिरग्न आ गहि ॥
(ऋ० १ । १४ । २ ।।)

यहां **गृणन्ति** पद में उदात्त इसी लिये है।

किसी भी छन्द में एक अक्षर कम हो तो उसे निचृत् कहते हैं। दो अक्षर कम हों तो उस की विराट् संज्ञा है। इसी प्रकार छन्द में एक अक्षर अधिक हो तो उस की भुरिक् संज्ञा है। और दो अक्षर अधिक हों तो उस की संज्ञा स्वराट् है।

(द्र० पिङ्गल ३ । ५९ । ६० ॥)

इस प्रथम सूक्त में द्वितीय ऋचा निचृत् गायत्री है। अष्टमी और नवमी ऋचा विराट् गायत्री हैं।

तीन पाद वाले मन्त्र में पहले और अन्तिम पाद में अधिक अक्षर हों और मध्य के पाद में अक्षर कम हों तो उस को पिपीलिकामध्या कहते हैं। और यदि पहला और अन्तिम पाद कम अक्षर वाला हो तथा मध्यम पाद में अधिक अक्षर हों तो उस को यवमध्या कहते हैं।　　(द्र० पिङ्गल ३ । ५७, ५८ ॥)

इस सूक्त में द्वितीय ऋचा पिपीलिकामध्या गायत्री है। अष्टमी ऋचा यवमध्या गायत्री है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और कात्यायन सामान्य रूप से 'गायत्री' इतना ही कहते हैं।

इस सबकी पूर्ण स्थिति इस प्रकार है।

ऋचाओं की पाद रचना अर्थानुसारिणी है। इस विषय में भाष्यकारों का मत इस प्रकार है—

१—पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः।

(वेङ्कट माधव छन्दो ऽनुक्रमणी)

अर्थात्—पाद पाद में अवान्तर अर्थ पूरे कहे जाते हैं।

२—प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः॥
छन्दो ऽनुक्रमणी तस्माद् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकयापरैः॥

(माधव कृत आख्यातानुक्रमणी का उपोद्घात[१])

१—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित ग्रन्थ सं० २ ऋग्वेदानुक्रमणी का परिशिष्ट पृष्ठ C IX (१०९)

अर्थात्—प्रत्येक पाद में अवान्तर अर्थ कुछ होते हैं । बुद्धि से विचारित समुदायार्थ ही पूर्ण ऋचा का अर्थ होता है । अतः छन्दो ऽनुक्रमणी सूक्ष्म अर्थ चाहने वालों के लिये आवश्यक है ।

३—ऋगर्थः प्रतिपादं च कश्चित् कश्चिदवान्तरः ।
तेषामवान्तरार्थानां सिद्धो मन्त्रार्थ इष्यते ॥

(माधव[1])

अर्थात्—प्रतिपाद ऋचा में अर्थ विशेष होता है । अवान्तर अर्थों का सिद्ध अर्थ मन्त्रार्थ माना जाता है ।

४—सायण ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में यह स्वीकार करके भी कि छन्दों का ज्ञान वेदार्थ में उपयोगी है सिद्ध नहीं किया । तथा स्कन्द स्वामी ने छन्द ज्ञान को वेदार्थ में आवश्यक नहीं बताया उस का कहना है कि—

तत्रार्षदैवतयोरर्थविबोधन उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते ।
न छन्दः अनुपयुज्यमानत्वात् ॥

(स्कन्द ऋ० भाष्य के आरम्भ में)

अर्थात् मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में ऋषि देवता आवश्यक हैं पर छन्द का अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं अतः ऋषि देवता दिखाये जावेंगे । छन्द नहीं ।

५—इसका खण्डन जयतीर्थ करता है कि—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति ।

(मध्वरचित ऋग्भाष्य की टीका)

अर्थात्—छन्दों का ज्ञान वेदार्थ में उपयुक्त नहीं यह मत अशुद्ध है । पर जयतीर्थ सायण के समान इस को सिद्ध नहीं कर सका ।

जहां अर्थ के कारण पाद व्यवस्था होती है वह ऋचा कहाती है । मीमांसा के इस सूत्र २ । १ । ३५ की व्याख्या में शबर स्वामी लिखता है कि यह प्रायिक है कहीं-कहीं छन्दों के अक्षरों के दृष्टिकोण से भी पाद व्यवस्था होती है । यह शबर का कथन ठीक नहीं है । ऐसा ही शाबरभाष्य का व्याख्याता कुमारिल भट्ट मानता है कि—

१—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित ग्रन्थ सं० २ ऋग्वेदानुक्रमणी का परिशिष्ट पृष्ठ C VII (१०७) ।

एतस्य तु प्रदर्शनार्थत्वात् न वृत्तवशव्याप्तिरिति ।

अर्थात्—अर्थानुसारिणी पादव्यवस्था वाली ऋचा होती है यह प्रदर्शनमात्र है। जहां वृत्त के कारण पादव्यवस्था है वह भी ऋचा है। उनका अभिप्राय यह है कि—

"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः, ईड्यो नूतनैरुत"

यहां पूर्व पाद में अर्थसमाप्ति नहीं है क्योंकि क्रिया दूसरे पाद में है। पर इस सम्बन्ध में निदान सूत्रकार का कहना है कि—

अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति ।
आचतुरक्षरताया इत्येके । आदशाक्षरतायाः अभिक्रामति ।।

(निदान सूत्र पृष्ठ १)

अर्थात्—प्रत्येक छन्द पांच या चार अक्षर तक न्यून किया जा सकता है और दश अक्षर तक बढ़ाया जा सकता है।

इस परिभाषा के अनुसार—

"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः", यह प्रथम पाद होगा और **"नूतनैरुत"** यह दूसरा पाद होगा।

अर्थात्—प्रथम पाद आठ अक्षर के स्थान पर १० अक्षर का हो जायेगा और दूसरा पाद दो अक्षर न्यून होकर पांच अक्षर का बनेगा। एकाक्षर न्यूनता निचृत् के कारण है ही। अतः ऋषि दयानन्द सरस्वतीजी ने इसी लिये—

(नूतनैः) वेदार्थाध्येतृभिः ब्रह्मचारिभिः तर्कैः, कार्यस्थैर्विद्यमानैः प्राणैर्वा ।

ऐसा स्वतन्त्र अर्थ किया है।

पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः ।

यह जैमिनि न्यायामाला का मत है। इसके अतिरिक्त यह भी समझो कि व्याकरणादि में जो नियम बनाये जाते हैं वे भी भाषा की व्यावहारिकता को देखकर बताये जाते हैं। भाषा पहले है व्याकरण बाद में है।

"आ त्वा कण्वाः" मन्त्र में तीन क्रियायें हैं अहूषत, गृणन्ति और आ गहि। इनमें अहूषत और गहि निघात हैं पर गृणन्ति उदात्त है। द्वितीय पाद के अर्थ की प्रधानता है क्योंकि हम स्तुति करते हैं अतः स्तुति के अधीन बुलाना और आना है। प्रधान वाक्य जिस में गृणन्ति है वह उदात्तवान् है।

एक विशेष उदाहरण—

गूहता गुह्यं, तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि।

ऋ० १।८६।१०॥

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में—

गूहत गुह्यम् यह एक पाद है। तथा दूसरा पाद **"तमो वि यात विश्वमत्रिणम्"** है। प्रथम पाद में सात अक्षर के स्थान पर निचृत्[1] के कारण निदानसूत्र की परिभाषा के अनुसार दो अक्षर कम करके प्रथम पाद पांच अक्षर का है और दूसरा पाद आठ अक्षर के स्थान पर दो अक्षर बढ़ा कर दश अक्षर वाला है। उसके अनुसार ऋषि का अर्थ है—(गुह्यम) गुप्त करने योग्य व्यवहार को (गूहत) ढांपो। यह सभाध्यक्षादि का कर्त्तव्य है तथा (विश्वम्) समस्त (तमः) अविद्या रूपी अन्धकार को जो कि (अत्रिणम्) उत्तम सुख का विनाश करने वाला राक्षस रूप है उसको (वि यात) दूर पहुंचाओ। तथा हम लोग (यत्) जो (ज्योतिः) विद्या के प्रकाश को (उश्मसि) चाहते हैं उसको (कर्त) प्रकट करो। **(गूहता कर्ता** इत्यत्र सांहितिको दीर्घः)।

पर सायणाचार्य इसको न समझ कर अर्थ करता है कि—

हे मरुतों (गुह्यं) गुहा में स्थित (तमः) अन्धकार को (गूहत) ढांपो और (विश्वम्) सब (अत्रिणम्) नाशक राक्षसादि को (वि यात) हमारे संमुख से हटाओ (यत् ज्योतिः) जिस सूर्यादि को हम (उश्मसि) चाहते हैं उसको (कर्त) करो।

सायण का अन्वय है—

गुह्यं तमो गूहत। विश्वम् अत्रिणम् वियात। पर महर्षि का अन्वय है **गुह्यं गूहत। विश्वं तमो ऽत्रिणं वि यात।**

अत्रिणम्—राक्षसरूप। "अत्रिणो वै रक्षांसि पाप्मानो ऽत्रिणः प० ब्रा० ३।१॥ **रक्षांसि वै पाप्मा ऽत्रिणः।** ऐ० ब्रा० २।२।" **राक्षसाः परसुख-**

१—एक अक्षर कम होने पर वह छन्द निचृत् कहाता है।

स्याचारः । अदन्तीति अचारः । 'अदेस्त्रिनिश्च' उणा० ४ । ६८ । इति अद् धातोः त्रिनि त्रिप् च भवतः । अद् + त्रिन् = अत्रिन् । अत्रिणमिति पुंसि द्वितीयैकवचनम् । त्रिप् प्रत्यये अत्रिः ऋषिः । इति महर्षि संपादिते वेदाङ्गप्रकाश उणादिकोषे । तथैव सायणः तत्त्वबोधिनीकारश्च वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याम् । उज्ज्वलदत्तः, प्रक्रियासर्वस्वकारो नारायणः, श्वेतवनवासी च 'अदेस्त्रिन्' इति पठन्ति । अत्रिः ऋषिरिति केवलम् । दशपाद्युणादिवृत्तौ तु 'अदेस्त्रिनिच्च' इति पाठः । तत्र त्रिनिच् इत्यत्र चकारो व्यर्थः । त्रिन् इति नकारन्ते प्रत्यये प्रत्यय-स्वरेणैवान्तोदात्तत्वात् । चितो ऽन्तोदात्त इति पिष्टपेषणम् । गोवर्धनस्तु 'अदेस्त्रिन् निच्च' इति पठति । तत्र नित्वादाद्युदात्तः स्यात् । अत्रिन् शब्दस्तु अन्तोदात्तो वेदे । अतः आह पेरुः सूरिरौणादिकपदार्णवे 'अदेस्त्रिन् इति अदेस्त्रिन् निच्च इति पाठौ त्वनाकरौ ।

छन्दों की अक्षर गणना इस प्रकार है । गायत्री छन्द २४ अक्षर का होता है । उष्णिक् छन्द २८ अक्षर का होता है । इस प्रकार क्रमशः आगे आने वाले छन्दों में चार चार अक्षर बढ़ाते जाओ । प्रथम सप्तक ४८ अक्षर पर समाप्त होता है । द्वितीय सप्तक ५२ अक्षर से प्रारम्भ होकर ७६ अक्षर तक जाता है और तृतीय सप्तक ८० अक्षर से प्रारम्भ होकर १०४ अक्षर तक चलता है । इसके आगे प्रगाथ कहाते हैं ।

(षड्ज आदि स्वर व्यवस्था)

इस सूक्त में षड्ज स्वर ऋषि ने लिखा है । अभिप्राय यह है कि यह मन्त्र षड्ज स्वर पर गाना चाहिये । महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि—

कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जानने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं । जैसे गायत्री छन्द वाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये । ऐसे ही और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों । इसी लिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ।

(ऋ० भा० भू० श० सं० पृष्ठ ६६१-६६२ ॥)

इस की व्यवस्था इस प्रकार समझो—

१–षड्ज । २–ऋषभ । ३–गान्धार । ४–मध्यम । ५–पञ्चम । ६–धैवत । ७–निषाद ।

ये सात स्वर हैं। इसी प्रकार छन्द भी सात हैं—

१–गायत्री। २–उष्णिक्। ३–अनुष्टुप्। ४–बृहती। ५–पङ्क्ति। ६–त्रिष्टुप्। ७–जगती।

ऐसा ही पिङ्गल तथा वेदाङ्गछन्दोग्रन्थ में लिखा है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८६ पर देखो। हलायुध ने पिङ्गल सूत्र ३। ६४ की व्याख्या में लिखा हैं कि—

षडजर्षभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः।

(हलायुध ३। ६४॥)

अर्थात्—गायत्री षड्ज स्वर में, उष्णिक् ऋषभस्वर में अनुष्टुप् गान्धार स्वर में, बृहती मध्यम स्वर में, पङ्क्ति पञ्चम स्वर में, त्रिष्टुप् धैवत स्वर में, और जगती निषाद स्वर में गानी चाहिये।

छन्दों के तीन सप्तक हैं उनमें से प्रथम सप्तक गायत्री आदि का है। दूसरा सप्तक—

१–अतिजगती। २–शक्वरी। ३–अतिशक्वरी। ४–अष्टि। ५–अत्यष्टि। ६–धृति। ७–अतिधृति।

इनके भी क्रमशः षड्ज आदि स्वर होते हैं।

तीसरा सप्तक इस प्रकार है—

१–कृति। २–प्रकृति। ३–आकृति। ४–विकृति। ५–संस्कृति। ६–अभिकृतिः। ७–उत्कृतिः।

इन छन्दों के अन्य नाम निदान सूत्र में इस प्रकार हैं—

१–सिन्धु। २–सलिलम्। ३–अम्भः। ४–गगनम्। ५–अर्णवः। ६–आपः। ७–समुद्रः।

महर्षिनिर्मित छन्दः सूची अभी परोपकारिणी सभा के संग्रह में ही अमुद्रित पड़ी है अतः तृतीय सप्तक के स्वर विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस समय महर्षि के हस्तलेखों में ढूंढने पर मुझे नहीं मिली अतः मैं उस को देख न सका इस से

पूर्व मैंने स्वयं देखी थी । वेङ्कट माधव ने इन छन्दों के सम्बन्ध में लिखा है कि गायत्री आदि १४ छन्द ऋग्वेद में होते हैं। तृतीय सप्तक के छन्द अन्य वेद में है । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८७ पर देखो ।

भरत ने भी अपने नाटयशास्त्र में इन्हीं सात षड्ज आदि स्वरों का वर्णन किया है । संस्कृत प्रमाण पृष्ट २८८ पर देखो ।

नारद ने षड्ज आदि स्वरों के लक्षण लिखे हैं कि—

मोर षड्ज स्वर बोलता है । बैल ऋषभस्वर उच्चारण करता है, बकरी गान्धार स्वर को, क्रौञ्ची मध्यमस्वर को, कोइल पुष्पोद्गम समय में पञ्चमस्वर को, घोड़ा धैवतस्वर को और हाथी निषादस्वर को उच्चारण करता है । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८८ पर देखो ।

(स्वर का लक्षण)

स्वरयति मनांसीह श्रोतृणां स्वार्थतो यतः ।
षड्जादिकाः स्वरास्तेन ते च साध्यक्षराभिधाः ॥

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

अर्थात्—श्रोताओ के मनों को आकृष्ट करने वाले स्वर कहाते हैं ।

(षड्जस्वर का लक्षण)

छे स्थानों से जो उच्चारण किया जावे उसको षड्जस्वर कहते है वे स्थान ये है—

१—नासिका, २—कण्ठ, ३—वक्षस्थल ४—तालु, ५—जिह्वा, ६—दन्त ।

इन छे स्थानों से षड्जस्वर उन्पन्न होता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८८ पर देखो । अन्य स्वरों के उत्पत्ति स्थान इस प्रकार है—

कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः शिरसस्त्वृषभः स्मृतः ।
गान्धारस्त्वानुनासिक्य उरसो मध्यमः स्वरः ॥
उरसः शिरसः कण्ठादुत्थितः पञ्चमः स्वरः ।
ललाटाद् धैवतं विद्यान् निषादं सर्वसन्धिजम् ॥

(नारदीय शिक्षा)

अर्थात्—कण्ठ से षड्ज उत्पन्न होता है, शिर से ऋषभ स्वर निकलता है, गान्धार स्वर अनुनासिक है, वक्षस्थल से मध्यम स्वर की उत्पत्ति है, वक्षस्थल, शिर और कण्ठ ये पञ्चम स्वर के उत्पत्ति स्थान हैं। इसी प्रकार ललाट से धैवत और सब सन्धि स्थलों से उत्पन्न निषाद को जानो। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

निषीदन्ति स्वरा यत्र तं निषादं बुधा जगुः।
योगरूढिवशादेते न नियोज्या निरुक्तितः॥
मन्द्रं मध्यं च तारं च तेषां स्थानं त्रिधा मतम्।
स्वरा अपि त्रिधा तेन भिद्यन्ते स्थानभेदतः॥

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

(षड्ज आदि स्वरों का विवेचन)

शब्द और अर्थ आकाश के समान व्यापक होने से कूटस्थ हैं। षड्ज आदि का नाम स्वर इस लिये है क्योंकि ये षड्ज आदि आकाश में स्वयं विराजमान रहते हैं। स्व (स्वयं) रा (राजमान) होने से स्वर कहाते हैं। इन षड्ज आदि सात स्वरों में दो स्वर षड्ज और पञ्चम अचल हैं। पञ्चम की षड्ज ही प्रकृति है तथा अन्य स्वरों ऋषभ गान्धार मध्यम धैवत निषाद की भी षड्ज ही प्रकृति है। इन स्वरों में पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग भाव होता है। पूर्वाङ्ग में षड्ज ही अचल होता है क्योंकि षड्ज से ही आरम्भ होता है। उत्तराङ्ग में पञ्चम अचल होता है क्योंकि पञ्चम से प्रारम्भ होता है। पूर्वाङ्ग उत्तराङ्ग में जिस स्वर की प्रथम स्थापना होती है वह ही कूटस्थ होता है। अन्य स्वर विवादी और संवादी होते हैं। इन स्वरों की अनेक श्रुतियां होती हैं।

भरत नाटयशास्त्र में २२ श्रुतियां बताई हैं। उनमें षड्ज मध्यम और पञ्चम स्वर में चार चार श्रुतियां होती है। निषाद और गान्धार स्वर में दो दो श्रुतियां होती हैं। ऋषभ और धैवत में तीन तीन श्रुतियां होती है। उन के नाम प्रकार हैं—

१–तीव्रा। २–कुमुद्वती। ३–मन्द्रा। ४–छन्दोवती।
ये चार षड्ज की श्रुतियां हैं।

५–दयावती। ६–रञ्जनी। ७ रक्तिका।
ये तीन ऋषभ की श्रुतियां हैं।

८–रौद्री। ९– क्रोधा।
ये दो गान्धार की श्रुतियां हैं।

१०–वज्रिका । ११–प्रसारिणी । १२–प्रीति । १३–मार्जनी ।
ये चार मध्यम की श्रुतियां हैं ।

१४–क्षिति । १५–रक्ता । १६–संदीपिनी । १७–आलापिनी ।
ये चार पञ्चम की श्रुतियां हैं ।

१८–मदन्ती । १९–रोहिणी । २०–रम्या ।
ये तीन धैवत की श्रुतियां हैं ।

२१–उग्रा । २२–क्षोभिणी ।
ये दो निषाद की श्रुतियां हैं ।

इन्हीं श्रुतियों के अन्य नाम इस प्रकार हैं—

१–नान्दी । २–चालनिका । ३–रसा । ४–सुमुखी । ५–चित्रा । ६–विचित्रा । ७–घना । ८–मातङ्गी । ९–सरसा । १०–अमृता । ११–मधुकरी । १२–मैत्री । १३–शिवा । १४–माधवी । १५–वाला । १६–शार्ङ्गरवी । १७–कला । १८–कलरवा । १९–माला । २०–विशाला । २१–जया । २२–मात्रा । संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २९० पर देखो ।

द्वाविंशतिविधो मन्द्रो नादः संजायते हृदि ।
यथोत्तरमसौ तारः पूर्वपूर्वाभिकाङ्क्षया ॥
ध्वनिः संजायते देहे वीणायां तद् विपर्ययात् ।
स एव द्विगुणो मध्यः कण्ठस्थाने यथाक्रमम् ॥
स एव मस्तके तारः स्यात् मध्याद् द्विगुणः क्रमात् ।
त एव ध्वनयस्तत्र श्रवणात् श्रुतिसंज्ञकाः ।
शृणोतेः श्रवणार्थस्य भावे क्तिप्रत्यये श्रुतिः ।
श्रूयन्ते इति वा कर्मसाधनो ऽप्ययमिहेष्यताम् ।
श्लिष्टा सुषुम्णया नाड्यो हृदि द्वाविंशतिः स्थिताः ।
तिरश्चीनास्तथा कण्ठे तावत्यश्चैव मूर्धनि ।
मरुदाहतितस्तासु जायन्ते ये पृथक् स्वनाः ।

त एव श्रुतयस्तत्र स्वराभिव्यक्तिहेतवः ।
ऊर्ध्वंमुद्यन् हृदाकाशे पूर्यते प्रेरितो ध्वनिः ।
नानास्थानोपाधिभेदाद् यो नाना प्रतिभासते ।
तं मतङ्गः श्रुतिं प्राह मेघे हर्षति रश्मिवत् ।
षड्जे कान्ता प्रभावत्यौ सिद्धिश्चैव तु सुप्रभा ।
उग्रा शिखा च दीप्ता च स्युरेता ऋषभानुगा ।।
निर्हृतिह्लादिनीति द्वे गान्धारे वसतः श्रुती ।
क्षान्तिः सर्वसहा धीरा विभूतिर्मध्यमे स्थिताः ।।
मालिनी चपला लीला तथा रत्नप्रभावती ।
चतस्रः पञ्चमे ज्ञेया धैवतश्रुतयः पुनः ।
विकल्पिनी च शान्ता च हृदयोन्मूलिनी तथा ।
विस्तारिणी प्रसक्ता च निषादस्य श्रुती उभे ।

(नृपति कुम्भकर्ण प्रणीत संगीतराज)

अर्थात्—नृपति कुम्भकर्ण का दृष्टिकोण यह है कि सुषुम्णा नाडी से मिली हुई हृदय में २२ नाडियां हैं। वायु के आघात से इन २२ पर जो ध्वनियां पृथक् पृथक् होती हैं जैसे मेघ के गरजने पर बिजली की किरणों का कम्पन। वे ही श्रुति कहाती हैं। इन २२ ध्वनियों का ज्ञान अतिनिपुण गायनाचार्य को ही हो सकता है। उन २२ श्रुतियों के नाम पूर्व बताये जा चुके हैं। कुम्भकर्ण इन के अन्य नाम लिखता है जो इस प्रकार हैं—

१–षड्ज की चार श्रुतियों के नाम—

कान्ता, प्रभावती, सिद्धि, सुप्रभा।

२–ऋषभ की तीन श्रुतियों के नाम—

उग्रा, शिखा, दीप्ता।

३–गान्धार की दो श्रुतियों के नाम—

निर्हृति, ह्लादिनी।

४—मध्यम स्वर की चार श्रुतियों के नाम—

क्षान्ति, सर्वसहा, घोरा, विभूति ।

५—पञ्चम की चार श्रुतियों के नाम—

मालिनी, चपला, लीला, रत्नप्रभावती ।

६—धैवत की तीन श्रुतियों के नाम—

विकल्पिनी, शान्ता, हृदयोन्मूलिनी ।

७—निषाद की दो श्रुतियों के नाम—

विस्तारिणी, प्रसक्ता ।

दो प्रकार के नाम पूर्व लिखे जा चुके हैं ।

१—षड्जस्य लक्षणादिकम्—

इसकी व्युत्पत्ति और उच्चारण स्थान पूर्व बताया जा चुका है ।

अस्यैकस्तालः । अस्याष्टौ भेदा भवन्ति अस्यार्च्चिकं नाम । अर्थात् एकस्वरमिलितः । सर्वस्वरापेक्षया क्षुद्रस्वरो ऽयम् ।

२ ऋषभस्य लक्षणादिकम्—

नाभिमूलाद् यदा वर्ण उत्थितः कुरुते ध्वनिम् ।
वृषभस्येव निर्याति हेलया ऋषभः स्मृतः ॥

(इति संगीत दामोदरः)

नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः ।
ऋषभस्येव नादं यद् तस्माद् ऋषभ ईरितः ॥

(इति संगीत समयसार)

३ गान्धारस्य लक्षणादिकम्—

वायुः समुद्गतो नाभेः कण्ठशीर्षसमाहतः ।
नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना ॥

(इति भरतः)

अपि च

नाभेः समुद्गतो वायुर्गन्धं श्रोत्रे च चालयन् ।
सशब्दस्तेन निर्याति गान्धारस्तेन कथ्यते ॥

करुणारस एवास्योपयोगित्वम् । गन्ध एव गान्धः स्वार्थे ऽण् । गान्धं ऋच्छतीति गान्धारः । कर्मण्यण् ।

४ मध्यमस्य लक्षणादिकम्—

सप्तस्वराणां मध्ये स्थितः अतो ऽयं मध्यमः । अस्य तानाः चतुर्विंशतिः । तेषां प्रत्येकं द्वात्रिंशद् भेदेन ७६८ भवन्ति ।

५ पञ्चमस्य लक्षणादिकम्—

पञ्चमानां स्वराणां पूरणः पञ्चमः ।

वायुः समुद्गतो नाभेः उरोहृत्कण्ठमूर्धसु ।
विचरन् पञ्चस्थानप्राप्त्या पञ्चम उच्यते ॥
प्राणो ऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
एतेषां समुदायेन जायेत पञ्चमः स्वरः ॥

(इति संगीत दामोदरः)

अस्योच्चारणजातिः पिकः । अस्य कूटतानाः विंशत्यधिकशतम् १२० । प्रत्येकताने चत्वारिंशत् ४० । समुदायेन चतुःसहस्राष्ट शतानि ४८०० ताना भवन्ति ।

६ धैवतस्य लक्षणादिकम्—

गत्वा नाभेरधोभागं वस्तिं प्राप्योर्ध्वगः पुनः ।
धावन्निव च यो याति कण्ठदेशं स धैवतः ॥

धीमतामयं धैवतः । धीमन् + अण् । पृषोदरादित्वात् मस्य वः । तानसेनमते भेकस्वरतुल्यः । अस्य तानाः ७२० । प्रत्येकतानम् ४८ । समुदायेन ३४५६० भवन्ति ।

७ निषादस्य लक्षणादिकम्—

इसका लक्षण पूर्व बताया जा चुका है ।

निषीदन्ति स्वराः इत्यादि । नारदमते हस्तिस्वरतुल्यः । अस्य ताना कूटतानाः ५०४० । प्रत्येकतानम् ५६ । समुदायेन २८२२४० भवन्ति ।

तानलक्षणम्—

विस्तार्यन्ते प्रयोगा यैर्मूर्च्छनाशेषसंश्रयाः ।
तानास्ते ऽप्यूनपञ्चाशत् सप्तस्वरसमुद्भवाः ।
तेभ्य एव भवन्त्यन्ये कूटतानाः पृथक् पृथक् ।
ते स्युः पञ्चसहस्राणि त्रयास्त्रिंशतच्छतानि च ।

(इति संगीत दामोदर)

अर्थात्—षड्जः=छै स्थानों से उत्पन्न । ऋषभः—बैल के समान स्वर । गान्धारः=गन्ध को धारण करने वाला । मध्यमः=सातों स्वरों के मध्य में स्थित । पञ्चमः=पांच प्राणों से उत्पन्न या सात स्वरों में पांचवां । धैवत=कण्ठदेश को दौड़ता जो स्वर आता है । निषाद=जिस में सातों स्वर स्थित होते हैं ।

वेदों से सप्त स्वरों की उत्पत्ति ।

ऋग्वेदात् षड्जऋषभौ यजुषो मध्यमधैवतौ ।
सामवेदात् समुद्भूतौ तथा गान्धारपञ्चमौ ।।

(इति रत्नावली)

संस्कृत भाग स्पष्ट है ।

(स्वरों की उदात्तादि व्यवस्था)

निषाद और गान्धार स्वर उदात्त से गाये जाते हैं।

ऋषभ और धैवत स्वर अनुदात्त से गाये जाते हैं।

षड्ज मध्यम और पञ्चम स्वर स्वरित से गाये जाते हैं।
इन सब के संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २८९ से २९५ तक देखो। और चित्र पृष्ठ २९० पर देखो।

इन सब का विशेष वर्णन विश्वप्रदीप में लिखा जावेगा। परिशिष्ट में भी इन की व्यवस्था बताई जावेगी।

(अवग्रहादि विचार)

मन्त्रपाठ को संहिता पाठ कहते हैं। इसी का नाम निर्भुज संहिता है। मन्त्रों के पदों को अलग करने का नाम पदपाठ है। इसी को प्रतृण्ण संहिता भी कहते हैं। जैसे—

संहितापाठ—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्।

पदपाठ—

अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रःऽहि॑तम्। य॒ज्ञस्य॑। दे॒वम्। ऋ॒त्विज॑म्। होता॑रम्। र॒त्न॒ऽधात॑मम्।

पदपाठ में दो मिले हुए (समस्त) पदों के बीच में ऽ इस प्रकार का चिह्न डाला जाता है। इसको अवग्रह कहते हैं। जैसे—**पुरः ऽ हितम्**। इन दोनों पदों में एक मात्रा काल व्यवधान माना जाता। हाथ की नाडी जितनी देर में एक वार चलती है उसको एक मात्रा काल कहते हैं। यही ह्रस्व का उच्चारण काल है। दीर्घ अक्षर को दो मात्रा काल में वोलते हैं। अर्थात् जितनी देर में नाडी दो बार चले वह दीर्घ अक्षर का उच्चारण काल है। इसी प्रकार प्लुत अक्षर तीन मात्रा काल में बोला जाता है अर्थात् जितनी देर में नाडी तीन बार धड़के। ओ३म् को केवल तीन मात्रा काल में बोले। इस से अधिक नहीं।

(उदात्त अनुदात्त स्वरित चिह्न व्यवस्था)

उदात्त आदि स्वरों का साधारण नियम यह है कि—

उदात्त अक्षर पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। जैसे—**क**

अनुदात्त अक्षर पर नीचे रेखा डाली जाती है। जैसे—**क॒**

स्वरित अक्षर पर ऊपर खड़ी रेखा डालते हैं। जैसे—**क॑**

उदात्त के आगे जो अनुदात्त होता है वह स्वरित हो जाता है। जैसे—**विश्व॒नि** के स्थान पर **विश्वा॑नि** हो जावेगा और स्वरित के आगे जो अनुदात्त होता है उस को प्रचय हो जाता है इसी को एक श्रुति कहते हैं। जैसे—**विश्वा॒नि** यहां वि उदात्त से आगे के अनुदात्त को स्वरित हुआ उस स्वरित से अगले अनुदात्त को प्रचय हुआ। एकश्रुति या प्रचय पर भी कोई चिह्न नहीं लगाया जाता जैसे उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। स्वरित के बाद जो बिना रेखा चिह्न के अक्षर हों उन खाली अक्षरों को प्रचय समझो अर्थात् ये भी स्वरित ही हैं। परन्तु शब्द के आरम्भ में या अनुदात्त के बाद जो स्वर चिह्न रेखा रहित खाली अक्षर है उस को उदात्त जानो। जिस पद में सब अक्षर अनुदात्त ही होते हैं उस को निघात कहते है।

तैत्तिरीय संहिता में पदपाठ के समय दो पदों के बीच एक मात्रा काल व्यवधान होने से उदात्त के आगे वाले अनुदात्त को स्वरित और प्रचय नहीं होता है। जैसे—

प्र॒जाव॑ती॒रिति॑—प्र॒जाऽव॒ती॒ः। यहां 'जा' उदात्त से आगे के अनुदात्तों **व॒ती॒** को स्वरित और प्रचय नहीं हूआ।

यजुर्वेद की संहिताओं में जब पदपाठ करते है तब समस्त पदों को दो बार लिखते हैं और दोनों के बीच में इति और जोड़ देते हैं जैसे—**"प्र॒जाव॑ती॒ः इति॑ प्र॒जाऽव॒ती॒ः।"** दुबारा उच्चारण किये में अवग्रह दिखाते हैं। सामवेद के पदपाट में भी समस्त पदों को दो बार लिखते हैं पर बीच में इति नहीं लगाते है जैसे—

३ २ ३ ३ १ २
हव्यदातये हव्यऽदातये।

परन्तु ऋग्वेद और अथर्व वेद के पदपाठ में शब्द को दो बार नहीं लिखते हैं। बस पदों को अलग अलग करते हुए यदि कोई समस्त पद आता है तो एक बार ही लिख कर दोनों के बीच में ऽ अवग्रह चिह्न लगा देते हैं। जैसे—**पुरः ऽहितम् ।**

जिस प्रकार पदपाठ करते हुए दो पदों के बीच में एक मात्रा काल का व्यवधान होने से तैत्तिरीय संहिता में उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित प्रचय नहीं होता है। ऐसा ऋग्वेद में नियम नहीं है। ऋग्वेद में तो पदपाठ में समस्त पदों में अवग्रह होने पर भी उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित और प्रचय हो जाता है। जैसे—

पुरः ऽहितम् के स्थान पर **पुरः ऽहितम्** हो जाता है। क्योंकि ऋग्वेद के प्रातिशाख्य का यह सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सर्वत्र उदात्त से अगले अनुदात्त को स्वरित और प्रचय होता है इसी प्रकार पदपाठ में एक मात्रा काल व्यवधान होने पर भी उदात्त से अगले अनुदात्तों को स्वरित प्रचय होता है। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २९१–२९२ पर देखो।

वेद के किसी शब्द में यदि तीन भाग हों तो अन्तिम भाग को अवग्रह से पृथक् किया जाता है परन्तु 'वीतम' 'हूतम' 'सूतम' 'गोपातम' 'रत्नधातम' 'वसुधातम' इन शब्दों में पहले पद पर अवग्रह दिखाया जावेगा। अतः रत्न धा तमः इन तीन भागों में अन्तिम तमः को अवग्रह से पृथक् नहीं किया जावेगा। प्रत्युत पहले शब्द को अवग्रह से अलग किया जावेगा। जैसे—रत्न ऽ धातमः। संस्कृत प्रमाण पृष्ठ २९२–२९३ पर देखो।

(ळकार की व्यवस्था)

दो स्वर अक्षरों के बीच में जब डकार आता है तब ड को ळकार हो जाता है। और ढकार को ळ्हकार हो जाता है।

'अग्निमीळे' यहां ईकार और एकार के बीच में डकार है अतः उसको ळकार हो गया। और साढा का साळ्हा हो जाता है। देखो ऋ० ७। ५६। २३। ऐसा ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वर्णन है।

द्वयोश्च स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः ॥

ऋग्वेद प्रातिशाख्य १। ५२॥

मन्त्रों के ऋषियों के सम्बन्ध में भी कात्यायन से महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का मतभेद

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द लिखे हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती देवता और छन्दों के सम्बन्ध में तो मतभेद रखते ही हैं। पर किस मन्त्र का कौन ऋषि है इस विषय में भी महर्षि का मतभेद है जैसे—

ऋ० ३ मण्डल, ३३ सूक्त में १३ ऋचा हैं महर्षि सम्पूर्ण सूक्त का ऋषि विश्वामित्र मानते हैं और सम्पूर्ण सूक्त का देवता नदी मानते हैं। पर कात्यायन कहता है कि—

चतुर्थी षष्ठी अष्टमी दशमी ऋचा की नदी ऋषिका है शेष ऋचाओं का ऋषि विश्वामित्र है और ४, ८, १०, ऋचा का देवता विश्वामित्र है और ६, ७ का देवता इन्द्र है। शेष का देवता नदी। सम्पूर्ण सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द है पर अन्तिम १३ वी ऋचा में अनुष्टुप् छन्द है। यह कात्यायन का मत है। पर महर्षि कहते हैं कि—

१ भुरिक् पंक्ति। ५ स्वराट् पंक्ति। ७ पंक्ति। २, १० विराट् त्रिष्टुप्। ३, ८ ११, १२ त्रिष्टुप्। ४, ६, ९ निचृत् त्रिष्टुप्। १३ उष्णिक् छन्द है छन्द भेद के कारण षड्ज आदि स्वर भी पृथक् होंगे। एक ही सूक्त ऋषि देवता और छन्द स्वर भेद का उदाहरण दिया है। इस की विस्तृत मीमांसा विश्वप्रदीप में की जावेगी।

(ब्राह्मणमीमांसा)

ऋषि ने अपने वेद भाष्य में सब मन्त्रों के आदि में यह लिखा है कि इस मन्त्र में किस विषय का उपदेश है। इसका नाम ऋषि ने मन्त्रभूमिका लिखा है। जैसे प्रथम मन्त्र के आरम्भ में ऋषि ने लिखा है कि—

"यहां प्रथम मन्त्र में अग्नि शब्द करके ईश्वर ने अपना और भौतिक अर्थ का उपदेश किया है।" यह मन्त्र का ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है मन्त्र उसका प्रयोजन ब्राह्मण कहाता है।

और यह भी ऋषि ने लिखा है कि मन्त्रभूमिका में जहां जहां 'उपदिश्यते' यह पद है वहां सर्वत्र कर्ता ईश्वर को जानो। क्योंकि वेदों द्वारा उपदेश करने वाला ईश्वर ही है कल्प कल्प के आदि में परमात्मा जीवों को उपदेश करता है। अर्थात् यह उपदेश ईश्वर से किया जा रहा है।

इस प्रकार महर्षि के वेदभाष्य में यह क्रम है कि— १-सूक्त की ऋचा संख्या। २-ऋषि। ३-देवता। ४-छन्द। ५-स्वर। ६-मन्त्रभूमिका, मन्त्रभूमिका का भाषार्थ

साथ है। ७–मन्त्र का संहिता पाठ। ८–मन्त्र का पदपाठ। ९–पदार्थ। १०–अन्वय। ११–भावार्थ। इतना संस्कृत भाग में है। फिर आर्यभाषा भाग में—१२–पदार्थान्वय-भाषा। १३–भावार्थ। महर्षि ने आरम्भ से अन्त तक एक मन्त्र के साथ दूसरे मन्त्र का सम्बन्ध दिखाया है। ये चारों वेद आदि से अन्त तक एक ग्रन्थ है संग्रह नहीं है अतः पूरे वेदों को जानने वाला एक मन्त्र का भी अर्थ कर सकता है। 'पदार्थान्वय-भाषा' शब्द का अर्थ है कि यह आर्यभाषा अन्वय की है पदों के अर्थो की सहायता अन्वय की भाषा लिखने में ली गई है अतः इसे पदार्थान्वयभाषा शब्द से ऋषि ने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में लिखा है। आगे संक्षेप में इस पदार्थान्वयभाषा शब्द को 'पदार्थ' मात्र लिखा छपा देख कर ऋषिभाष्यानभिज्ञ यह समझते हैं कि यह संस्कृत पदार्थ की आर्यभाषा है। आगे लिखने का प्रकार यह चाहिये था कि 'पदार्थ०' इस प्रकार छापते तो सन्देह न होता। यह प्रथम मन्त्र की व्याख्या और ऋषि देवता छन्द स्वर और ब्राह्मण पर विचार होकर प्रथम मन्त्र समाप्त हुआ ।।

विशेष द्रष्टव्य—इस प्रथम मन्त्र की विशिष्ट मीमांसा और अन्य भाष्यकारों की समीक्षा तथा ग्रन्थ की भूमिका आदि जिस में महर्षि के वेद भाष्य विषयक असली और नकली पत्रों पर विचार नकली पत्रों के फोटो आदि सब दिये जावेंगे। अंग्रेजी भाषा में महर्षि के वेदभाष्य की सम्पूर्ण व्याख्या पृथक् भाग में है।

यह सब प्रथम मन्त्र के अन्वय मात्र भाष्य की व्याख्या है पदार्थ और भावार्थ की व्याख्या पर पदार्थ प्रदीप, भावार्थ प्रदीप तथा ऋष्यादि पर विश्वप्रदीप लिखा जा रहा है।

शमित्योम्

२८३ पृष्ठानन्तरं पठनीयम्—

अत्राह षड्गुरुशिष्य :—

अत्राग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरित्येकोनत्वान्निचृद्गायत्री वेदितव्या।
(वेदार्थ दीपिका १।१।।)

अथायं छन्दःसामान्यनियमो ज्ञेयः प्रत्येकं छन्द एकाक्षर न्यूनत्वे निचृत् संज्ञां लभते। द्व्यक्षरन्यूनत्वे विराट् संज्ञां भजते। तथैव प्रत्येक छन्दसि एकाक्षराधिक्ये भुरिक् संज्ञा भवति। द्व्यक्षराधिक्ये च स्वराट् इति विशेष संज्ञा।
(द्र० पिङ्गल ३।५९, ६०)

ऋग्वेदस्य प्रथमेऽस्मिन् सूक्ते 'अग्निः पूर्वेभिः०' इति द्वितीया ऋक् त्रयोविंशत्यक्षरा तस्मात् सा गायत्री निचृद् गायत्री ।

'राजन्तमध्वराणां०' इत्यष्टमी ऋक् तथा 'सः नः पितेव०' इति नवमी च ऋक् द्वाविंशत्यक्षरा तत इमे विराड्गायत्रीति संज्ञां लभेते ।

एवमन्योऽपिच्छन्दःसामान्य नियमो ज्ञेयः—

त्रिपादणिष्टमध्यमा पिपीलिकामध्या । विपरीता यवमध्या ।

(पिङ्गल ३ । ५७, ५८)

अस्यायमर्थ :—यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ मध्यमोऽल्पतराक्षरः तदाऽणिष्ठमध्या सती पिपीलिकामध्या नाम भवति । अथ चाद्यन्तौ पादौ लघ्वक्षरौ मध्यमश्च बह्वक्षरः सा यवमध्या नाम भवति ।

एवमत्र द्वितीयस्यामृचि आद्यन्तौ पादावष्टाक्षरौ मध्यमश्च सप्ताक्षरः । इयं पिपीलिकामध्या गायत्री । अष्टम्यां च ऋचि आद्यन्तौ पादौ सप्ताक्षरौ मध्यमश्चाष्टाक्षरः इयं यवमध्या गायत्री । एतास्तु प्रत्येकच्छन्दसां संज्ञा । सामान्येन तु गायत्री इत्येव ।

अतएव महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती कात्यायनश्च सामान्येन गायत्री त्येवाहतुः ।

—:ꕥ:—

स्वरसंचारः

(विद्यावारिधिः श्रीमतीदेवी शास्त्री एम-ए० वेदाचार्यः)

अ॒ग्निम्—अगि धातोः, बाहुलकादस्चतेश्च नि प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । अग्र+णी=अग्निः, अग्र+इ=अग्नि, नञ्+क्नू=अग्निः एषु कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । इ+अञ्जू+णी=अग्निः, इ+दह+णी=अग्निः । इत्यत्र (फिषो ऽन्त उदात्तः) फिट् १ इत्यन्तोदात्तः । द्वितीयैकवचने ऽमि (अनुदात्तौ सुप्पितौ) शब्दानु० ३।१।४।। इत्यमनुदात्तम् । तस्य पूर्वरूपैकादेशे (एकादेश उदात्तेनोदात्तः) शब्दानु० ८।२।५।। इति इकार उदात्तः ।

ई॒ळे—ईड् धातुस्वरेणोदात्तः । उत्तमपुरुषैकवचने इट् प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । (तास्यनुदात्तेत्०) शब्दानु० ६।१।१८६।। इडनुदात्तः । 'ईळे' इति स्वतन्त्रमाद्युदात्तमाख्यातम् । यथा—**'ईळे अग्नि विपश्चितम्'** ऋ० ३।२७।२।। अत्र तु (तिङ्ङतिङः) शब्दानु० ८।१।२८।। इति निघातः ।

पु॒रोहि॑तम्—(पूर्वापरावराणा०) शब्दानु० ५।३।३९।। इत्यसि प्रत्ययः पूर्वशब्दस्य च पुर आदेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः पुरः शब्दः । (तद्धितश्चासर्वविभक्तिः) शब्दानु० १।१।३१।। इत्यव्ययसंज्ञा । धा धातोः क्तप्रत्यये (दधातेर्हि) शब्दानु० ६।४।४२।। इति दधातेः हि आदेशः । हित शब्दो ऽपि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । (पुरो ऽव्ययम्) शब्दानु० १।४।६७।। इति पुरः शब्दस्य गति संज्ञा । (कुगति प्रादयः) शब्दानु० २।२।१८।। इति समासः । तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते कर्मवाचिनि हित शब्दे (गतिरनन्तरः) शब्दानु० ६।२।४९।। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । कर्तृवाचिनि हित शब्दे तु (तत्पुरुषे तुल्यार्थ०) शब्दानु० ६।२।२।। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । (गतिरनन्तरः) इत्यत्र तु कर्मणीति वर्तते । विभक्तिस्वरः पूर्ववत् ।

य॒ज्ञस्य॑—यज् धातोः नङ् प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त एको यज्ञ शब्दः । द्वितीयः—याच्ञा शब्दात् (अर्श आदिभ्यो ऽच्) शब्दानु० ५।२।१२७।। इत्यच् प्रत्यये मत्वर्थीये चित्वादन्तोदात्तः । याच् धातोः कर्मणि नङ् प्रत्यये तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । तृतीयः—यजुः+नी+क्विप् । अत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । चतुर्थः—यजुः+उन्द्+क्तः इति समासान्तोदात्तः । न तु (तृतीया कर्मणि) इति । पञ्चमः—अजिन (अर्श आदिभ्यो ऽच्) शब्दानु० ५।२।१२७ इति चित्वादन्तोदात्तः । षष्ठः—इ+शतृ+जन्+ड=यज्ञः । कर्मधारये समासान्तोदात्तः । 'स्य' सुबनुदात्तः ।

दे॒वम्—दिव्+अच् । दा+अच् । दीप्+अच् । द्युत्+अच् । चित्वादन्तोदात्ताः । दिव्+अण्=देवः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः विभक्तिस्वरः पूर्ववत् ।

ऋ॒त्विज॑म्—ऋतौ ऋतौ यजति, ऋतौ ऋतौ इज्यते वा ऋत्विक् (गतिकारकोपपदात् कृत्) शब्दानु० ६।२।१३९।। इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ।

होता॑रम्—जुहोतेः ह्वयते वा तृन् । नित्वादाद्युदात्तः । तच्छीलादिवर्थेषु ।

र॒त्न॒धात॑मम्—रमयति जनानां मनांसि इति रत्नम् । (रमेस्त च) उणा० ३।१४।। इति न प्रत्ययः धातोः मकारस्य तकारः । (नब्विषयानिसन्तस्य) फिट् २६ इसन्तवर्जितस्य नब्विषयस्य=नपुंसकविषयस्य शब्दस्यादिरुदात्तः । इति रत्न शब्द आद्युदातः । रत्नानि दधातीति रत्नधाः समासत्वादन्तोदात्तः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण वा ऽन्तोदात्तः । अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमः । तमप् प्रत्ययः (अनुदात्तौ सुप्पितौ) शब्दानु० ३।१।४।। इति तमप् अनुदात्तः ।

प्रेस में

१—संस्कारविधि महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

२—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका महाभाष्यम्
(संस्कृत और आर्यभाषा में)

३—ब्रह्मयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

४—देवयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

५—पितृयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

६—बलिवैश्वदेवयज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

७—अतिथियज्ञ महाभाष्यम्
(आर्यभाषा में)

८—ऋग्वेदमहाभाष्यम्
(द्वितीयो भागः)

९—ऋग्वेदमहाभाष्यम्
(अंग्रेजी अनुवाद)
महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के वेदभाष्य का विस्तृत अंग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों के अनुवादों की समीक्षा सहित ।

१०—वैदिक स्वर बोधशिक्षक
(आर्यभाषा में)